तुलसी-साहित्य

की

वैचारिक-पीठिका

आचार्य
वेदान्त-देशिक
के
दर्शन
के
आलोक में

राजस्थानविश्वविद्यालय की पी एच० डी० (हिन्दी) उपाधि
के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध

प्रबन्धकर्ता
आचार्य मुक्तिनाथ (चौबे) चतुर्वेदी
एम० ए० संस्कृत, दर्शन (षट्शास्त्र) स्वर्ण
एम० ए०, पी एच० डी० हिन्दी, राजस्थानविश्वविद्यालय
त्रिस्कन्धज्योतिषसिद्धान्तमर्मज्ञ

श्री विष्णुवागीश प्रकाशन

प्रकाशक एव वितरक
श्री विष्णुवागीशप्रकाशन
आनन्दभवन शर्मा कालोनी,
रानीबाजार बीकानेर ३३४००१

वितरक—
विष्णुवागीशग्र थायतन
सरस्वतीभवन
रतसर बलिया उत्तर प्रदेश

प्रथम सस्करण १६७७

मूल्य ४७) रुपये

मुद्रक
जनसेवी प्रिन्टस
—— —— बीकानेर

लेखक की अन्य कृतियाँ

१ **काव्यनारायणम्** —हिन्दी सस्कृत साहित्य का अभिनव काव्यशास्त्र। रसवाद की नूतन स्थापना लौकिकसाहित्यरस अलौकिक साहित्यरत (भक्ति) रसवाद का नवीन दार्शनिक विवेचन १३० कारिकाओ में तथा प्रौढ व्याख्यान । (प्रकाशनाधीन)

२ **सहस्रधारा**—सस्कृत हिन्दी कविताओ का सग्रह (प्रकाशनाधीन)

३ **दुगप्रशस्ति काव्य की विष्णुप्रिया टीका** (अप्रकाशित)

४ **जन्तुविज्ञान और ज्योतिष** (अप्रकाशित)

समर्पणम्

मा मदीयञ्च निखिलञ्चेतनाचेतनात्मकं ।
स्वकैङ्कर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयं ॥
मातुर्मातृष्वसुः पुत्र ! सुकुल ! नमदेश्वर !
तव तन्त्रे कृतग्रन्थं तुभ्यमेतत् समर्पये ॥

लक्ष्मीनूपुरशिञ्जितं गुणितन्नादन्तदाकर्णयन् ।
आजिघ्रन्निगमान्तगन्धतुलसीदामोत्थितं सौरभं
काले कुत्रचिदागतङ्करुणया साधन्त्वया चाग्रतः
पश्येयम्मणिपादुके परतरम्पद्मेक्षणं दैवतम् ॥

प्रस्तावना

साहित्यशास्त्र के विविध तत्वो के ममज्ञ, सत्समालोचक, दार्शनिक विद्वान् आचाय श्री मुक्तिनाथ चतुर्वेदी द्वारा शोधप्रवध रूप मे प्रस्तुत 'तुलसी साहित्य की वैचारिक पीठिका'––आचाय वेदान्तदेशिक के दर्शन के आलोक मे' पढ कर मुझे पूर्ण प्रसन्नता हुई। हिन्दी के शोधप्रवधो मे इस रीति के शास्त्रीय गहनमथन का प्राय अभाव ही रहता ह, परन्तु श्री चतुर्वेदी ने जिस रूप मे ब्रह्म, माया, जीव और पुरुषार्थचतुष्टय के स्वरूप-निरूपण के साथ भक्ति और प्रपत्ति का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है, वह सवथा स्तुत्य एव विद्वज्जन मनोहारी है। और मेरा यह दृढनिश्चय है कि इससे वे विद्वान्, जो हिन्दी को सस्कृत के सूक्ष्म विवचनो से सम्पन्न देखने के अभिलाषी है, परम प्रसन्न होगे। इससे हिन्दी का दार्शनिक साहित्य तो समृद्ध होगा ही, उसके शोधप्रवधो का विवेचन-स्तर भी विशेष रूप से समुन्नत होगा। यह ग्रन्थरत्न दर्शन, सस्कृत और हिन्दी के प्रौढ विद्वानो के लिए परम उपादेय है।

श्रीरस्तु

विद्यावाचस्पति विद्याधर शास्त्री
प्रधान निर्देशक
हिंदी विश्वभारती, बीकानेर

सरस्वती सदन
४-३-१९७७

विषयसूची

भूमिका

अनुसधान का अथ व्यापक है। किसी सिद्धात की स्थापना व्याख्या तथा मूल्याकन को प्राय अब तक अनुसधान के क्षेत्र म समझा जाता है। सिद्धात की स्थापना स्वतत्र ग्रथा म देखी जाती है परन्तु व्याख्या और मूल्याकन दो रूप ऐसे हैं जो किसी साहित्य के अध्ययन के उपरात सम्भावित माने जाते है। व्याख्या और मूल्याकन व्यापार म भी एक ऐसा स्वरूप सामने आता है, जो सवथा नवीन प्रतीत होता है व्यावहारिक दृष्टि से इसे भी नूतन स्थापना माना जा सकता है। इसलिए सवथा नूतन न होने पर भी विश्वविद्यालयो द्वारा लिखाये गये शोध प्रबध व्यावहारिक दृष्टि म मौलिक माने जाते है। यद्यपि इनम अधिकाश तथ्य अन्य पुस्तको स परिगृहीत होते हैं तथापि ऐसे तथ्यो का अभाव भी नहीं होता जो सवथा मौलिक हो।

गोस्वामी तुलसीदास पर गवेषणात्मक लेखो स तीन प्रकार सुलभ हैं—फुटकर ग्रथाकार और क्रमबद्ध लेखमाला। ग्रथो म अधिकाश विभिन्न विश्व विद्यालयो द्वारा डी० फिल० या डी० लिट० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबध हैं जो ऐतिहासिक साहित्यिक और दार्शनिक भेद म तीन प्रकार के हैं। ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रबधो म भी दार्शनिक मत प्रतिष्ठापित हैं। शेष प्रकारो म दर्शन का वचस्व अधिक है। दार्शनिक दृष्टि से इन प्रबधो को दो भागो म पृथक किया जा सकता है—अद्वैतविचारपरक तथा विशिष्टाद्वैतपरक परन्तु कुछ ऐसे भी है जिनमे विचारो की दृष्टि स विशिष्टाद्वैत एव अद्वैत का सम्मिलित रूप देखा गया है। कुछ विद्वानो का मत है कि वस्तुत उनके साहित्य म शैव वैष्णव और शाक्त दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्तो का सुन्दर सकलन है।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपने डा० लिट० के शोध प्रबध म यह स्थापना की है कि अध्यात्मरामायण का प्रभाव तुलसी साहित्य के अधिकाश भाग पर है। डा० उदयभानु सिंह ने तुलसीदर्शनमीमासा नामक शोध ग्रथ म मात्र पुराणो को सनातन पथ घोषित कर तुलसी पर पुराणो का प्रभाव सिद्ध किया है। डा० राजपति दीक्षित डा० जे० एन० कारपेन्टर डा० मलिक मुहम्मद डा० श्याम सुन्दर दास प्रभृति विद्वानो ने विशिष्टाद्वैत का (तिगले) प्रभाव तुलसी साहित्य म

देया है परन्तु सीता को जीव या प्रकृति बता कर भक्ति और प्रपत्ति का विवेचन न कर अपना काम अधूरा ही छोड़ दिया है। कतिपय ऐसे भी स्थल मानस में हैं जिनमे जगत् की अनिर्वचनीयता सिद्ध होती है जिसके बल पर तुलसी के सम्पूर्ण सिद्धांत का शांकर मतानुयायी तथा भक्ति पर भक्तिरसायन की छाप सिद्ध की जाती है विशिष्टाद्वैत के समर्थकों के द्वारा उपेक्षित रहे हैं। संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान् महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी तथा श्री १०८ करपात्री स्वामी आदि विद्वानों के द्वारा यह दावा किया जाता रहा है कि मानस स्मार्त सम्प्रदाय का हिन्दी ग्रन्थ है स्मार्त केवल अद्वैतसम्प्रदाय में ही है। स्मार्त शब्द को लेकर हिन्दी के गण्य मान्य मनीषियों ने गोस्वामी तुलसीदास को स्मार्त वैष्णव घोषित कर संस्कृत के पण्डितों के नेत्र और मुँह दोनों बन्द कर दिये हैं। वस्तुत सनातनधर्म के निबंधों में भी स्मार्त वैष्णव शब्द नहीं मिलता जो मुगलकाल और उससे परवर्ती हैं।

अब-तक के शोध प्रबंधों में वैचारिक दृष्टि से गृहस्थाश्रम की उपेक्षा की गयी है, उसके प्रमुख उपादान धर्म और काम पर कुछ भी नहीं लिखा गया है, केवल राज्यव्यवस्था पर अतिसंक्षिप्त विचार आये हैं। ब्रह्म जीव और माया पर जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे एक पक्षी होकर रह गये हैं कारण कि सम्भाव्य अन्य सिद्धांतों से तुलना कर उनका प्रतिकार नहीं किया गया है जिससे पाठक भ्रम में पड़ जाता है, इसी कारण कुछ शोधकर्ता पुष्टि मार्ग, शैव दर्शन एवं पुराणों का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयास करते पाये गये हैं वह बहुत गम्भीर नहीं कहा जा सकता केवल दो या तीन प्रबंध (डा० बलदेव मिश्र डा० राजपति दीक्षित और डा० उदयभानु सिंह के हैं) वैचारिक दृष्टि से प्रौढ़ कहे जा सकते हैं। डा० रामदत्त भारद्वाज का प्रयास सुंदर है लेकिन सिद्धांत अस्थिर है। डा० श्याम कुमार का लघुकाय शोधप्रबंध भी गम्भीर है परन्तु मानस के शिवपार्वती संवाद का अधूरा अंश लिखा कर उसमें पाठकों को छलने का प्रयत्न किया गया है विनयपत्रिका को शुद्ध शांकरमत का केवल एक दो पदों के बल पर सिद्ध किया गया है, प्रथम और अंतिम पद को बड़ी ही चातुरी से छोड़ दिया गया है। वहाँ अध्यासवाद की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा तो हुई है लेकिन तुलसी ने स्वयं अध्यास की आलोचना क्यों की है इसका उत्तर नहीं दिया गया है। इसमें पाण्डित्य है किन्तु दृष्टि साग्रह प्रतीत होती है। डा० सत्यनारायण शर्मा ने केवल भक्ति पर शोध करके भक्ति प्रपत्ति का स्पर्श ही किया है।

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने शांकर मत की स्थापना अपनी प्रबल प्रतिभा से की अवश्य है परन्तु उन्हें अपने पर विश्वास नहीं है क्योंकि वे कहते हैं— पाठक देखेंगे कि यहाँ विद्या शब्द में माया का वही स्वरूप बतलाया गया है जो वल्लभाचार्य की माया का दूसरा रूप है और अविद्या शब्द में

उनका कहा हुआ तीसरा रूप ही श्री गोस्वामी जी ने बतलाया है।" इसके पश्चात् उन्हें संतोष नहीं होता तो आगमशास्त्र की शरण मे जाते हैं। आगम सहस्रों की संख्या में हैं। वैष्णव आगम तथा लक्ष्मी आगम को सर्वथा भूल कर वामतंत्र के आगमों पर अपनी निष्पक्ष बुद्धि केन्द्रित कर कहते हैं— आगम शास्त्रों मे माया उत्पन्न करनेवाली शक्ति महामाया या शुद्ध विद्या शब्द से कही गयी है। यह शब्द श्री गोस्वामी जी ने आगमशास्त्र से ही लिया है ऐसा प्रतीत होता है।' पृष्ठ ७८— 'शन अनुचि तन'।

म० म० गिरिधर शर्मा जी ने वल्लभाचार्य की माया का प्रतिबिम्ब तुलसी की माया पर देखकर भी शंकराचार्य की माया से ही "गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार' नामक निबंध में उनका सम्बन्ध सिद्ध किया है— गोस्वामी जी ने भी ब्रह्म और माया का जलवीचि की तरह सम्बन्ध मान कर और भेदाभेद के द्वारा अनिर्वचनीयता मान कर इस सिद्धांत का स्वीकार किया अतः श्री गोस्वामी जी का यह दोहा स्पष्ट ही शांकर वेदांत का अनुयायी है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। आगे और स्पष्ट करते हैं— नाम रूप को उपाधि कहा जाता है इसलिए यह उपाधिवाद शांकर मत का खास सारभूतवाद है जिसे यहाँ गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है अतः श्री गोस्वामी जी का शांकर मतानुयायी होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी के मत का परीक्षण प्रस्तुत शोधप्रबंध में ब्रह्म जीव माया और भक्ति के प्रकरण में तथा उपसंहार में किंचित विस्तार से किया गया है यहाँ इतना ही निवेदन है कि शांकर और वल्लभ के मायावाद परस्पर विरोधी हैं रामानुज और वल्लभ की माया समान-धर्मा हैं इसे प्रश्नोत्तरसाहस्री सिद्धान्तमुक्तावली' ब्रह्मवाद' और 'तत्त्वदीप निबंध' में स्वीकार किया गया है (यथार्तोहि[1] ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं नष्टं प्रायमेव। ब्रह्मणोर्निर्विशेषत्वमिति धर्मोस्ति वा न वा। द्विधापि सविशेषत्वमतद्यागतद्यागजम् इति न्यायसिद्धाजनोक्तिरेव जयश्रीशालिनी स्यात्।) सगुण निर्गुण के विषय में भी वैष्णव शैव एक मत हैं अद्वैतवादी पृथक। यथा सगुण निर्गुणशब्दार्थस्य प्रकारद्वयं शास्त्रे समुपलभ्यते एकमद्वैतरीत्या अन्यत्शैववैष्णवरीत्या। अद्वैति प्रकारे प्राकृतगुणयुक्तत्वं सगुणशब्दार्थ सर्वथा गुणधर्मादिरहितत्वं निर्गुणशब्दार्थ। वैष्णव शैव प्रकारे तु अप्राकृतदिव्यगुणधर्मयुक्तत्वं सगुणशब्दार्थ प्राकृतगुणराहित्यं च निर्गुणशब्दार्थ। एततप्रकारद्वये कस्य श्रुतिसम्मतत्वं कस्य श्रुतिसिद्धत्वं एतन्नैव विमृश्यम्।[2] ऐसी परिस्थिति में यह स्थापना कि तुलसीदास की माया शांकर

---

१ प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचन पृष्ठ ५३—निर्णयसागर प्रेस।
२ ब्रह्मवाद पृष्ठ १३—निर्णयसागर प्रेस

ग्रौर वल्लभ दोनो के अनुसार है व्याघातदोष युक्त है। शकर माया को असत् मानते हैं, वल्लभ सत्। शकर के यहाँ सगुण मायावच्छिन्न[1] या माया म फँसा है, वल्लभ के यहाँ अप्राकृत मायारहित दिव्यमगलविग्रह सगुण है। इसमें सभी वैष्णव सहमत है। किसी अद्वैत के पोषक का नाम रूप हुइ ईस उपाधी' युक्त पद म शाकरमत रखना उचित नहीं कारण कि उपाधि का अर्थ माया परिच्छिन्नता नहीं है, गोस्वामी जी जीव को ही परिच्छिन्न मानते हैं, ईश्वर को नहीं। ईश्वर को परिच्छिन्न माननेवाला को उन्होंने पाखण्डी कहा है। उपाधि का अर्थ यहाँ सापेक्ष दृष्टि से ब्रह्म की विशेषता ही है।

अब-तक के शोधकर्ताओंके द्वारा चाहे वे विश्वविद्यालय स सम्बद्ध हो या स्वतत्र, जो विषय अस्पष्ट रहा है या जिस विषय को उन्होंने विवादास्पद बना कर अनिर्णीत छोड दिया है उसे ग्रहण कर समाधान करने का प्रयास किया गया है। यह दावा नहीं है कि सब कुछ नूतन प्रयास है। अनेक विद्वानो सन्तो महन्तो के सम्पर्क से जो विचार मिले हैं उनकी परीक्षा कर तुलसी साहित्य का अध्ययन किया गया है। अध्ययन से जो फल मिला है उसे वेदान्तदर्शन के परिप्रेक्ष्य म सन्तुलित किया गया है। साम्प्रदायिक रामानुजी रामानन्दी मेरे मत स कथमपि सहमत नहीं होंगे किन्तु तटस्थ अद्वैतवादी लोगो की आस्था भी न डगमगायगी इसम मुझे सन्देह है। टैगोर की उक्ति "एकला चला रे अभागे' को रटते हुए प्रयास करने के जो फल हैं उन्हें मैंने निम्नलिखित सोपानो म सुनियोजित किये हैं।

प्रथम सोपान में वेदान्तदर्शन का काल निर्धारण जन्म स्थान माता पिता गुरु प्राप्ति परिचय, शिक्षा विवाह धर्माचार्य के सिंहासन पर आरोहण शास्त्रार्थ, यात्राएँ ग्रन्थ निर्माण आदि का निदर्शन है। उनके बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के आकलन के अतिरिक्त उनकी कृतियों का परिचय दिया गया है जो शोध की दृष्टि स उपयोगी हैं। शोध की दृष्टि से यह अध्याय निर्णीत प्राय है। इनके जीवन चरित्र एव व्यक्तित्व के प्रभाव को सुस्पष्ट करने म ही उसकी उपयोगिता है। उसी अध्याय म तुलसीदास के आविर्भाव कालीन परिस्थितियों का ऐतिहासिक चित्रण है तुलसी का काल निर्धारण कर गोस्वामी शब्द का रहस्य भी उद्घाटित किया गया है। परिस्थितियों एव परम्पराओं का प्रयोग गो० तुलसीदास के जीवन म कहाँ तक पडा इसका सकेतमात्र किया गया है। इसी प्रकरण म उनकी दस प्रमुख कृतियों का परिचय देकर वेदान्तदर्शन स

---

[1] निर्गुण ही माया के सम्बन्ध से माया के गुणो स गुणवान् होकर सगुण हो जाता है। पृष्ठ ८ दर्शन अनुचिन्तन। —म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

तुलसी के व्यक्तित्व की तुलना करते हुए यह निष्कर्ष प्राप्त किया गया है कि वेदान्तदेशिक के आदर्श उदात्त विरक्त जीवन का प्रभाव तुलसी पर बहुत दूर तक है।

द्वितीय सोपान में वेदान्तदेशिक के उन सिद्धान्तों का विवेचन है, जो तुलसीदास के मानस, विनयपत्रिका आदिक ग्रन्थों को प्रभावित करते हैं। जगत् को समझाने के लिए ख्यातिवाद का समझना भारतीय दर्शन में नितान्त आवश्यक है। अब-तक के शोधकर्ता प्राय भ्रान्तिवशात् मिथ्या जगत् को अद्वैत वाद की दृष्टि से देखते हैं। असत्ख्याति और विवेकख्याति का सरल भाषा में स्फोरण कर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि केवल अनिर्वचनीयख्यातिवादी अद्वैतवेदान्त में ही जगत् मिथ्या न होकर असद्ख्यातियादी रामानुज वेदान्त में भी यह मिथ्या है। अख्याति और यथार्थख्यातिवाद की दृष्टि से भी वैसा ही है। कारण कि दृष्टि से जगत् भले ही सत्य है कार्य दृष्टि से नहीं। कार्य दृष्टि से वह हेय तुच्छ मिथ्या नश्वर, परिवर्तनशील उत्पत्तिविनाशवाला है। प्रमाण प्रमेयों की व्याख्या के पश्चात् पुरुषार्थचतुष्टय, भक्ति और प्रपत्ति का दार्शनिक अध्ययन है। संक्षेप में ब्रह्म जीव, प्रकृति का स्वरूप, स्वभाव तथा परस्पर सम्बन्ध बता कर सीता से प्रकृति को भिन्न सिद्ध किया गया है। सीता को ब्रह्मस्वरूप बता कर प्रकृति का उसका स्वभाव बताया गया है। आत्मा और परमात्मा का तुलनात्मक विवेचन है।

तृतीय सोपान में ब्रह्म का विवेचन वेदान्तदेशिक के आधार पर करते हुए तुलसी के मत से ब्रह्म का निरूपण किया गया है। यहाँ ब्रह्म की विभूति और शक्ति के अतिरिक्त उसके अवतारों और धामों का भी विस्तृत विवेचन है। अद्वैत और वैष्णव वेदान्तों के अनुसार निर्णय कृत निर्गुण-सगुण और निराकार साकार की व्याख्या कर ईश्वर और ब्रह्म में तादात्म्य स्थापित किया गया है। विशिष्टाद्वैत तथा तुलसीदास के मत से ईश्वर को माया के सम्पर्क से शून्य बताया गया है जबकि अद्वैतवेदान्त ईश्वर को माया से उपहित मानता है। तुलसी के राम वेदान्तदेशिक के रघुवीर से कहाँ तक मिलते हैं स्पष्ट कर लक्ष्मी और सीता में अभेद किया गया है। यद्यपि सीता को ब्रह्म की आह्लादिनी शक्ति बताया गया है, तथापि शेष देवसमुदाय को जीवकोटि में ही रखा गया है। लोकाचार्य तथा रामानन्दाचार्य लक्ष्मी या सीता को नित्य मुक्त जीव ही मानते हैं। माधव की दृष्टि से उसका महत्त्व अधिक है।

चतुर्थ सोपान में वेदान्तदेशिक तथा तुलसी के अनुसार जीवात्मा का स्वरूप बताकर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। मोक्ष और कैवल्य का भेद स्पष्ट कर अद्वैत वेदान्त से तुलसी का वैमत्य दिखाया गया है। डा०

माताप्रसाद गुप्त तथा डा० बलभद्रप्रसाद मिश्र की जीव विषयक स्थापनाओं की तात्विक परीक्षा कर सिद्ध किया गया है कि जीव ईश्वर या ब्रह्म से भिन्न है, सिद्ध भी भक्ति करता है। निष्कर्षतः स्वीकार किया गया है कि तुलसी का जीव विचार वेदान्तदेशिक के समान है।

पंचम सोपान में प्रकृति और माया का निरूपण है। सांख्य और अद्वैत वेदान्त से पृथक होकर वेदान्तदर्शिक और गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार प्रकृति को भगवान् का शरीर बताते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि उनके मत से मन को ही बुद्धि, चित्त और मेधा कहा गया है और अहंकार को बुद्धि की वृत्ति। तत्त्व की दृष्टि से सांख्य की संख्या स्वीकृत है परन्तु वेदान्त का पंचीकरण तथा पंचकोशवाद उपेक्षित भी नहीं है। विनयपत्रिका, मानस, दोहावली, वैराग्य संदीपनी आदि रचनाओं के आधार पर सिद्ध किया गया है कि तुलसी की माया का शंकराचार्य की माया से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, पर वह वैष्णवों की माया है जो रामानुज से वल्लभ तक एक ही प्रकार की है।

षष्ठ सोपान में पुरुषार्थ चतुष्टय के विवेचन में यह सिद्ध किया गया है कि तुलसीदास जी श्रौत थे। वैदिक धर्म ही उनका प्रिय धर्म था, जिसका प्रसार उन्होंने मानस के माध्यम से करने की चेष्टा की थी। उनके वाक्यों में गृहस्थ आश्रम ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, संन्यास या वानप्रस्थ नहीं। अर्थ और काम का दार्शनिक विवेचन कर साम्यवादी तथा आदर्शवादी (प्लेटोवाद) विचारों का विरोध किया गया है। मोक्ष का तुलनात्मक अध्ययन कर यह सिद्ध कर दिया है कि उसका उत्कृष्ट रूप सायुज्य है, जहाँ भक्ति और प्रपत्ति परा रूप में हैं, कैवल्यस्थान परमपद से अवर है।

सप्तम सोपान में भक्ति का दार्शनिक विवेचन है। विभिन्न उपनिषदों, भक्तिसूत्रों, भक्तिरसायन आदि के अतिरिक्त परमपद सोपान, तत्त्वमुक्ताकलाप एवं पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों का समालोचनात्मक अध्ययन है। मानस और विनयपत्रिका आदि में पुष्टिमार्ग और भक्तिरसायन का अभाव दिखा कर प्रीतिरूपाधी का प्रबल युक्तियों के आधार पर समर्थन किया गया है। भक्ति और प्रपत्ति का आयाम उनके साहित्य में कहाँ तक है बताया गया है। लोकरस और मानसरस का दार्शनिक विवेचन कर मानसनवरसरुचिरामभक्ति को यहाँ स्थापित किया गया है।

आभार प्रदर्शन

सर्वप्रथम मैं अपने प्रस्तुत शोध कार्य के प्रेरक एवं मार्गदर्शक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, इनके अनुज पं० नवदेश्वर चतुर्वेदी तथा डा० विश्वम्भर-

नाथ उपाध्याय के प्रति विशेष आभारी हूँ, जिनकी सौजन्यता और उदारता मेरे लिए अद्यावधि पर्यन्त भी प्रवर्तमान है। राष्ट्रपति सम्मानित विद्यावाचस्पति विद्याधर शास्त्री आचार्य काशीनाथ चन्द्रमौलि आचार्य अनन्तदेव त्रिपाठी डा० कन्हैयालाल सहल प्रो० पतराम गौड आदि विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ, जिनका सहयोग परोक्षापरोक्ष रूप में सदैव बना रहा है। श्री रंगमन्दिर (वृन्दावन) के महन्त के निकट सम्बन्धी श्री राघवन् आयङ्गर भी कृतज्ञता के पात्र हैं, जिन्होंने दक्षिणी भारत की यात्रा में अपने परिचितों और मित्रों का लाभ उठाने की सुविधा दी।

इसके अतिरिक्त अनेक मन्दिरों मठों और आचार्यों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनमें १०८ सोमेश्वरानन्द भारती बीकानेर श्री १०८ निम्बार्काचार्य महाराज श्री १०८ राघवाचार्य महाराज श्री शठकोपाचार्य पुष्कर, श्री १०८ भगवानदास जी महाराज वंशीघाट वृन्दावन श्री १०८ अहोबलाचार्य महाराज वाराणसी श्री १०८ सीतारामाचार्य प्रयाग, श्री १०८ प्र० म० अरणुन्नलाचार्य विष्णुकाञ्ची बीकानेर के दाऊजी मन्दिर के पुष्टिमार्गी आचार्य तथा दक्षिणी भारत में उत्तरार्धी मठों के महन्त गए हैं। अक्षरनोजक श्री बजरंग स्वामी और श्री सुलेमान गौरी भी धन्यवादार्ह हैं।

तुलसीमानसमन्दिर, बीकानेर के अधिकारी श्री बिट्ठलदास कोठारी तथा ब्रह्मचर्याश्रम के अध्यक्ष ठा० हनुमन्तसिंह तँवर भी अपनी सुजनता और सहयोग कर्तृता के कारण कृतज्ञतार्ह हैं। इसके अतिरिक्त उन समस्त गुरुओं के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनका छोटा सा ज्ञान कण भी मेरे लिए महत्वाधार रूप बना।

परम वैष्णव हरिप्रपन्न श्री गोविन्द बाबू बांगड (डीडवाना) अपनी विद्वत्सम्मानशीलता के कारण साधुवादार्ह हैं।

प्रकाशकीय

इस पुस्तक के प्रकाशन में अनेक व्यक्तियों का प्रोत्साहन मिला जिनमें हिन्दी साहित्य के अनन्य उपासक स्व० श्री शम्भूदयाल सक्सेना प्रो० कृष्णभगवान् अग्रवाल, डा० रमाकुन्तल मेघ डा० रामबला उपाध्याय, प्रो० स० वि० रावत श्रीमती उषा और प्रो० माधवानन्द तिवारी उल्लेखनीय हैं। शीघ्रता में अनेक अशुद्धियां शेष रह गई हैं, आशा है उदार पाठक संलग्न लघु शोधनिका तथा अपनी बुद्धि की सहायता से उन्हें ठीक कर लेंगे।

विदुषां वशंवद

युक्तिनाथ चतुर्वेदी

श्री ।

प्रथम सोपान

वेदान्तदेशिक और तुलसी का व्यक्तित्वकृतित्व ।

वेदान्तदेशिक का जीवनवृत्त

श्रीरामानुजवैष्णवसम्प्रदाय के श्रीवैष्णववडगलशाखा की गुरुपरम्परा के अनुसार वेदान्तमहादेशिक का जन्म[1] कलि वर्ष ४३७१ शकाब्द ११६० तथा ईसा के जन्म से १२६८ वर्ष पश्चात् हुआ था । सर्वदर्शनसंग्रह नामक ग्रन्थ के रचयिता माधवाचार्य द्वारा तत्त्वमुक्ताकलाप[3] के कतिपय उद्धरणों, तथा सुस्पष्टत वेंकटनाथ नाम को अपनी कृति में अंकित करने के कारण निस्सन्देह इस साक्ष्य से वेदान्तदेशिक का यह जन्मकालस्वीकार किया जा सकता है। माधवाचार्य का आविर्भाव सन् १३५० ईस्वी में हुआ था । अतएव वेदान्तदेशिक के विविध नामों से वैष्णव या तदितर अन्य व्यक्ति के नाम से भ्रम नहीं हो सकता ।[4] वेदान्तदेशिक के ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर हम इस निश्चय पर निर्भ्रान्तरूप से पहुँचते हैं कि ग्रन्थस्थ वर्णित सामग्री खिलजी और तुगलक वंशों से सम्बन्धित है तथा तत्कालीन दिल्ली सम्राट की गतिविधियां भी उन्हें भली भांति ज्ञात थी। उनका नाटक संकल्पसूर्योदय तथा काञ्चीपुर के राजा गोपालदेवद्वारा स्थापित चन्द्रमौलीश्वर मंदिर पर उत्कीर्ण शकाब्द १२०७ के अभिलेख से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है । Dr Hultzsch द्वारा इस तिथि का विरोध केवल इस आधार पर कि शतायु होना सम्भव नहीं, उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि शतवार्षिक जीवन प्रायः सर्वत्र देखा ही जाता है ।

आचार्यवेंकटनाथ का जन्मस्थान वर्तमान काञ्चीपुर के एक भाग में था, जिसे तुप्पिल भी कहा जाता है। इनके पिता का नाम अनन्त सूरी था जो विश्वामित्रगोत्रज सोमयाजी पुण्डरीकाक्ष के पुत्र थे जिनकी विद्वत्ता की ख्याति उस समय दिग्दिगन्त में विस्तृत थी । इनकी माता का नाम तोतारम्मा था जो विशिष्टाद्वैत के उद्भट विद्वान् एवं आचार्य आत्रेय रामानुज की भगिनी थी । पितृकुल और मातृकुल, विद्या तथा आचार्यत्व के लिए प्रसिद्ध था । उनके मामा श्रीभाष्य एवं रहस्यविद्या के आचार्य थे, किन्तु पिता तथा पितामह भाष्याचार्य के सिंहासन पर आरूढ थे ।

गरुडपुराण में लिखा हुआ है कि रामानुजाचार्य शेष के अवतार विष्णुचित्त स्वामी, विजयावतार, वरदाचार्य सुभद्रावतार कार्येयरामानुज गरुडावतार तथा श्रीवेदान्तदेशिक विष्णुघण्टावतार हैं। सम्भवतः श्रीवैष्णवाचार्यों के अवतारों की कल्पना वैष्णव धर्म के प्रसार का कार्य सफलता के साथ करने के कारण उनके प्रति कृतज्ञता बताने के लिए की गई है। वेदान्तदेशिक ने द्रमिण्डल में श्रीवैष्णव दर्शन का प्रसार कर जनजन के हृदय में विष्णुभक्ति की पवित्रतम धारा बहाकर अपने समकालीन समस्त विद्वानों में विजयदुन्दुभी बजाकर निस्सन्देह अपने को भगवान् श्री शैलाधिपति वेंकटेश्वर का घण्टावतार सिद्ध किया है। आज भी उक्त मंदिर में घंटा[8] नहीं लटकाया जाता कारण कि देशिकरूपी घंटा ने अपनी घायनाहट सर्वदा के लिए अमर कर दी थी और यह विश्वास श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के दोनों शाखाओं (वडगले और तिंगले) के आचार्यों में उनके महत्त्व का प्रतिपादन करता है।

परम्परा ने उन्हें बहुत दिया था। विद्यानुराग भगवान् की निर्भरा भक्ति तथा एकसंकल्प उन्हें कुल (पितमात) ने दिया था। अपने जीवन की सूर्योदयवेला में उन्होंने इन्हीं वस्तुओं का परिवर्धन किया।

बाल्यकाल

जन्म के पश्चात् उनके पिता ने वैदिक विधि से कुलपरम्परानुसार जातकर्म नामकरण चूडाकर्म कर्णवेध उपनयनादि संस्कार कर उनके मामा का गुरु नियुक्त किया। मामा इसाम्बुद का अपने भागिनेय एवं शिष्य वेंकटनाथ पर अपार स्नेह था। एक दिन मामा के साथ बालक वेंकटनाथ वरदाचार्य की कालक्षेपगोष्ठी में पहुँचे। गोष्ठी प्रारम्भ हो चुकी थी। दोनों उचित स्थान पर बैठ गये व्याख्यान के पश्चात् आचार्य ने इन्हें आशीर्वाद दिया— वेदान्त की प्रतिष्ठा और अवैदिक मतमतान्तरों का निराकरण कर तुम वैदिक समाज के मान्य और कल्याण के पात्र बनोगे।' वास्तव में यह[9] प्रतिष्ठापितवेदान्त प्रतिक्षिप्तबहिर्मत।

भूयास्त्रैविद्यमान्यस्त्वं भूरिकल्याणभाजनम्॥

भविष्य वाणी थी जो आचार्य के मुख से निःसृत हुई।

अध्ययन

सकलसूर्योदय[11] के उल्लेखानुसार श्रीदेशिक ने २० वर्ष तक विधिवत् विद्याध्ययन धारण किया था। यह काल १२७८ ईस्वी से १२८९ ईस्वी तक ठहरता है। रामानुजदर्शन का प्रचार उनके जीवन का ध्येय था। इस कार्य का सम्पादन योजनाबद्ध होकर उनके द्वारा किया गया। काञ्चीवरपीठ के धर्माधिपति सात्त्वेयरामानुज वृद्ध होने जा रहे थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनके भागिनेय वेंकटनाथ शीघ्र विद्याप्राप्त कर पीठासीन पद पर प्रतिष्ठित हो। अपने गुरु के दर्शितार्थ अपनी महत्त्वाकांक्षा दोनों का अनुगमन कर वे थोड़े समय में ही तत्कालीन

 [सुप्रभातिकाबतागिरौतिरि']

समस्त विद्याओं के पारगत हो गये। उनकी मेधा विलक्षण थी। उन्हें[12] कोष या अन्य किसी ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं पडती थी। व्याख्यान देते समय या पुस्तक निर्माण करते समय वे केवल अपनी स्मृति का प्रयोग करते थे। उनकी बुद्धि उर्वरा थी। उनकी शास्त्रीय व्याख्या[13] मौलिक होती थी। पिष्टपेषण करना उन्हें प्रिय नही था। शास्त्रार्थ एवं वाद मे उनकी विशेष अभिरुचि थी। उन्होंने जयार्थ वाद मे प्रवेश कर भी छल वितडा एवं जाति रूपी असदुत्तरा का प्रयोग कभी नही किया।

वेदान्तदेशिक ने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन स्वेच्छा एवं सुरुचि सहित सफलता के साथ किया। सांख्य योग न्याय वशेषिक मीमांसा तथा नव्य न्याय का ही नही वेदान्त का अध्ययन उन्होंने विशद रूप से किया। उन्होंने न्याय के ग्रन्थो मे गौतम का न्यायसूत्र वात्स्यायन का न्याय भाष्य उद्योतकर का न्यायवार्तिक वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका उदयन की न्यायकुसुमाञ्जलि भासर्वज्ञ का न्यायसारभूषण तथा शंकर मिश्र का उपस्कार और मीमांसाचार्यों (जैमिनी शबरस्वामी, प्रभाकर शालिकनाथ, कुमारिल, मण्डन पार्थसारथी मिश्र) के ग्रन्थों का अध्ययन भी सूक्ष्मता से किया था। रामानुजाचार्य द्वारा लिखित श्रीभाष्य का गहन अध्ययन भी बडी तत्परता के साथ उन्होंने अपने गुरु की देख रेख म किया था। डाक्टर सत्यव्रत के अनुसार -- There was nothing that he did not know in the Sri Bhasya and of the Sri Bhasya[13]

उन्होंने आस्तिक दर्शनों से भिन्न चार्वाक[14] जैन बौद्ध दर्शनों का अध्ययन भी पाण्डित्य के साथ किया था। उनकी परीक्षा बडी ही गम्भीरता के साथ उनके ग्रन्थो म की गयी है।

जीवन के उपस्कार म ही नाथमुनि द्वारा लिखित न्यायतत्त्व, यामुनमुनि द्वारा लिखित सिद्धित्रय, पराशर भट्ट द्वारा लिखित तत्त्वरत्नाकर आत्रेय वरदाचार्य की कृति तत्त्वसार आत्रेय रामानुज की कृति न्यायकुलिश और वरदविष्णु मिश्र की कृति तथा नारायणार्य की कृतियो का भी उन्होंने सम्यक् अध्ययन किया था। व्याकरण दर्शन का सूक्ष्मज्ञान भी उन्हें था, क्योंकि स्फोटवाद का खण्डन बडी ही कुशलता से उन्होंने किया है।

उन्हें काव्य साहित्य का ज्ञान सम्यक् था[15]। कालिदास की कृतियो की छाप उनकी काव्यकृतियो पर देखा जा सकती है। कालिदास की वदर्भी रीति उन्हें प्रिय थी। उनका यादवाभ्युदय इसका सम्पुष्ट प्रमाण है। भवभूति भी उनके प्रिय कवि थे। उनकी करुणा उन्हें विशेष प्रिय थी। भवभूति का विप्रलम्भ का प्रभाव भी उनके काव्य पर निर्भ्रान्त रूप से पडा था। समस्यापूर्ति तथा श्लेषकाव्यरचना मे उनकी विशेष अभिरुचि थी।

संस्कृत वाङ्मय के अतिरिक्त, तमिल साहित्य का मार्मिक ज्ञान भी उन्हें था। आलवारों के साहित्य को कण्ठाग्र कर, उनके रहस्य का प्रकाशन ही नहीं, समस्त भावों को (विशेषरूप से नामालवार के साहित्य को) संस्कृत भाषा में निबद्ध करना, उनके तमिलसंस्कृतज्ञान का परिचायक है।

दर्शन के कठिन तर्क महाविद्यानुमान[10] जो कुलार्क पण्डित द्वारा प्रतिष्ठित था, उन्हें ज्ञात था। वादीन्द्र के महाविद्याविजम्भण को भी उन्होंने बड़ी तत्परता से अध्ययन किया था। प्राकृतभाषा के सभी भेदों पर उनका अधिकार था।

वेदान्तदेशिक के स्वरचित ग्रन्थों के साक्ष्य के आधार पर उनकी शिक्षा में उनके पिता तथा मामा के अतिरिक्त वात्स्यवरदाचार्य का प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है। तीनों की मेधाएँ वेदान्तदेशिक के प्रशिक्षण में विशेष योग देती रहीं। यह ध्यातव्य है कि उक्त आचार्य अपने युग के धुरंधर आचार्य एवं विद्वान् थे। उनके प्रति भी देशिक ने अपनी कृतियों[10] में मुक्त कण्ठ से कृतज्ञताज्ञापन किया है।

आदर्श गृहमेधिन्

विद्याव्रत उभय स्नातक बनकर[17] अपनी शिक्षा-दीक्षा के पश्चात् विवाहाग्नि के साथ 'तिरुमगाई का धाम' कर भी वैदिक घोष के बीच ग्रहण किया। तिरुमगाई स्वशीलसम्पन्न पत्नी थी। उनका पिता का कुल भी वैष्णवाचार्य तथा विद्या के लिए विख्यात था। दोनों का वैवाहिक जीवन सुखी था। उनके परस्पर त्याग मय प्रेम की परिणति, पुत्ररत्न के जन्म में हुई जबकि वेदान्तदेशिक की आयु ४६ वर्ष मात्र थी। पुत्र का नाम वरदाचार्य रखा गया जो भविष्य में अपने पिता के समान यशस्वी आचार्य हुए तथा जिन्होंने वडगल सम्प्रदाय के जन्म एवं विकास में विशेष कार्य किए।

अभिषेक

अपने मामा आत्रेय रामानुज के परमपद प्रस्थान के पश्चात् सन् १२६५ ई० में कांजीवरम् के श्रीवैष्णव भाष्याचार्यपीठ पर भी वेदान्तदेशिक अभिषिक्त हुए। उन्होंने अपने नये दायित्व को स्वीकार कर श्रीवैष्णव आचार और दर्शन का प्रचार एवं प्रशिक्षण तत्परता के साथ आरम्भ किया। मामा के जीवन काल में ही श्रीदेशिक स्वामी ने गरुड़मन्त्र की सिद्धि प्राप्त की थी।

तिरुवाहीन्द्रपुर में प्रवास

वेदान्तदेशिक के विचार वेदनिष्ठ थे। उनके अनुयायियों की संख्या कांजीवरम् में क्रमशः विवर्धित होने लगी। रूढ़िवादी अन्धविश्वासी तिंगलैसम्प्रदाय के वैष्णवों के मन में भय आतंक एवं ईर्ष्या ने स्थान बना लिया। सम्भवतः दुःखी होकर वेदान्तदेशिक ने अपना दूसरा स्थान तिरुवाहीन्द्रपुर में बनाया। सम्प्रदायविदों के अनुसार गरुड़ की उपासना के लिए उन्होंने ऐसा किया न कि किसी भय या आतंक

मे पराभूत होकर। उक्त स्थान पर चोलराज की राजधानी थी। कांची की अपेक्षा वहाँ शान्त वातावरण था।

तिरुवाहीन्द्रपुर में श्री देशिक साधना में लीन रहते हुए समीपवर्ती श्री वैष्णव छात्रों की ज्ञानपिपासा भी शान्त करते थे। उनका प्रताप चारों दिशाओं में फैल चुका था। श्रीवैष्णवों में सर्वोत्तम विद्वान् आचार्य श्रीवेदान्तदेशिक ही माने जाने लगे। धर्मप्रचार विद्याप्रचार के अतिरिक्त काव्यसृजन एवं शास्त्रसृजन में भी देशिक रुचि लेते रहे। अपने सर्वोत्तम भक्तिग्रन्थ का अधिकांश उक्त स्थान पर ही निर्मित किया। देवनायकपंचाशत् हयग्रीवस्तोत्र अच्युतशतक गोपालविंशति और गरुडपंचाशत्‌नामक स्तोत्रग्रन्थ तथा संस्कृत में नव तमिल ग्रन्थों का निर्माण उनके द्वारा तिरुवाहीन्द्रपुर में हुआ। सकल्पसूर्योदय के अंतसाक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आपने ३० वर्षीय श्रीभाष्य के अध्यापन में कुछ वर्ष उन्होंने तिरुवाहीन्द्रपुर में भी (भाष्य अध्यापन में) लगाये थे। उनके उपनाम कवि कथककेशरी वेदान्ताचार्य, वेदान्तदेशिक या सर्वतन्त्रस्वतन्त्र[10] तिरुवाहीन्द्रपुर के प्रवास काल में उन्हें प्राप्त हो गये थे। अच्युतशतक की रचना के काल में वे वेदान्ताचार्य कहे जाने लगे थे।

आज भी वेदान्तदेशिक के जीवनसम्बन्धी अलौकिक घटनाओं का स्मरण वैष्णवसमाज में किया जाता है। कहा जाता है कि एक शिल्पी ने आकर उन्हें चुनौती दी कि वे अपने को सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सिद्ध करें। वेदान्तदेशिक ने अपने हाथों से एक कूप का निर्माण कर शिल्पी तथा जनता को आश्चर्यचकित कर दिया। जनता ने उनके कवित्व की पवित्रता एवं रमणीयता से प्रभावित एवं चमत्कृत होकर उन्हें कवितार्किकघटाकेसरी वेंकटेश, कवितार्किकसिंह कवितार्किककेसरी और वेदान्ताचार्य, कहना प्रारम्भ कर दिया। वेदान्तदेशिक को तिरुवाहीन्द्रपुर ने वैष्णव जगत् का जगद्गुरु बना दिया। आज भी उनकी संगमरमर की प्रस्तरप्रतिमा वेदान्ताचार्य के रूप में बैठकर उपदेश करती हुई, देखी जा सकती है। वेदान्तदेशिक ने वहाँ रहकर, सच्चे तपस्वी एवं त्यागी की तरह अपना जीवन बिताया।

राजोवर में पुनरागमन

एक परवर्तीलेखक के अनुसार कालिदास ने जिस प्रकार उज्जयिनी की महिमा बढ़ाई, उसी प्रकार अपनी प्रतिभा से वेदान्तदेशिक ने कांची की महिमा का विकास किया। वहाँ देशिक ने अपने जीवन का अधिकांश अनवरत परिश्रम और विद्याभ्यास में लगाया। उनके जीवन में यदि तिरुवाहीन्द्रपुर का निवास शान्त एवं तपोमय था तो कांची का निवासकाल, धर्मप्रचार शास्त्रप्रचार, एवं काव्यसृजना में ओतप्रोत था। विष्णुकांची वरदराज अपने वैभव का वह अद्वितीय समय था। उनकी दार्शनिक कृतियाँ—तत्त्वटीका, (श्रीभाष्य पर) तत्त्वमुक्ताकलाप, शतदूषणी

इत्यादि यही निबद्ध हुई। काञ्जीवरम् का वरदराजमंदिर, धार्मिक वातावरण, तथा कमनीय सौन्दर्य वेदान्तदेशिक का समवेत रूप से प्रभावित किये। वरदराज पर लिखित कविताएँ, पहली बार भक्तों को पढ़ने एवं सुनने को मिली। काञ्ची के साम्प्रदायिक वातावरण में वेदान्तदेशिक एकाम्रेश्वरमहादेवमंदिर की मंजरियों की सुगंधि का बखान करने से न चूक पाए। वहाँ के दीर्घकालीननिवासकाल में उन्होंने शरणागतिदीपिका अष्टभुजाष्टक न्यासदशक वरदराजपंचाशत् वेगासेतुस्तोत्र परमार्थ स्तुति इत्यादि का सृजन किया, जो भक्तों के कण्ठ की मुक्तामणि के सदृश है। शरणागतिदीपिका से उनकी जीवनचर्या पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। उनके द्वारा वेगासेतु स्तोत्र में मूर्तिपूजा में अगाध श्रद्धा दिखाई गयी है और ब्रह्मोत्सव का वर्णन भी बड़ी श्रद्धा से किया गया है। उन्हें जीवन में अनेक महोत्सव देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

उनकी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र की उपाधि भी काञ्जीवरम् की एक घटना से सम्बन्धित है। कहा जाता है कि एक जादूगर वेदान्तदेशिक की परीक्षा करने आया था। उसने वेदान्तदेशिक के पेट में असह्य शूल वेदना अपनी माया से कर दिया। वेदान्तदेशिक का पेट जल से भर गया था। उन्होंने एक समीपवर्ती पाषाणस्तम्भ को अंगुली से खरोंचकर अपने उदर का जल मायाद्वारा स्तम्भ से ही निकाल दिया और जादूगर ने अपना पराजय स्वीकार करली तब से वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र माने जाने लगे। इसी प्रकार की घटना सांप और सपेरे से संबंधित है। एक सपेरे ने भौंर छोड़े थे। देशिक ने गरुड़ का आह्वान कर सर्प को नष्ट किया था।

अन्तरंग साम्प्रदायिक वातावरण

वेदान्तदेशिक पीठाधिपति होकर भी भिक्षु का जीवन व्यतीत करते थे। उनकी पत्नी स्वयं गृहकार्यसम्पादन करती थी। तिंगल विचारधारा से प्रभावित श्रीवैष्णवों ने वस्तुस्थिति को जानते हुए भी कतिपय दरिद्र छात्रों को उनके पास आर्थिक सहायतार्थ भेजा। उनका उद्देश्य वेदान्तदेशिक का अपमान करना तथा धर्म संकट में डालना था। उन्होंने प्रसन्नता से छात्रों का सम्मान किया। भगवती वरद वल्लभा (लक्ष्मी) ने वेदान्तदेशिक की इच्छा पूरी करदी। अभीप्सित धनराशि छात्रों में बाँट दी गयी। उक्त घटना वरदराज के मंदिर की दीवार पर खचित है। तिंगले विचारधारा वाले वैष्णव परास्त होकर सदा के लिए काञ्चीपुर में शान्त हो गये।

तिरुपति यात्रा

दयाशतक[31] में उक्त यात्रा की चर्चा है जिसके लेखक श्रीवेदान्तदेशिक स्वयं हैं। हंससंदेश[1] के अन्तःसाक्ष्य से भी प्रतीत होता है कि तिरुपति के प्राकृतिक वातावरण ने उनके मन पर अमिट छाप छोड़ी थी। यादवाभ्युदय महाकाव्य के छठे सर्ग में गोवर्धन-वर्णन वास्तव में तिरुपति के वृषभाद्रि एवं अञ्जनाद्रि का ही वर्णन

है। शेषाद्रि, जहाँ भगवद्भक्ति में नामालवार को निमज्जित किया, वेदान्तदेशिक के हृदय मे भाव के उमगों का भण्डार भी भरा। इस पवतमाला के सौंदय में उन्हें भगवान् का ऐश्वर्य प्रत्यक्ष हुआ। तिरुवाहीन्द्रपुर की तरह तिरुपति भी उनके आत्मा को वैशद्य दिया।

उत्तरी भारत की यात्रा

सकल्प सूर्योदय[23] के अनुसार उन्होने उत्तरी भारत के उन समस्त प्रमुख स्थानों की यात्रा की थी जो विद्या के केन्द्र समझे जाते थे। परम्परागद्ध जीवन चरित्र में भी स्वीकार किया गया है कि उत्तर भारत के वष्णवतीर्थों की यात्रा उन्होंने की थी। उन्होंने मथुरा द्वारिका अयोध्या गया, हरिद्वार प्रयाग वाराणसी आदि नगरो की गतिविधियों का आँखो देखा वणन किया है। उत्तरी भारत की धार्मिक[24] दुरवस्था नैतिकपतन[25] पण्डों पुरोहितो की धूतता काशी के विद्वानो का बौद्धिकपतन, सस्कृतशिक्षा[26] की सकीणता विद्वानो का परस्पर द्वेष एव मठों[27] की विलासिता आदिका मार्मिक चित्रण उन्होंने सकल्पसूर्योदय में किया है।

दक्षिणभारत की यात्रा

उन्होंने तिरुपति और श्रीरगम् के अतिरिक्त अनेक पवित्र वष्णव तीर्थों का अवलोकन दक्षिणी भारत म भी किया था। तिरुनारायणपुर (वतमान मैसूर में) पेरुम्बदूर (काची मद्रास के बीच में) पदमनाभ (टार्वकुोर) आदि स्थानों का दशन किया तथा भगवान् एव अपने आचार्यों के विग्रह का पूजन किया था।

विशेष अध्यापन

तीथयात्रा के पश्चात् अपने पुत्र वरदाचाय तथा शिष्य ब्रह्मतन्त्र परकाल का प्रशिक्षण बड़े मनोयोग से करना आरम्भ किया। उन्होंने वैष्णवविचारधारा के विरोध का दमन करने मे अपने को असमथ पाकर बढ़ते शाखा का सूत्रपात अपने पुत्र एव शिष्य की शिक्षा मे किया। उन्हें आचारदशन नीति तथा कमकाण्ड वैदिक-पक्षपात रखने हुए बताए जबकि तिगले लोग गुरुवाक्यप्रमाण के भरोसे स्वेच्छाचार पर बल देते रहे। यह विचारभेद वमनस्य म परिणत हो गया जो आज भी दक्षिणी भारत में ज्यों का त्यो बना हुआ है।

श्रीरगम् मे

श्रीरगम् में सुदशनाचाय लोकविश्रुत विद्वान् थे। उन्हें श्रीवैष्णवाचार्यपीठ पर आसीन किया गया था। वेदान्तदेशिक को वहाँ जाकर स्वेच्छा से शास्त्रप्रचार करना उचित प्रतीत नहीं होता था। अकस्मात् अद्वतवेदान्तदशन की चुनौती में श्रीरग के भी वष्णवविद्वान् जिनमें सुदशन भट्ट लोकाचाय पिल्ले पेरीयाच्छन पिले आदिक विद्वान् प्रमुख थे खड़े न रह सके वे विशिष्टाद्वैताभिमानी रामानुजदशन का मण्डन करने में अपने को असमथ पाकर कांची का मुख देखने लगे। वही सख्या मे विद्वानो

ने श्रीवष्णवाचार्य वदान्तगुरु श्रीवेंकटनाथ को आमन्त्रित किया। वेदान्तगुरु ने सहर्ष आमन्त्रण स्वीकारकर श्रीरंगम् प्रस्थान किया। वडगले और तिंगले दोनों सम्प्रदाय के वैष्णवों ने निर्विरोध अपना आचार्य स्वीकार कर अद्वैत वेदान्त से लोहा लिया। वदान्तगुरु श्रीवेंकटनाथ ने रामानुजदर्शन की नाव रखली।

विजय उल्लाससहित वैष्णवों द्वारा मनायी गयी। अद्वैताचार्यों द्वारा उत्पन्न क्षोभाबात कुछ समय के लिए शान्त हो गया।—श्रीभाष्य की श्रुतप्रकाशिका टीका के कर्त्ता श्रीसुदर्शन भट्ट ने अपनी आचार्यगद्दी वेदान्तदेशिक को समर्पित करदी। अभिषेक समारोह हुआ। सम्प्रति वेदान्तदेशिक काञ्जीवरम् और श्रीरंगम् दोनों पीठों के अधिपति घोषित किये गये। दोनों पीठों पर वेदान्तदेशिक से पहले तिंगल सम्प्रदाय का प्राबल्य था। श्रीरंगम् तो आज भी तिंगले विचारधारा का केन्द्र माना जाता है। आचार्य वेदान्तदेशिक श्रीरंगम् में स्थिर शास्त्र निर्माण तीव्र गति से करने लगे। श्रीभाष्य पर तत्त्व टीका, शतदूषणी अधिकरणसारावली तात्पर्यचन्द्रिका टीका इत्यादि ग्रंथों का निर्माण श्रीरंगम् में ही उन्होंने किया।—सम्भवतः उनकी दार्शनिक प्रतिभा की प्रखरता के कारण ही यह प्रवाद फैल गया कि—श्रीरंगनाथ ने उन्हें वेदान्तदेशिक की उपाधि अपने अर्चाविग्रह के श्रीमुख से दी।

तिंगले सम्प्रदाय के वैष्णव वेदान्तदेशिक के ऐश्वर्य से जलने लगे। उन्हें इस बात का ध्यान नहीं रहा कि आदेशिक ने ही उनके सम्प्रदाय की रक्षा की है। उन्हें[28] अपमानित करने के लिए कुचक्र किये जाने लगे। एक बार तो पुराने जूतों का तोरण भी तिंगले वैष्णवों ने उन्हें आमन्त्रित कर प्रवेशद्वार पर लटका दिया था। वेदान्तदेशिक सहज भाव से यह कहते हुए, प्रविष्ट हुए कि कुछ लोग ज्ञान का अवलम्बन करते हैं कुछ कर्म का, हम तो भगवद्भक्तों के चरणपादुका का आश्रय ग्रहण करते हैं —

> केचिद् ज्ञानावलम्बिन केचिद् कर्मावलम्बिन ।
> वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बिन ॥'

तिंगले सम्प्रदायाभिमानी श्रीवैष्णव इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। वे अन्य दुष्कर्म की योजनाएँ भी बनाते रहे। एक बार वेदान्तदेशिक के पिता के वार्षिक श्राद्ध के अवसर पर काञ्जीवर के ब्राह्मणों को ही मना कर दिया गया कि कोई भी देशिक का निमंत्रण स्वीकार न करें। कहा जाता है कि देशिक ने तिरुपति काञ्जी और श्रीरंगम् के विग्रहों को तेज ही आमन्त्रित कर श्राद्ध में भोजन कराया था। अर्थात् भगवान् विष्णु ही तीन रूपों में तीन ब्राह्मण बन कर आये थे। किसी समय[29] वडगल आचार्य वेदान्तदेशिक के सामने तिंगले आचार्य मणवालपेरुमालनयनार ने कविता निर्माण के लिए ललकारा था। शीर्षक भगवान् श्रीरंगनाथ से सबंधित था। वेदान्तदेशिक ने भगवान् हयग्रीव की कृपा से एक सहस्र मधुर एवं प्रौढ़ कवित्व

पूर्ण छदा का निर्माण कुछ घटा म कर दिया, किन्तु उक्त नयनार पदकमलसहस्र का अर्द्ध सहस्र ही निर्माण कर पाय, जबकि समय भी अधिक लगा। वेदान्तदेशिक के साधु चरित्र एव प्रतिभा की-ख्याति चारा-दिशाओं म फलन लगी।---

-- एक तिंगले आचाय लक्ष्मणाचाय के साथ असावधानी वश- अप्रिय घटना घट-जान-क कारण उन्होंने-श्रीरगम्[30] का त्याग कर दिया। बाद मे लक्ष्मणाचाय और उनकी पत्नी दोना वेदान्तदशिक से क्षमाप्रार्थी बन। वेदान्तदेशिक न सहज भाव स उन्ह अपनाया एव उनका अभिशाप हटाया। व श्रीरगम् का छोड़कर सत्यमगल -चले गय। वहा उनका शान्त जीवन व्यतीत होन लगा। अपन उत्तराधिकारी एव योग्य पुत्र तथा प्रतिभाशाली शिष्य परकाल ब्रह्मतत्र स्वतत्र' का, उन्होंने रहस्य विद्या का उपदेश दिया। बाद म दोना व्यक्तियों न बडगल शाखा का उत्थान एव वेदान्तदशिक की मूर्तिप्रतिष्ठा, बडी ही श्रद्धा एव लगन से की। परकाल मठ की स्थापना उनके सन्यासी एव प्रखर बुद्धि के शिष्य क द्वारा की गयी जो आज भी श्रीवैष्णव वडगलशाखा का केन्द्र माना जाता है।

कुछ समय के लिए सत्यमगल स श्रीरगम् वेदान्तदशिक का पुन आना पडा। मुसलमानो न श्रीरगम् पर आक्रमण कर दिया। पुजारियो का वध किया गया। श्रीभाष्य के व्याख्याता सुदर्शन भट्ट भी यवनो क हाथ मार गये। लोकाचाय श्रीरग-नाथ की प्रतिमा लेकर छिपते हुए इधरउधर घूमन लग। वेदान्तदशिक श्रीभाष्य श्रुतिप्रकाशिका तथा सुदर्शन भट्ट के दो पुत्रो (वेदाचाय भट्ट तथा पराङ्कुश भट्ट) की रक्षा म व्यस्त रह। कहा जाता है कि अपनी शक्ति म जनवध की उन्होन रक्षा की।

वहाँ म वेदान्तदेशिक तिरुनारायणपुर म चले गय, जो मसूर म है। वहाँ उन्ह शान्ति मिली। वही पर उन्होंने विविध स्तोत्रो की रचना की जिनकी आज भी स्मृति श्रीभाष्य के पाठको की बनी है। कुछ समय बाद व पुन सत्यमगल चल गये। वहाँ रहकर अभीतिस्तव का पाठ करते रहे, जिसस श्रीरगम् मे शान्ति स्था-पित हो सके। सत्यमगल म विजयनगर के महाराजा का निमत्रण— विद्यारण्य की प्रेरणा से जो राज पडित थे— प्राप्त हुआ। वेदान्तदशिक त्यागी थ उन्हें राजवैभव का लोभ मोहित न कर सका। उन्होंने राजदरबार म जान से इन्कार कर दिया। उसी समय वराग्यपचक की रचना उन्होंने की, जो वैष्णव साधको का आज भी प्रेरणा देता है।

विजयनगर क राजकुमार कम्पण्ण उदायर ने अपन सनापतियों— गोपण्ण' और 'मुद्दमगु' की प्रेरणा से मधुरा के सूबेदार पर आक्रमण कर दिया और १२५८ ई० म विजयी होकर मन्दिरो की रक्षा केलिये राज्याधिकारी नियुक्त किय। सनापति[31] गोपण्ण-का श्रीरगम् म विशिष्ट स्वागत किया गया। वेदान्तदशिक न स्वय विजयप्रशस्तिकाव्यगान किया। इस समय वेदान्तदेशिक की आयु ६० वष

की अवश्य होगी। उन्होंने रहस्यत्रय की रचना की तथा गोपण्ण की, वष्णव संस्कृति के प्रचार में, सहायता भी की। उसी समय लोकश्रुति के अनुसार अक्षोभ मुनि एवं विद्यारण्य के शास्त्रार्थ में निर्णायक या मध्यस्थ का पद भी ग्रहण किया और निणय द्वैतवादी अक्षोभ मुनि के पक्ष मे दिया, यद्यपि अद्वत वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् विद्यारण्य उनके सहपाठी तथा अभिन्न मित्र थे। व्यासतीथ ने मध्वाचाय की गद्दी के उत्तराधिकारी तथा अद्यातअरवतअततीय ने गुरुपरपरा मे इस घटना की ओर सकेत किया है।

वेदान्तदेशिक[३२] ने श्रीरगम् में जीवन की शेष घड़ियाँ शात एव भक्तिमय बितायी। उनका शरीरपात १४ नवम्बर १३६९ मे श्रीरगम् मे उनके आवास स्थल पर हुआ। कहा जाता है कि उनके परपदप्रस्थान के समय विष्णुघण्टा ने जो मन्दिर में था बजना बन्द कर दिया। आज वेदान्तदेशिक नहीं हैं किन्तु बडगले शाखा के श्रीवष्णव उनका नाम लेकर (मगल कामना से) अपना कोई काम करते हैं तथा प्रत्येक काय के शुभारम्भ मे प्रात काल या सन्ध्याकाल की सन्ध्याओ में भी उनका स्मरण करते हैं। दक्षिणी भारत के श्रीवष्णवमन्दिरो मे उनकी प्रतिमा की पूजा होती है। वेदान्तदेशिक का नाम दक्षिणी भारत के श्रीवष्णवो मे उसी प्रकार अमर है जिस प्रकार तुलसीदास जी का नाम उत्तरी भारत मे। दोनो ने न्याय सत्य एव समाज के लिए अपना जीवन विनियुक्त किया। दोनो को अपने प्रयास मे अभूतपूवसफलता मिली। एक ने संस्कृत भाषा को समद्ध किया दूसरे ने अवधी या हिन्दी को।

व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य

उनका चरित्र *महान था। उन्हें विष्णुघण्टावतार मानना वास्तव म उनके* व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य का द्योतक है। उनके व्यक्तित्व ने वास्तव मे उनके प्रति तिंगले और बडगले दोनो शाखाओ में श्रद्धा और भक्ति को उत्पन्न किया था। जिस प्रकार *उनका व्यक्तित्व आदश मानवरूप मे विख्यात था उसी प्रकार आदश कवि एव* दाशनिकता के सहित आदश साधुरूप मे भी था। वेदान्तदेशिक[३३] की काव्यप्रतिभा का मूल्याकन १६वी शताब्दी में अप्पय दीक्षित जैसे शास्त्रीय समालोचक ही कर सकते थे। दोडडाचाय[३४] जसे दाशनिक ही उनकी दाशनिक प्रतिभा का मूल्याकन करने मे सक्षम हैं जो १६वीं शताब्दी मे काची में थे। श्रीनिवासदास[३५] जसे तर्काचाय ही वेदान्तदेशिक की तार्किक बद्धि का तकशास्त्रीय देन का वास्तविक मूल्य लगा सकते हैं। वे केवल प्रतिभा के ही धनी नही थे उनका चरित्र भी अनुकरणीय था। वे आदश गृहस्थ विश्वसनीय मित्र निस्पृह गुरु तथा सवजनहितषी ब्राह्मण वष्णवाचाय थे। उनके जीवन मे पक्षपात लोकषणा वित्तषणा तथा विद्यामद छूकर भी नहीं पाया जाता। इसीलिए वेंकटाध्वरी ने उन्हें अपने चम्पू काव्यविदवगुणादश

म सवकालीन आदर्श मानव चित्रित किया है।

उनका जीवन सुनियोजित था। सांसारिक वैभव का लोभ उनके भागवत जीवन म बाधक न बन सका। उनके जीवन म एक ही लक्ष्य था—भगवान् के चरणों म अनन्य भक्ति। इसी की सिद्धि उनकी सवतोमुखी सफलता थी। उन्होंने सांसारिक सुख म भी भगवदानन्द देखा और उसका उपभोग किया। वे सामान्य जन के आनन्द म सुखी रहते थ और सामान्यजन के दुःख से क्षुब्ध भी होते थे। उन्होंने अपना व्यक्तित्व का गठन ही इस प्रकार किया था कि वह सावजनीन प्रतीत होता था।

वदान्तदेशिक सफल आचाय[१७] थे। उन्होंने वडगल अर्थात् औदीच्य सम्प्रदाय का स्थापना की जिसकी जीवनीशक्ति श्रुति थी, और ढाचा रामानुज का श्रीभाष्य था। श्रीभाष्य एव गीता की मनमानी व्याख्याए वन्कि ब्राह्मणों का उद्विग्न कर रही थी। मीमांसाशास्त्र स्वर्गाभिमानी मात्र कहा जाकर उपेक्षित हो रहा था। वेदान्त देशिक न कर्मविनियोग भक्तिपरक अपनी सेश्वर मीमांसा मे किया तथा यज्ञयाग को ईश्वराज्ञा बताकर शक्ति के अनुसार उनके अनुष्ठान की ओर प्रवृत्त किया। मध्यवर्ती मीमांसाचाय कुमारिल एव प्रभाकर मिश्र के क्रमश भट्ट एव गुरुमतानुयायी विद्वानों ने ईश्वर की अनुपयोगिता सिद्ध की थी। वेदान्तदेशिक ने उन्हीं के क्षेत्र म ईश्वर की अनिवायता बताकर पूव तथा उत्तर मीमांसा की एकरूपता घोषित की।

उन्होंने चिर उपेक्षित न्यायशास्त्र का बौद्धिक परिष्कार किया तथा ब्राह्मण न्याय में स्मृतिप्रमाण की सत्यता स्थापित की। सांख्य, योग न्याय और वैशेषिक दशनों की सीमाएँ एव औचित्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगमों की भी परीक्षा की। वैदिक प्रमाण सर्वोपरि मानते हुए पुराणों एव आगमों का भी समथन (श्रुति के अनुकूल) किया। यदि पुराण श्रुतिविरोधी न हो स्मृति के अनुकूल हो, तो उन्हें वे मान्य हैं। पांचरात्र आगमों को श्रुतिस्मृति का सवात्मक होने के कारण परमप्रमाण स्वीकार किया, किन्तु वाममार्गी शैव एव शाक्त आगमों को तामसी बताते हुए उनका विरोध किया सच्चरित्ररक्षाग्रन्थ मे भगवद्भक्ति म दैनिक क्रियाओं तथा विशिष्ट संस्कारों के साथ प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी। उन्होंने तप्तचक्र एव शंख का अकन वैदिकब्राह्मणभक्त के लिए तथा द्विजों के लिये अनिवाय बताया। अन्य वैष्णव माध्व को छोड़कर तप्तमुद्रा की अनिवायता स्वीकार नहीं करते। भगवद्भक्ति में भावना को प्रधान बताते हुए भी, मन्दिर, तीर्थ, तिलक छापा, माला, तथा गुरु की अनिवायता उन्होंने स्वीकार की। कबीर की तरह केवल अनुभूति की तरफ न झुककर, तुलसी की तरह लोक और परमाथ दोनों के समन्वय की ओर उनका ध्यान था। वे जितना ही विचार के धनी थे, उतना ही दैनिक जीवन म कम तथा भावना

जगद् म तरल थे। इसलिए ना म भ्रांति, कम म घोर निष्ठा और भक्ति म निभर समर्पण करते हुए, वे देखे जाते हैं।

थ कुशल कलाकार थे । उनकी शिल्पकला स्थापत्यकला, एव मूर्तिकला की कृतियाँ, आज भी विद्यमान है । सर्वतन्त्रस्वतन्त्र की उपाधि उ हें इस क्षेत्र म प्रतिष्ठा की एव प्रतियोगिता में सम्मिलित होने पर मिली । उनका बनाया हुआ कूप एव मूर्तियां आज भी तमिलनाड में देखी जाती है।

साहित्यिक प्रतिभा

वेदान्तदेशिक विविध कलाओ के पारखी तथा सर्जनकर्त्ता तो थ ही उनकी साहित्यिक एव काव्यकला की सफलता भी स्तुत्य है। उनक साहित्यिक ग्रन्थो क अतिरिक्त दार्शनिक ग्रन्थ— तत्त्वमुक्ताकलाप एव न्यायसिद्धाञ्जन इत्यादि ग्र थ भी कलाकुमकुमभावितवारि से सिञ्चित है।

काव्यग्रन्थो मे उनकी दोनो प्रकार की रचनाएँ हैं जसे गद्यकाव्य एव पद्यकाव्य। गद्यकाव्य म प्रमुख संस्कृतग्रन्थ सकल्पसूर्योदय है जिसका प्रतिपाद्य भगवद् भक्ति (विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तसवलित) ही है । यह एक प्रतीकप्रधाननाटकग्रन्थ है जिसम दार्शनिक विचार मोती की लडियो की तरह गुम्फित है । दूसरी पुस्तक रघुवीरगद्य है। इसम भगवान् राम की उदात्त लीलाओ एव पराक्रम का बडा ही मनोहारी वर्णन समास शैली म हैं। यह उत्कृष्ट गद्यग्रन्थ है यद्यपि आकार लघुतम है। पद्यसाहित्य मे इनकी रचनाए प्रबध एव मुक्तक दोनो हो प्रकार की हैं। प्रथम मे यादवाभ्युदयनामक महाकाव्य तथा हससन्देशनामक खण्डकाव्य हैं । मुक्तक या अनिबद्ध के अन्तगत उनकी अनेक रचनाएँ हैं। उनम प्रमुख पादुकासहस्रम् यतिराज सप्तति, गरुडपञ्चाशत् भूस्तुति, देवनायकपञ्चाशत् अच्युतशतक वरदराजपञ्चाशत् वैराग्यसेतुस्तोत्र, अभीतिस्तव श्रीस्तुति गोपालविंशति भगवद्ध्यानसोपान दशावतार स्तोत्र, धाटीपचक गोदास्तुति, यमकरत्नाकर, सुभाषितनीवी गरुडदण्डक परमार्थ स्तुति, शरणागतिदीपिका अष्टभुजाष्टक इत्यादि प्रमुख हैं।

वेदान्तगुरु की प्रतिभा सहज थी। अभ्यास एव शास्त्रज्ञान न उसमें चमक पदा की। उसमें मसृणताचिक्कणता का समावेश हुआ। औचित्य एव विचारगहनता को स्थान तो मिला, किन्तु माधुर्य की प्राणप्रतिष्ठा भी बनी रही। मस्तिष्क हृदय पक्ष का सहयोगी बनकर, उनकी रचनाओ मे आद्योपान्त पाठक के मानसरगमच पर आता है। स त कवियो की तरह या प्रयोगवादी कवियो की तरह हृदय का आखेट करती हुई बुद्धि, वेदान्तदेशिक की रचनाओ म प्राय नही देखी जाती। प्रबध, गद्यगीत स्तोत्र या अन्य मुक्तक, दोनो की रचनाएँ उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का डिंडिम घोष करती हैं। उनका नाटक अपनी शैली का संस्कृत म दूसरा ग्रन्थ है, प्रथम प्रबोधचन्द्रोदय है, महत्ता एव उपयोगिता तथा सामग्री की दृष्टि म

सक्ल्पसूर्योदय का स्थान प्रथम है।

वेदान्तदेशिक सहजकवि थे, किन्तु प्रकृति की सुरम्य लीला ने उन्हे उसी प्रकार प्रभावित किया, जिस प्रकार हिंदी कवि पंत को लिखने केलिए बाध्य किया। श्रीशैल, कांचीपुर तथा तिरुवाहीन्द्रपुर ने उन्हें विशेष प्रभावित किया। भगवान् विष्णु की लीलाएँ तथा ऐश्वर्य भी कम उत्तेजक नहीं हैं। उनके अर्चाविग्रह तथा दिव्यमंगलविग्रह से देशिक का सम्बन्ध वैसे ही था, जैसे, मीरा का भगवान् कृष्ण से। इसलिए उनकी रचनाओं का अधिकांश भाग भक्ति भाव से भावित हैं तथा उनमें भगवान् की लीला एवं महिमा के सदृश ही गरिमा है।

उनकी रचनाओं का बहुलांश अनुभूत है। सक्ल्पसूर्योदय मे जहाँ कल्पना है वहाँ उनका साक्षात् किया हुआ सत्य आज भी उत्तर दक्षिण मे समान रूप से देखा जाता है। उनकी वैराग्यपरक सूक्तियों का भी उनके जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता। उनकी रचनाएँ यदि सुन्दर है तो सत्य और हित से कटी हुई नहीं है दोनों से शृंखलित हैं। इसीलिए आज का संस्कृतसमालोचक उनकी रचनाओं की आलोचना करने से घबड़ाता है। वे अलौकिक प्रतिभा के धनी सिद्ध कवि थे इसलिए उनकी कृतियाँ मनस्विनी के समान ही शुभ्र हैं।

वेदान्तदेशिक की कृतियां

वेदान्तदेशिक की लेखनी अविरामगति से आजीवन चलती रही। उसने शताधिक ग्रन्थों की सृष्टि की, जो न केवल अमर भारती में है अपितु तमिल और प्राकृत भाषाओं मे भी पाये जाते हैं। कुछ कृतियाँ मणिप्रवालशैली में तमिलसंस्कृत मिश्रितभाषा में लिखित हैं। प्रस्तुत प्रकरण में कतिपय ऐसे ग्रन्थों का स्थूल एवं संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जो विभिन्न विषयों से सम्बन्धित है किन्तु शोध के लिए उपादेय हैं। कालक्रम भिन्न होने हुए भी वर्णक्रम के अनुसार उन्हें रखा जा रहा है। ग्रन्थ हैं—

१ अच्युत शतक— यह प्राकृत भाषा में लिखा हुआ भक्तिभावपूरितग्रन्थ है। इसमें कुल १०१ गाथाएँ हैं इसकी विषयवस्तु तिरुवाहीन्द्रपुरस्थ अर्चाविग्रह भगवान् अच्युत या देवनायक हैं। इसमें रामानुज सिद्धान्त का सार पिरोया गया है। इस कृति की अनेकों टीकाएँ हैं, जो संस्कृत या तमिल भाषा में लिखी गयी हैं। दोड्डाचार्य इसे नूतन ऋचा[37] मानते हैं।

२ अभीतिस्तव— यह स्तोत्रग्रन्थ है। इसमें भगवान् श्रीरंगनाथ की स्तुति की गयी है। यह कोयम्बतूर जिले के सत्यमंगल स्थान पर लिखी गयी कृति है। इसमें कुल २९ पद्य हैं। इसमें उनकी आत्मकथा की छाप भी लगी है। यह उनकी प्रौढ़ावस्था की कृति है। इस पर केवल तमिल भाषा में एक टीका है।

३ ईशोपनिषद्भाष्य— वेदान्तदेशिक ने रामानुजाचार्य द्वारा स्थापित

शरणागति वाद का वदिक समर्थन इस उपनिषद् के भाष्य में किया है। इस उप-निषद् का महत्त्व दो कारणों से है— प्रथम तो यह प्रत्यक्ष श्रुति है, जो शुक्ल यजुर्वेदी वाजसनेयी शाखा की संहिता का ४० वाँ अध्याय है, अपरञ्च यह निखिल उपनिषदों का मूलभूत बीज सिद्धांतों का, अपने अन्दर स्थान रखता है। कोई भी उपनिषद् इसको बाधित नहीं कर सकता कारण कि इसी उपनिषद् के अन्य परोक्षव्याख्यान हैं। वेदव्यास जी द्वारा रचित कृष्ण–गीता या भगवत्–गीता के निखिल दार्शनिक सिद्धांत इसी उपनिषद् के ऋणी हैं।

४ तत्त्वमुक्ताकलाप — इसका शाब्दिक अर्थ है– तत्त्वरूपी मोतियों की माला जो पाँच सूत्रों एवं ५०० मनकों से बनी है। यह वेदांतदेशिक का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। सर्वदर्शन संग्रह[३१] में माधवाचार्य ने इसी ग्रन्थ का उद्धरण देकर रामानुज सिद्धान्त का परिचय दिया है। उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ में इसे तत्त्वमुक्तावली[३] बताया है। विषय–वस्तु एवं तर्क दोनों दृष्टियों से रामानुजसम्प्रदाय के अद्यावधि पर्यन्त लिखे ग्रन्थों में अद्वितीय है। दोनों शाखाओं के रामानुजी इस ग्रन्थ का अनि-वार्यतः पठन–पाठन करते पाये जाते हैं। इस ग्रन्थरत्न के प्रथम सूत्र का जडद्रव्यसर नाम रखा गया है। प्रकृति को भगवान् विष्णु का शरीर कहा गया है। यह दृश्य है और इसकी सत्ता तत्त्वतः नित्य है। यह जीव को बंधन में डाल सकती है किन्तु ईश्वर या ब्रह्म पर इसका वश नहीं चलता। इसकी प्रकृति के सारे कार्य सांख्य से समता रखते हैं केवल ईश्वरेच्छा निमित्त है जबकि सांख्य अथवा न्याय से चैतन्य का सान्निध्य मात्र निमित्त मानता है।

द्वितीय सूत्र या अध्याय जीवसर के नाम से विख्यात है। इसमें रामानुजा-चार्य तथा नामालवार के सिद्धांतों का समन्वय किया गया है। तत्त्व चिंतन रामा-नुजाचार्य का है किन्तु रहस्य नामालवार का। तृतीय सूत्र का नायकसर नाम रखा गया है। इसमें ब्रह्म और ईश्वर की एक ही सत्ता बतायी गयी है। ईश्वर में जीव की तरह या शंकराचार्य के ईश्वर की तरह कोई अविद्या नहीं है। वह शुद्ध ब्रह्म है। चतुर्थ सूत्र बुद्धिसर है। इसमें ख्याति तथा ज्ञानादि विषय हैं जिनका संबंध रामानुजदर्शन से है। पंचम सूत्र इस माला का अद्रव्यसर माना जाता है। इसमें गुणों तत्त्वों और शक्तियों का कार्य बताया गया है। इस ग्रन्थ में यह दृढ़ता से स्थापित है कि सविकल्पकज्ञान ही सम्यक्प्रत्यक्ष है। इस पुस्तक की टीका भी वेदान्त देशिक के द्वारा ही लिखी गई है जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है। तत्त्वमुक्ताकलाप के विषय में डा० सत्यव्रत सिंह लिखते हैं— इस पुस्तक का स्वरूप इस प्रकार का है कि रामानुजदर्शन का ठीकठीक प्रतिनिधित्व कर सके।'

५ तात्पर्यचंद्रिका — यह रामानुजाचार्य द्वारा लिखित गीताभाष्य की टीका है। यह ग्रन्थरत्न गीतादर्शन पर एक गवेषणात्मक प्रबंध है। गीता का अंतिम

तनीयाग रामानुजाचाय के अनुसार भक्ति का व्याख्यानरूप है। वेदान्तदेशिक ने रामानुजाचाय के भाष्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन अध्याया म दृढता के साथ भगवान् वासुदेव न शरणागति को जीवन का निश्रेयस घोषित किया है। चरममत्र के व्याख्यान मे वेदान्तदशिक ने रामानुजाचाय के मत का पोषण करते हुए कममाग का समथन किया है, केवल निषिद्ध और काम्यकर्मों को त्याज्य बताया है। तिगले नोगा के अनुसार सभी प्रकार के धमकर्मों का त्याग करना ही शरणागति का रहस्य है।

६ तत्त्व-टीका — यह रामानुजाचाय के श्रीभाष्य पर लिखी गयी है। ऐसा कहा जाता है कि सुदशनाचाय की श्रुतप्रकाशिकाटीका का यह परिष्कार है जो श्रीभाष्य पर उत्कृष्ट टीका मानी जाती ह।

७ दयाशतक,— यह तिरुपति म रह कर भगवान् क गुणानुवाद म भक्ति भावना पूण लिखा गया १०८ पद्या का स्तोत्रकाव्य है। श्रीवष्णवा की मान्यता के अनुसार यह द्वयमत्र का रहस्य विस्तार है। यह वेदान्तदशिक की प्रारम्भिक कृति है।

८ दशावतारस्तोत्र — यह श्रीरंग मे लिखा गया ग्रथ है। इसम कुल १३ पद्य हैं। विष्णु क अवतारो का विग्रह जो श्रीरंगमन्दिर म सुलभ है इस स्तोत्र म स्तुत हैं। स्तोत्र का छन्द शादूल विक्रीडित है। सकल्पसूर्योदय के सप्तम अक म इसके पद्य दख जात हैं।

९ द्रमिडोपनिषत्तात्पयरत्नावली — यह नामनवार के तमिल भाषा म निमित मधुर उद्गारा का सस्कृत पद्य बद्ध अनुवाद है। इस कृति म भी वेदान्तदशिक ने नामालवार की कृति का सक्षिप्ततम रूप रखा है। कुल १३० पद्या का यह ग्रथ है। वेंकटेशाचाय न इस पर टीका भी लिखी है।

१० न्यायपरिशुद्धि — यह न्यायग्रन्थ है। इसम प्रमाण और प्रमेय दाना पदार्थों पर विचार किया गया है। इसका लक्ष्य परिष्कृत न्याय शास्त्र तथा पन्यायवाद का मायामयमिथ्यात्ववादी अद्वतवदान्त के आचार्यों के प्रचण्ड आक्रमण से रक्षा करना है। न्यायदशन म वाचस्पति मिश्र की कृति न्यायवार्तिकतात्पयटीका का जो स्थान है वही स्थान रामानुजवदान्त म न्यायपरिशुद्धि का है। इसम कुल पाच अध्याय हैं जिसके प्रथम चार अध्याय प्रमाणा का विचार करत हैं और पचम अध्याय मात्र प्रमेय का।

११ न्यायसिद्धाञ्जन — यह प्रकरण ग्रथ है। इसे न्यायपरिशुद्धि का पचम अध्याय भी कहा जा सकता है कारण कि इसम प्रमेय का विचार विस्तार से किया गया है। इसका अतिम अध्याय नष्ट हो गया है। वदान्तदशिक ने इसे तत्त्वसिद्धाञ्जन भी कहा है और इस विचार से सहमत हैं कि यह न्यायपरिशुद्धि का पूरक ग्रन्थ है। इसका प्रथमपरिच्छेद जडद्रव्यपरिच्छेद है जिसम जडप्रकृतिका

विचार किया गया है। द्वितीयपरिच्छेद का नाम जीव परिच्छेद है। इसमे जीवात्म तत्त्व का विवेचन किया गया है। ततीय परिच्छेद ईश्वर या ब्रह्म का व्याख्यान करता है जबकि चतुथ नित्यविभूति का विचार करता है अन्तिम परिच्छेद पचम अजडद्रव्य का विवेचन करता है। अन्तिम का कुछ भाग नष्ट हो गया है। यह न्यायशास्त्र का प्रौढ ग्रन्थ है।

१२ परमपदसोपान — यह मणिप्रवाल शैली मे लिखा गया तमिल भाषा का ग्रन्थ है जिसका सस्कृत अनुवाद तथा हिन्दी व्याख्या श्री नीलमेघाचाय ने की है। इसम कुल नव पव या अध्याय हैं। इनके नाम क्रमश १ विवेकपव २ निर्वेद पव, ३ विरक्तिपव, ४ भीतिपव ५ प्रमादनपव ६ उत्क्रमणपव ७ अर्चिरादिपव ८ दिव्यदेशप्राप्तिपव ९ पराप्तिपव है। *यह रहस्य ग्रन्थ माना जाता है तथा साधक* इसका मान करते है।

१३ परमार्थस्तुति — इसमे कुल १० पद्य हैं। जो सस्कृत भाषा मे लिखा हु । श्रीरामचद्र जी का स्तवन है। इसका नाम समरपुगवस्तुति तथा विजयराघव स्तुति है। यह भगवान् श्री राम के सम्मुख आत्मसमपणमयभक्तिस्तोत्र है।

१४ पादुकासहस्र — यह ३२ भागा मे विभक्त भगवान् के चरणपादुका पर बनाया हुआ १००८ पदा का अद्भुत ग्रन्थ है। प्रत्येक विभाग को पद्य कहा गया है। कहा जाता है कि एक प्रतियोगिता मे कवि ने केवल एक रात्रि म इसका निर्माण किया था। इस पर भरद्वाज, श्रीनिवास तथा राघवाचाय की टीकाएँ सस्कृत भाषा मे हैं। कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित की भी इसपर तमिल टीकाएँ भी मिलती है। यह ग्रन्थ रामायण से सम्बन्धित माना जाता है।

१५ यादवाभ्युदय — यह उदात्त शैली म लिखा हुआ एक महाकाव्य है। इसको यदुवश' या कृष्णाभ्युदय' भी कहा जाता है। डा० सत्यव्रत सिंह के अनुसार इसका सम्भवत कुछ भाग काजीवरम् में कुछ तिरुपति में और कुछ भाग श्रीरगम् म रचा गया है। कहा जाता है कि इसकी रचना डिण्डिम कवि की चुनौती स्वीकार कर की गयी थी। इस पुस्तक पर भी अप्पय दीक्षित न टीका लिखी थी। दीक्षित अद्वतवेदान्त एव व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय विद्वान् माने जाते हैं। इसे महाकाव्य वेदान्तदेशिक के जीवन काल मे ही माना जाने लगा। विजयनगरदरबार म भी इसकी प्रशसा सुनी गई। इसकी शैली कालीदास के रघुवश से मिलती है। जिसम २४ सग हैं। इसमें रघुवश की तरह यदुवश का वणन कर कृष्ण का जन्म कराया गया है। *अन्तिम सग कृष्ण की अन्तिम जीवनलीला है।* अप्पय दीक्षित के शब्दों म इस महाकाव्य की व्याख्या अपेक्षित है जसे हरिमणि के मूल्य को बढाने केलिए शिल्पी का स्पश आवश्यक होता है।[43]

अध्यारयातनया पूर्वजाभिव्यक्त भावकम् ।
प्रपदमिव शिल्पजैर्भिजात् हरिर्मणि ॥
—अप्पय दीक्षित् ।

१६ रघवीरगद्य — यह गद्यग्रन्थ है। इसमें भगवान् श्रीराम का चरित्र, समासगर्भित शैली में वर्णन किया गया है।

१७ रहस्यशिखामणि — यह रहस्यग्रन्थ है। यह तमिल भाषा में लिखा गया है। इसका अनुवाद हिन्दी में प्रयागविश्वविद्यालय के किसी प्राध्यापक ने किया है। इसमें वराहभगवान् के अनुग्रह का रहस्य समझाया गया है।

१८ वैराग्यपंचक — इसमें वैराग्यपरक छन्द है। यह सुभाषितग्रन्थ प्रतीत होता है। विजयनगर दरबार को यह उत्तर में लिखा हुआ ग्रन्थ है, जिसमें कुल पांच ही पद्य हैं। इस पर उच्च कोटि के दो विद्वानों ने टीकाएँ लिखी है। उनके नाम क्रमश वीर राघवाचार्य तथा तात्याचार्य हैं।

१९ शरणागतिदीपिका — दीपप्रकाश भगवान् के मन्दिर की स्तुति इस ग्रन्थ में की गई है। यह मुख्यत रामानुजदर्शन एवं आचार का प्रतिनिधित्व करता है। इस ग्रन्थ का बडगले शाखा के साधकों के लिए बहुत महत्त्व है। इसमें आचार्य निष्ठा पर विश्वास प्रकट किया गया है। इसमें कुल ६० पद्य हैं। इस पर तीन टीकाएं हैं जिनमें राजगोपालाचार्य की टीका भी सम्मिलित है।

२० शतदूषणी — यह वादग्रन्थ है जिसमें परमतखण्डन करने के लिये तर्क किया गया है। इसमें शंकराचार्य भास्कराचार्य तथा यादवप्रकाशाचार्य के मत का खण्डन किया गया है। नाम के अनुसार इसमें १०१ दोष होना चाहिए, किन्तु कुल ६६ दोष ही प्रकाशित पुस्तकों में मिलते हैं। शेष ३४ दोष माध्वमत का खडन करने के लिए थे जिन्हें वेदान्तदेशिक ने स्वयं नष्ट कर दिया। कुछ दोष न्यास के विधिविधानों से सम्बन्धित हैं। जिस प्रकार श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का महत्त्व खण्डनदान में है, रत्ताण्डव का महत्त्व द्वैतदर्शन में है उसी प्रकार शतदूषणी का महत्त्व विशिष्टाद्वैत में है। इस ग्रन्थ में दोड्डाचार्य या महाचार्य की प्रौढ टीका का नाम चण्डमारुत है।

२१ श्रीस्तुति — यह स्तोत्र मन्दाक्रान्ताछन्द में लिखा गया है। इसमें २६ पद्य हैं जिनमें लक्ष्मी का स्तवन किया गया है। यमुनाचार्य के श्रीस्तव से प्रेरणा लेकर इसका निर्माण किया गया है। सम्भवत जब रामानुजसम्प्रदाय दो मार्गों में बट गया था तब इसका सृजन हुआ। इस पर बडगले विचारधारा की छाप अधिक है। महाचार्य ने इसका बहुत महत्त्व दिया है। इस पर संस्कृत और तमिल में दो टीकाएँ हैं।

२२ सकल्पसूर्योदय— यह एक प्रकार का नाटक है, जो प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के अनुसार लिखा गया है, जिसमे रामानुजदर्शन का आश्रय विशेष रूप से लिया गया है। इसमें कुल १० अक हैं। इसमे पद्यों की भरमार है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी यह नाटक विशेष महत्त्व रखता है। वेदान्तदेशिक की जीवनी से सम्बद्ध अनेक घटनाएँ इससे प्रमाणित होती है। इस पर प्रभावली नाम की टीका ५ अक तक प्रकाशित हुई है। किसी नारायणनामक[16] व्यक्ति ने इस पर सस्कृतटीका लिखी थी। एक टीका अहोबिल के घालताताचार्य[17] तथा एक किसी रामानुज ने भी लिखी थी। महाचार्य ने इस नाटक की बहुत प्रशसा की है। यह नाटक रगमच पर अभिनीत हुआ है। महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्य तथा उनके शिष्यों ने इसका अभिनय किया।

२३ सर्वार्थसिद्धि— यह टीका, तत्त्वमुक्ताकलाप ग्रन्थ पर वेदान्तदेशिक द्वारा स्वय लिखी गई है। इसमे मुक्ताकलाप में पदार्थों का विस्तार तथा पर मत विरुद्ध तर्क एव स्वसिद्धान्तानुकूल तर्क बड़े पाण्डित्य से दिये गये हैं। इस टीका के बिना तत्त्वमुक्ताकलाप का अध्ययन बहुत ही कठिन है।

२४ सेश्वरमीमासा — यह जैमिनी द्वारा लिखित पूर्वमीमासासूत्र पर विशेष प्रकार की विवेचना है, जिसमे कर्मज्ञान का पूर्व पर सम्बन्ध दिखाया गया है। मध्य कालीन मीमासक ईश्वर की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। वहाँ ईश्वर का कार्य अपूर्व नाम का कर्मसस्कार कर देता है। वेदान्तदेशिक ने इस प्रकार के विचारों को नास्तिकता से पृथक नही माना है। वेदान्तदेशिक ने मीमासकों के अपूर्व को भगवान् की मात्र इच्छा शक्ति[18] बताया जिसका लक्ष्य जीवात्मा पर दया या अनुग्रह है। यह ग्रन्थ केवल प्रथम अध्याय के दूसरे पाद तक मिलता है, जिसमे केवल ८४ सूत्रों पर व्याख्या है। इस ग्रन्थ का निर्माण न्यायपरिशुद्धि और तत्त्व-मुक्ताकलाप[19] के पश्चात् हुआ है। वेदान्तदेशिक के अनुसार धर्म ईश्वर का सकल्प है, जो जीव के मोक्ष के लिए बना है। कुमारिल भट्ट के अनुसार यज्ञ ही धर्म है। यह ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत के बडगल शाखा से सम्बन्धित है।

२५ सुभाषितनीवी — यह सुभाषितग्रन्थ है।

२६ हस सन्देश — यह सन्देश काव्य है जैसे कालिदास का मेघदूत, परन्तु यह दार्शनिक प्रतीक काव्य भी है।

२७ न्यासदशक — यह शरणागतिनामक की पुस्तक है, जिसमे कुल १० श्लोक हैं। इसमे भगवान् वरदराज को सम्बोधित किया गया है, इसलिए काजीवरम् मे निर्मित प्रतीत होता है। यह उनके जीवन के पूर्वार्द्ध काल मे लिखी गई है। उनकी उक्ति स्मरणीय है—

मां मदीयं च निखिलं चेतनाचेतनात्मकम्।
स्वकैकर्योपकरणं वरद स्वीकुरु स्वयम् ॥

महाचाय न इसकी बडी प्रशसा की ह। इस पर श्रीनिवासाय तथा तारया चाय ने भाष्य लिखे हैं। इस ग्रन्थ का नित्य पाठ किया जाता है।

२८ न्यासविंशति — यह पुस्तक भी न्यासविद्या से सम्बन्धित है। इसमे कुल २० स्रगधरा छन्द हैं। रामानुजाचाय और यामुनदेशिकाचाय की प्रपत्तिविद्या का साराश इसमे सन्निहित ह।

२९ न्यासतिलक -- यह श्रीरगनाथ से सम्बन्धित न्यासग्रथ ह। इसम मात्र ३२ पद्य हैं। इस पर सस्कृत म दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। तमिलभाषा म तारयाचाय की टीका प्रसिद्ध है। इसका प्रकाशन वदान्तदेशिकग्रथमाला मे काची से भी हुआ ह।

वेदान्तदेशिक का तुलसी से सम्बन्ध

तुलसी स पूव वेदान्तदशिक के ग्रन्थो का प्रचार दक्षिण और उत्तर दोनो भागो मे हो चुका था। वैष्णव और अवैष्णव सिद्धान्त और पूव पक्ष के रूप मे इनका गम्भीर अध्ययन करते थे। रामानुजसम्प्रदाय की शाखा प्रतिशाखाएँ तो इनका अध्ययन करती ही थीं निम्बार्क और बल्लभमतावलम्बी भी इनका स्वाध्याय तथा समथन करत थे। ऐसा तत्-तत् साम्प्रदायिक रचनाओ से ज्ञात होता है। तुलसीदास को निजगुरुपरम्परा से ही इनका सिद्धान्त ज्ञात हुआ। यद्यपि इनकी गुरुपरम्परा कुछ अशो का त्याग कर 'वाद' के लिए ही वेदान्तदशिक का अध्ययन करती थी तथापि यतिराज श्री अच्युतशतक आदि स्तोत्रो को स्वीकारकर पाठ भी करती थी। रामानन्द के पूववर्ती विद्वानो पर तो प्रभाव वेदान्तदेशिक का था ही स्वामी रामानन्द पर भी शिवोपासना की दृष्टि से वेदान्तदेशिक के न्यासविंशति का प्रभाव दिखायी पडता ह। वेदान्तदेशिक ही प्रथम आचाय हैं जो शिव को विष्णुपरिवार म मानते हैं। शिव केवल भक्त ही नहीं हैं, ब्रह्मा के पुत्र और विष्णु के पौत्र भी हैं, यह तथ्य रघुवीर गद्य म दशनीय ह। सद्धान्तिक दृष्टि से तुलसी और रामानन्द को समझने के लिए वेदान्तदेशिक और उनकी कृतियो का अवबोधन आवश्यक है। इसलिए पूव प्रसग म उनका व्यक्तित्व तथा कृतित्व का निर्देशन किया गया ह।

गोस्वामी तुलसीदास का व्यक्तित्व और कृतित्व

वातावरण — मानव के व्यक्तित्वनिर्माण म वातावरण, परम्परा एव रक्त का प्रमुख हाथ रहता ह। इनमे से किसी एक की प्रधानता सम्भव है, किन्तु वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परम्परा सास्कृतिक पृष्ठभूमि है, जो पूवजो से प्राप्त होती है। रक्त का अथ वशानुक्रम स सम्पृक्त है। लोकनायक तुलसी रक्त एव सस्कृति की दृष्टि से उदात्तपरम्परा स सम्बद्ध थे। उनका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था जो कुलीन था। बचपन म ही परिवारच्युत हो जाने के कारण घर से उन्हें

कुछ न मिला, परन्तु ब्राह्मण एवं वैष्णव समाज ने उन्हें बहुत कुछ प्रदान किया था। सांस्कृतिक समृद्धि उनकी अतुलनीय थी। उनकी महानता के घटकों में ये दोनों तत्त्व महत्व हैं। उनकी सक्रियता में, जिन परिस्थितियों ने प्रेरणा दी थी, उनमें राजनैतिक परिस्थिति ही ऐसी है, जो धर्म और समाज दोनों को आन्दोलित करती हुई विवेकशील व्यक्ति को जगाने, क्षुब्ध करने तथा कुछ कर दिखाने के लिए उकसाती थी।

राजनीति और जनता

आर्यशासनपरम्परा में जनता पुत्रवत् समझी जाती थी। राजा का दायित्व था कि प्रजा की जीविका एवं रक्षा की व्यवस्था करे। राष्ट्र की रक्षा के लिए उचित कर पुष्प चयन की तरह जनता से प्राप्त करे। आर्यावर्त के दुर्भाग्य से या परस्पर शासकीय वैमनस्य एवं लोलुपता से भारत के स्वातन्त्र्य की ईंट खिसकने लगी। अरब आक्रमण से दाहिर की पराजय हुई। दाहिर के अन्त के बाद पश्चिमी प्रदेश अरब शासकों के हाथ लग गया। वहाँ की शासनव्यवस्था कासिम के द्वारा सम्पन्न होने लगी। यद्यपि कासिम का शासन एक सीमा तक उदार था परन्तु धर्म परिवर्तन, हिन्दू ललनाओं का शील हरण, देवालय का पतन और मस्जिदों के निर्माण में सम्पूर्ण शक्ति एवं मनोयोग से सचेष्ट था। हज्जाज के उत्तराधिकारी के पास दाहिर की पुत्रियों का सम्प्रेषण एवं खलीफा[31] द्वारा उनके शीलहरण का प्रयास और उनके द्वारा विरोध किया जाने पर उन्हें जीवित दीवारों में चयन करा देना ऐसे कार्य थे जो मुस्लिम राजनीति को समझने में प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं। यह राजनीति आकस्मिक न थी शरा के अनुकूल थी, इसीलिए सभी धर्मभीरु मुसलमान सम्राट या अधिकारी लगन के साथ इस कृत्य को पुण्यकर्म मानकर इसका अनुष्ठान करते थे। अकबर और जहाँगीर आंशिक उपेक्षा दिखाने के कारण ही काफिर कहे जाते थे। उनके काल में भी धर्मपरिवर्तन छोटी जातियों में प्रचुर मात्रा में हुआ। जिसमें राजपूत सुल्तान भक्त राजाओं ने सहयोग भी किया। यह धार्मिक नीति थी न कि राजनीति जो धर्मनिष्ठ सुल्तानों द्वारा अपनायी गयी थी। राजनीति तो मुहम्मदगोरी अलाउद्दीन खिलजी और बलबन आदि के द्वारा अपनायी गयी जहाँ हिन्दू मुसलमान दोनों पर अत्याचार हुए उदाहरण के लिए फिरोज शाह एक धार्मिक[32] शासक था। उसने अनेक आर्थिककर समाप्त किये, शरियत के अनुसार नियम बनाए परन्तु एक जुनारदार (जनेव पहननेवाला ब्राह्मण) इसलिए जीवित जला दिया गया कि वह अपना ब्राह्मणधर्म परिवर्तन करने को तैयार नहीं हुआ। आग उसके पैरों की तरफ से लगायी गयी। यह पुण्य कर्म नमाज के बाद हुआ।।

इस धार्मिक सुल्तान की प्रशंसा में इतिहासकार बरनी लिखता है — जुनारदार[33] क्षण भर में जल गया। शरियत की कठोरता को धन्य है कि शाह शरा का क्षण भर भी उल्लंघन न करता था।।

इस्लाम के बन्दों को अधिकार राज्य की तरफ से था कि अन्य धर्मवालों पर जोर जुल्म से अपना धर्म को लाद सकते थे, किन्तु काफिरों को अपने धर्म की बारीकी समझा बुझा कर किसी को मुसलमानी से काफिर बनाना अक्षम्य अपराध, ब्राह्मण होना भी मुसलमानी शासन में अपराध था। सुल्तान फिरोज शाह ने स्वयं कहा था 'यह बात साधारणतः मिथ्या प्रसिद्ध हो गयी है कि जुनारदारों से जिजिया न ली जाय। जुनारदार कुफ्र[53] की कोठरी की कुंजी है। काफिर उनके भक्त होते हैं। सब प्रथम उसने जिजिया लिया जाय तथा क्षमा न किया जाय।' सभी[36] शरीअत तथा तरीकृत के अधिकारियों ने फतवा दिया कि जुनारदारों तथा ब्राह्मणों को अपमानित करके जिजया लिया जाय।" जो व्यक्ति मुसलमान होता था उस पर राज्य कृपा विशेष होती थी। कुतू–तिलागना का हिन्दू, मुसलमान बनकर राजधानी की शोभा बढ़ाने लगा। यद्यपि वह पढ़ा लिखा नहीं था, परन्तु हिन्दुओं से बुद्धिमान् था। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने उसे वजीर बनाया, जो हिन्दू जनता पर अपनी कठोरता के लिए प्रसिद्ध था। बरनी के अनुसार किवामुलमुल्क मुक्तों से बड़ी जहाँ निष्ठुरता करता। शाही खजाने में अपार धन सम्पत्ति जमा करा लेता। ख्वाजाए केवल नाम मात्र को था।'

इस्लामी[54] सेना हिन्दुओं पर विजय प्राप्त कर सामूहिक वध करती थी। मीर कासिम ने केवल दो हजार सैनिकों का वध किया था किन्तु फिरोज ने १० हजार हिन्दुओं का वध कराया था। जफरनामा के अनुसार— उनके शरीर तथा रक्त से पर्वत एवं नदी बन गयी। अमन उनके घरों में आग लगा दी गयी। भवनों को भूमि के बराबर कर दिया गया। उस किले से जो कुछ भी सोना चांदी घोड़े तथा धन लूट द्वारा प्राप्त हुए उसे साहेब किरान ने सैनिकों को प्रदान कर दिया[55]।'

ये मुसलमान शासक गाँवों पर भी आक्रमण करते थे। उन्हें लूट कर अग्निदाह लीला करते थे। शनिवार २७ (२ दिसंबर) को शाही आदेश हुआ— आक्रमण करें। सेनावालों ने काहीकाजी ग्राम से जहानुमा तक आक्रमण किया और वहां के निवासियों की हत्या करदी। तथा उन्हें बन्दी बना लिया। विजयी होकर वे वहाँ से खुश खुश वापस हुए।'[56] जहाँ हिन्दू मुसलमान दोनों होते थे, वहाँ केवल हिन्दू जनता पर ही अत्याचार किये जाते थे। मुसलमान पृथक करा लिये जाते थे' आदेश हुआ कि मल्लूखा के सवकों तथा उस किले के निवासियों में से जो मुसलमान हों उन्हें पृथक्कर दिया जाय और अधर्मी अग्नि पूजकों को तलवार के घाट उतार दिया जाय। कोट के सभी निवासियों को धर्यदों को छोड़कर, तलवार के घाट उतार दिया गया। किले में आग लगा दी गयी[57]।'

बन्दियों का वध भी निर्दयता से होता था यदि वे हिन्दू होते थे। 'सिन्धतट से १ लाख हिन्दू अग्निपूजक तथा मूर्तिपूजक बन्दी बनाये जा चुके हैं। शाही

आदेश हुआ कि शहर में जितने भी हिन्दू हैं उनका वध कर दिया जाय। जो कोई इस पालन करने में विलम्ब करे उसका भी वध कर दिया जाय। शाही आदेशानुसार कम से कम १ लाख अधर्मी हिन्दू जेहाद की तलवार द्वारा मार डाले गये। बादशाह ने यह भी आदेश दिया कि लूट में प्राप्त हिन्दू स्त्रियों, बालकों एवं उनकी सम्पत्ति की रखवाली एक व्यक्ति ठहरकर करें।'

यह नृशंसता धार्मिक सुल्तानों के द्वारा हुई जो शरियत और तरीकत के पाबन्द थे किन्तु जो स्वार्थ की प्रधानता मानते थे, उनके यहां इससे भी अनेक गुनी अधिक हुई। मुहम्मद गौरी महमूद गजनवी, अलाउद्दीन खिल्जी सिकन्दर लोदी आदि के शासन में किस मात्रा में लूट खसोट वध, मन्दिर विनाश एवं स्त्री विनाश किये गये कहा नहीं जा सकता। तमूर के सेनापति जहाँ भी गये अपने अत्याचार हिन्दुओं पर ही किये। मुसलमानों में शाही परिवार के लोग ही यह मर्मान्तक पीडा भोग सके थे। अकबर और शेरशाह के अतिरिक्त समस्त मुसलमान बादशाहों ने हिन्दुओं को अपना शत्रु माना। अकबर ने भी उन्हीं को अपना मित्र बनाया जो उसकी विजय में सहायक होते थे। मानसिंह टोडरमल और बीरबल[67] आदि इसीलिए विशेष प्रतिष्ठित थे। रानी दुर्गावती को विश्वास में लेकर उस पर आक्रमण किया गया था। हिन्दुओं के सामने गाय की खाल या मांस युद्धभूमि में फेंके जाते थे जिससे वे हिम्मत हारकर भाग जावें। संक्षेप में मुस्लिम राजनीति नग्नता क्रूरता, छलकपट की राजनीति थी जो धर्म की ओट में विनाश कर रही थी।

धार्मिक वातावरण

मुसलमान आक्रमणों ने देश की धार्मिक रीढ़ को दुर्बल बना दिया। तलवार के बल पर शासकवर्ग सामान्य जनता को इस्लाम धर्म में दीक्षित करने लगा। मुसलमानेतर लोगों पर जजिया नामक करविशेष थोप दिया गया। मुसलमान धर्म स्वीकार करने पर विशेष सम्पत्ति तथा छूट मिलने लगी। मूर्तिपूजा पर प्रहार[67] होने लगा था। मन्दिर धराशायी हो रहे थे। मूर्तियों को तोड़कर शासक वर्ग पुण्यलाभ कर रहा था। मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित किया जा रहा था। प्राचीन धर्मग्रन्थों को जनता के सामने जलाया जा रहा था। जनता निरीह बनकर यह देख रही थी। उसे चित्कार करने का अधिकार भी नहीं था।

वर्णाश्रमव्यवस्था टूटती जा रही थी। गुह्यसाधना एवं वाममार्ग अनाचार-करते हुए फलते जा रहे थे। कृत्रिम पंथ तथा पाखण्डपूर्ण संन्यास जनता के सिर बलात् चिपक गये थे। बिना त्याग और वैराग्य के ही संन्यासी केवल वेश बनाकर सत्कृत हो रहे थे। मठों की सम्पत्ति भोग विलास एवं कलह में समाप्त हो रही थी। अनपढ़ संत एवं योगी अलख समाधि और नादबिन्दु का गुणगान कर प्रत्यक्ष सत्य को भी मिथ्या घोषित कर रहे थे। हिन्दू समाज के वर्णाधार ही हिन्दू धर्म

-की रीढ़ गृहस्थ आश्रम को पानी पीकर कोस रहे थे, उसमें नाना प्रकार के दोष दिखा रहे थे, जबकि हिन्दू धर्म की पुस्तकों में उसे सब आश्रमों का केन्द्र माना गया है। अन्य आश्रमों से उसे अधिक महत्त्व दिया गया है। धर्म में संन्यासियों को दान, भोग एवं वैभव से विरति का उपदेश दिया गया है, वे इसे भुलाकर सब प्रकार के दान स्वीकार कर रहे थे। दूध, घी भाँग, गाँजा तथा अन्य पौष्टिक आहारों[a] का खुल कर प्रयोग संन्यासी समाज में हो रहा था। संन्यासी होना कभी बड़ा कठिन कार्य था। तुलसी के आविर्भाव काल में लोभवश संन्यासी बना जाता था। प्रच्छन्न रूप से इस्लाम धर्म हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होने लगा था। हिन्दूप्रेम कथाओं एवं देवी देवताओं को माध्यम बनाकर सूफी मुसलमानी पन्थ रहे थे। हिन्दू मुसलमान पीरों की पूजा करने लगे औलिया और मुल्ला उन्हें उपदेश देने लगे थे। पाँचों पीरों की पूजा होने लगी थी। मकबरा दरगाहों एवं कब्रों की सिज्दा ही नहीं करते थे, वे मुल्लाओं से झाड़फूंक के अलावा कान भी फुकवाने लगे थे।

'ब्राह्मणों के पास वाग्युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नहीं था। संन्यासियों एवं वैष्णवों के भाले एवं गड़ासे विधर्मी यवनों की सेना का नहीं, स्वजनों का शिर उड़ाने लग गये थे। उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत का शैववैष्णवयुद्ध आज भी ५२ अखाड़ों के इतिहास में पढ़ा जा सकता है। शंकराचार्य ने मठों पर ध्यान हिन्दुत्व की रक्षा के लिए दिया था, तब मठ ही धर्म के प्राण ले रहे थे।

हम साधुओं के युद्धों में वेश बदल कर मुसलमान भी लड़ते थे। एक सम्प्रदाय में संत ही परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध विषवमन करते थे। दण्डी के विरुद्ध त्रिदण्डी, एक दण्डी के विरुद्ध दशनामी नागा और उनके विरुद्ध वैरागी ही नहीं, वैरागी भी एक दूसरे के विरुद्ध नीचा दिखाने के लिए भिड़ते थे। नाना प्रकार के कल्पितशास्त्र रचे जाते थे जिसमें वर्णाश्रम एवं गृहस्थों की निन्दा की जाती थी। यद्यपि वैरागी समाज के गुरु रामानुजी या गोस्वामी गृहस्थ थे किन्तु जनता में वे घूम घूम कर प्रचार करते थे कि गृहस्थब्राह्मण से शिष्य बनने वाला नरक में जाता है। 'गृहस्थ-ब्राह्मण संसारसागर में स्वयं भी डूब जाता है और अपने शिष्य को भी डुबो देता है। पाषाण की नाव दूसरों को क्या पार उतारेगी? वह तो स्वयं ही डूब जाती है।' इस प्रकार वर्णाश्रमधर्म के कर्णधार विद्वान् गृहस्थब्राह्मण भी इन पाखंडी महात्माओं के द्वारा निन्दित एवं अपमानित हो रहे थे। मोक्ष के लिए ज्ञान आवश्यक है, किन्तु इन महात्माओं की बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान में शास्त्रज्ञान व्यर्थ एवं मिथ्या था। केवल आत्मज्ञान ही सत्य था। वास्तव में यह नूतन कल्पित विचारधारा भी आर्य धर्म के पतन में विशेष कारण बनी। इस विचारधारा ने विद्वान् ब्राह्मणों के ऊपर अनास्था जगाने में विशेष कार्य किया जो आज भी बनी हुई है। उस जमाने में केवल गैरिक वस्त्र पहनना एवं लुंचित या मुण्डित होना पर्याप्त था। उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वश्रेष्ठ की

उपाधि मिल जाती थी। ये मनमाना उपदन दे सकते थे शास्त्रों को अप्रमाणित सिद्ध कर सकते थे मूख शूद्र होकर भी विद्वान् तपस्वी एव निर्लोभी गृहस्थ को गालियाँ सुना सकते थे, शाप का भय दिखा सकते थे। मिथ्याचार पाखण्ड लोभ और दम्भ का बोलबाला धार्मिक जगत् म फला हुआ था। धार्मिक स्थिति चिन्तनीय हो गई थी।

सामाजिक वातावरण

धम था, जो मेरु का कहा जाता है स्थिति शोचनीय हो जाने के कारण समाज भी व्यवस्थाविहीन हो गया था। मर्यादा टूट चली थी। गुरुशिष्य का सबध लोभकपट से सयुक्त हो गया था। मातापिता पुत्रों से उपेक्षित थे। सतीत्व खतरे मे था। कुलवधूएँ रूपजीव्या बनकर धन जोड रही थीं। विधवाओं पर नाना प्रकार के अत्याचार होते थे। शिक्षा समाज से नाता तोड चुकी थी। मुट्ठी भर ब्राह्मण और कायस्थ तथा कुछ व्यापारी साक्षर थे। मूख ब्राह्मणों के हाथो म धम की पतवार थी। श्रद्धाविहीन लोग स्वाथवश यज्ञ और दान करते थे। क्षत्रिय भी केवल दुबल प्रजा पर साढेसाती लगाए थे। गौ ब्राह्मण दुबल रक्षणाथ क्षत्रित्व लुप्त प्राय था। वश्य और शूद्र वग भी किसी प्रकार जी लेता था। राज्याश्रय के अभाव म उन्हें नाना प्रकार के अत्याचारो को किसी प्रकार सहना पडता था। शूद्रो और निधनो की मानसिक एव आर्थिक स्थिति हीनतर थी। रीतिरिवाज जो बहुत ही वैज्ञानिक थे अब विरूप बन गये थे। सक्षेप मे हिन्दू समाज जजर हो गया था। एक हल्के टक्कर[2] से ध्वस्त होन की स्थिति म था। वह पाल एव पतवार विहीन नौका जैसी अवस्था मे, समय के चक्रवात म गोताखाने वाला था। ऐसी स्थिति म पडे समाज म लोकनायक तुलसी ने माता की गोद सनाथ की।

साहित्यिकदशा

आश्रय दाताओ के अभाव में साहित्यिक ममता की भाग्यरेखा राहुग्रस्त थी। दोहे सोरठे कडवक और गाथाएँ कबीरपन्थी और नाथपथी साधु तुक जोडकर बना रहे थे। इन दोहा म औदार्य का अभाव[68] था। मर्यादा तोडने केलिए छटपटाहट थी। भगवान् के सुलभ, सुगम रूप पर छीटाकसी थी। सुन्नमहल, अष्टकँवल[69] इडापिंगला, आदि पदाथ[70] चर्चा के विषय थे। वीरकाव्य प्रबन्धकाव्य लिखने केलिए किसी के पास उत्साह नही था। प्रेम के नाम पर कुछ पुस्तकें जनता को ठगने के लिए लिखी जारही थी। साहित्य दुदशाग्रस्त था। अब चन्द्रवरदायी की ललकार उसमे नही थी। व्यास की लोकविधायिकावाणी का अभाव था। बाल्मीकि की मर्यादा म रहने वाली सरस्वती सूख कर सकतभूमि बनी थी। ऊभडखाभड पचमेल भाषा ही गँवार नारी की तरह कक्श कण्ठ से आकाशपाताल एक कर रही थी। भाव औचिती एव रीति का अभाव था। उसका सत्य भी सन्देहास्पद था। इसका मूलकारण अशान्त असहिष्णु और अव्यवस्थित वातावरण था। तुलसी की पैनी दृष्टि

स्मपर गड चुकी थी। उन्होंने वह काय किया, जो आज तक किसी ने न किया। उनकी लेखनी और कल्पना से प्रसूत रामचरितमानस और विनयपत्रिका जसे ग्रन्थ नि शेष अभावों की पूर्ति करने में सफल हुए। ये जनजन के कण्ठ का हार तो बने ही निराश जीवन के लिए सम्बल भी सिद्ध हुए। इसी भयावह स्थिति में तुलसी की प्रतीक्षा थी।

जीवनवत्त

"यह बडे खेद की बात है कि इतनी खोज के बाद भी हमारे कवि के बारे में निश्चय नहीं हो पाया है। कवि की कृतियों में कोई भी ऐसा साक्ष्य नहीं है जिसकी सहायता से हम किसी हद तक निश्चय के साथ कवि की जन्मतिथि निर्धारित कर सकते।"[1] राममुक्तावली में अवश्य ऐसी पंक्ति आनी है जिसके आधार पर स्व० जगमोहन वर्मा का कहना था कि कवि १२० वष तक जीवित रहा और इसलिए उनकी जन्मतिथि १५६० होनी चाहिए।"

डाक्टर माता प्रसाद के अनुसार उक्त ग्रन्थ गोस्वामी तुलसीदास की कृति नहीं है कारण कि उसकी शैली विचारधारा तथा छन्दयोजना सभी के आधार पर उनका यह विश्वास है। दूसरा तक उनका यह है कि यदि १२० वष की अवस्था की घटना का उल्लेख कवि इस पंक्ति में कर रहा है तो अवश्य ही यह पंक्ति १२० की अवस्था के बाद लिखी गयी होगी। डाक्टर गुप्त का तक दुबल प्रतीत होता है क्योंकि शैली और छन्दों को ही नियामक माना जाय तो बालकाण्ड विचार और काव्य प्रौढ़ी की दृष्टि से सबसे अन्तिम रचना होनी चाहिए और डाक्टर गुप्त द्वारा प्रतिपादित अध्यात्मरामायण की विचारधारा बालकाण्ड में ही सर्वाधिक है परन्तु इसे डाक्टर माताप्रसाद अपनी किसी भी रचना में स्वीकार नहीं करते इसलिए उक्त तक में उनके ही वचन का व्याघात है। दूसरा तक भी दुराग्रह ग्रस्त है। यह विश्वास न करने का कोई कारण नहीं है कि तुलसीदास को १२० वष के पूव हनुमान् की दिव्यशक्ति से बोध हो गया था कि १२० वष के पश्चात् शरीर बदलना है। सामान्य जन्मपत्रिया में भविष्य वाणियाँ सच होती हैं इतिहास के पृष्ठों पर फिरोजशाह ४० वष हुकूमत करेगा लिखित है तब तुलसी पर अविश्वास क्यों? (यदि यह भविष्य वाणी घट गयी हो।) एक अन्य आपत्ति उठायी गयी है कि मानस जसे उत्कृष्ट काव्य वृद्धावस्था में लिखा जाना दुष्कर है। परन्तु अद्यावधि भारत में सन्त समाज अन्तिम अवस्था में भी प्रौढ रचनाएँ सुगमता से लिखता है, काशी, नादिया और कांची में जाकर कोई भी देख सकता है। जब स्वामी हरिहरानन्द करपात्री तथा अनिवादिभयंकर अनन्ताचाय सत्तर से अधिक वय भोग चुके हैं, परन्तु उनके लेखन क्रम में विराम नहीं आया, तब तुलसी जसे सिद्ध व्यक्ति के लिए इस कठिनाई का कोई प्रश्न ही नहीं।

मेरे विचार से जगमोहन वर्मा के मत को ही तुलसी की जन्मतिथि मान लेना अधिक उपयुक्त है। मूल गोसाईचरित अप्रामाणिक कृति है, इसलिए उसकी तिथि स्वीकार्य नहीं। घटरामायण के लिखने वाले तुलसी साहब की बात भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह व्यक्तिनिष्ठ तो है ही वदिक तुलसी का अवदिक सन्त होना भी असम्भव है। यदि डाक्टर गुप्त का कथन है कि यह निरपेक्षपरंपरा के साक्ष्य पर आधृत है इसलिए स्वीकार्य है तब उन्हें उस परंपरा का निरपेक्ष भी सिद्ध कर देना चाहिए था। मुख से कही जाने वाली बात ज्योतिषी से पुष्ट कराकर क्या नहीं कही जा सकती? क्या ज्योतिषियों में उत्कोच लेकर भ्रष्ट जन्मपत्र बनाने वाले नहीं हैं? उक्त तिथि मान लेने पर जनता का यह विश्वास कि तुलसी पूर्णायु थे नष्ट हो जाता है जो परम्परा से चला आरहा है। पूर्णायु १२० से कम नहीं होती। यदि विश्वास पर ही चलना है, तो रामभुक्तावली पर विश्वास करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। ग्रियसन की मान्यता भी कोई अनुश्रुति और विश्वास पर ही आधारित है। विल्सन और तासी की मान्यता कि जन्मतिथि स० १६०० है व्यावहारिक नहीं है। वे गृहत्याग के बाद लिखने ही नहीं बैठ होंगे, ज्ञान प्राप्ति और शांति के लिए इधरउधर भटकते होंगे। शिवसिंह सेंगर ने स्वयं 'लगभग' शब्द का प्रयोग कर अपनी स्थिति स्पष्ट करदी है।

तुलसी का कुलविचार

तुलसीदास का जन्म ब्राह्मणवर्ग के कुलीन परिवार में हुआ था। यह तथ्य अन्त साक्ष्य पर आधारित है। उत्तर भारत में कुलीन ब्राह्मण मोटे तौर पर पाँच प्रकार के माने जाते हैं— कान्यकुब्ज गौड़ सारस्वत उत्कल और मैथिल। तुलसी के कुल के सम्बन्ध में केवल कान्यकुब्ज और गौड़ शाखाओं में विवाद है। कान्यकुब्ज की अनेक शाखाएँ हैं किन्तु कनौजिया और सरवार विशेष प्रसिद्ध हैं। सरवार, सरवार सरजूपार सरजूपारी और सरजूपारीण समानार्थक हैं। गौडों की अनेक शाखाएँ हैं सनाढ्य भी उनमें से एक है। लोकविश्वास के आधार पर विद्वानों का मत है कि वे सूरजपारीणब्राह्मण[२] थे। श्रीभागीरथप्रसाद दीक्षित उन्हें कनौजिया मानते हैं, जिसका विरोध करते हुए डा० माताप्रसाद लिखते हैं— किन्तु वाजपेयी का प्रयोग कवि ने कहीं किसी ब्राह्मण उपजाति के अर्थ में कदाचित् नहीं किया है वरन् सोमयाजी के तुल्य वाजपययाजी के लिए किया है।'

सोरों की परंपरा उन्हें सनाढ्य तथा सुकुल मानती है। इस विषय में डा० माताप्रसाद का निश्चय ही मान्य है कि सुकुल का अर्थ भले कुल ही लेना चाहिए, खींचतान कर शुक्ल अर्थ नहीं निकालना चाहिए।' मिश्र बन्धुओं का कान्यकुब्जिया के पक्ष में दिया गया तर्क विरोधाभास से भरा है। सरजूपारी का विवाह सोलह मुख्य गोत्रों में बिना भेदभाव होता है यदि वह कुलीन हो और मातापिता का

['तुलसीसाहित्य की ववारिदपीठिका'

सगोत्री न हो।[73] शास्त्र के अनुसार किसी भी सहगोत्री ब्राह्मण से विवाह मान्य है यदि वर, कन्या के कुल से हीन न हो। पाठक, दूबे आदि सभी ब्राह्मण कुलीन और मध्यम दर्जा प्रकार के हैं। रूढ़ि तीन तेरह का विचार करती थी, गर्ग गौतम शाण्डिल्य तीन में थे शेष १३ म। परन्तु इसका व्यवहार असम्भव था, क्योंकि सरजूपारी चार गोत्रों को बचाता है— पिता माता, पितामही और मातामही का। केवल तीन गोत्रों म विवाह ही असम्भव है।

माता पिता और गुरु

सम्भवत तुलसी का जन्म राजापुर के आसपास सरजूपारीण कान्यकुब्ज ब्राह्मण कुल म हुआ था। इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे तथा माता का नाम हुलसी[74] था। कुछ लोगों के मत स इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। तुलसीदास के बचपन का नाम रामबोला[75] था। बाल्यकाल[76] मे ही इन्हें निर्वासित होकर इधर-उधर भटकना पड़ा था। अकस्मात् इनकी भेंट नरहरिदास[77] नामक वैष्णव साधु से हुई। उनके साथ सूकरखेत[78] म कुछ समय निवास किया जहाँ उन्होंने रामकथा सुनायी। बालक होने के कारण रहस्य को समझने म, वे असमर्थ रहे। अवस्था बढ़ने के साथसाथ इनका शास्त्रज्ञान भी बढ़ा। तारुण्यप्राप्तिकाल तक वेदों, पुराणों आगमों और धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त महाकाव्यों तथा प्रबन्धों का भी अध्ययन उन्होंने कर लिया था। इनकी परम्परा विशिष्टाद्वैत की थी, इसलिए श्रीभाष्य तथा तत्त्वमुक्ताकलाप का अध्ययन भी अनुमानत किया था। श्रीभाष्य का पूर्वपक्ष अद्वैतवेदान्त है इस हेतु उसमें निष्णात होना भी आवश्यक था। अपनी रचनाओं म उन सभी शब्दावलियों का प्रयोग तुलसीदास ने किया है जिसे वेदान्त के विद्वान् ब्रह्म जीव और माया के प्रकरण म करते हैं। उन्होंने राम को वेदान्तवेद्य कहा है। तुलसी का धर्मनिरूपण पूर्वमीमांसा से मिलता है इसलिए रामायण लिखने से पहले तक पूर्वमीमांसा का ज्ञान उन्हें अवश्य हो गया था। वेदान्तदेशिक और लोकाचार्य मे स्वल्प सैद्धान्तिक मत-भेद है इसलिए इनका झुकाव उधर होना सहज था। वेदान्तदेशिक का पादुकासहस्र तथा रघुवीरगद्य उनके मानस मे झलकते हैं, इसलिए उसका ज्ञान भी उन्हें था।

विवाह

लौकिक और वैदिक साहित्य पर पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त कर तुलसी का मन रागग्रस्त हुआ होगा। शास्त्रत वैष्णववर्गी संन्यासी नहीं होते मात्र ब्रह्मचारी की तरह आचरण करते हैं इसलिए उन्हें गुरु ने विवाह करने की अनुमति दे दी होगी। रामानुजी[79] वैष्णव भी तरुणावस्था म विवाह करते हैं और आचार्य भी बने रहते हैं। वेदान्तदेशिक का जीवन भी इसी प्रकार का था। सामाजिक और धार्मिक प्रतिष्ठा म हानि न होने के कारण तुलसी ने कुलीनब्राह्मणपरिवार की लड़की स विवाह किया होगा, संन्यासी होने पर ब्राह्मणेतर मे ही विवाह सम्भव होता है।

तुलसी के श्वसुर चिन्तामणि पाठक विद्वान् थे । इसलिए इनकी पुत्री[80] रत्नावली पर भी विद्या और त्याग का प्रभाव था। वह जितनी विदुषी थी, उतनी ही सुशील और सुन्दरी। पत्नी का माधुर्य ही तुलसी को मोहासक्त करने में घटक बना था। कुछ लोगों का मत है कि तुलसी का विवाह नहीं हुआ था परन्तु अन्त साक्ष्य उनके विवाह की पुष्टि करता है। रत्नावली का लिखित साहित्य भी प्रकाश में आया है। उनका शृंगार तथा सीता का लास्य वर्णन उनकी अनुभूति का प्रतिबिंब ही है।

वैराग्य और यात्राएँ

गोस्वामी तुलसीदास का दाम्पत्य जीवन दीर्घकालीन न रहा पत्नी न व्यंग्यकर उन्हें वैराग्यजीवन की तरफ प्रेरित कर दिया इन्हें कोई सन्तान नहीं थी। विरक्त होने के बाद तुलसीदास ने समस्त तीर्थों और धामों की यात्राएँ की थी। अयोध्या, जगन्नाथ मथुरा श्रीरंग और रामेश्वर तक तुलसीदास न अवश्य यात्रा की थी। पर्यटन से समाज, राजनीति और धर्म का वास्तविक ज्ञान उन्हें हुआ था। यात्रा से सन्तुष्ट होकर चित्रकूट मे कुछ दिन उन्होंने भगवद्भजन किया था। सम्प्रदायविदों का विश्वास है कि वहीं उन्हें हनुमान और राम के क्रमश दर्शन लाभ हुए। वि० सं० १६२१ में अयोध्यानिवास के बाद तुलसीदास काशी में आगये।[81] वे अस्सीघाट तथा सकटमोचन[82] पर रहते थे।

तुलसी के मित्र और विरोधी

तुलसी के दो उच्चकोटि के मित्र थे— पं० गंगाराम ज्योतिषी[83] और राजा टोडरमल। टोडरमल के देहावसान के पश्चात् उनके पुत्रों में सम्पत्ति विभाजन तुलसी ने कराया था। तुलसी के हाथ का लिखा पंचनामा काशीराज के संग्रहालय में सुरक्षित है। ये राम के परम भक्त थे। इसलिए उनमें सहिष्णुता स्वत वेदान्तदेशिक की तरह ही थी। साम्प्रदायिक आधार पर तुलसीदास का घोर विरोध[84] किया गया था। सम्भवत जातिपांति और शैववैष्णवसंकीर्णता भी इस विरोध का निमित्त थी। शैव लोगों ने उन्हें अनेक प्रकार से कष्ट दिये थे। पंडित ब्राह्मणों ने भी तुलसी का घोर विरोध किया था। डा० माताप्रसाद[85] के अनुसार देवभाषा को छोड़कर भाषा में भगवान् का चरित लिखना भी कट्टर पंडितों के विरोध का कारण हो सकता था।

लोकसम्मान

काशी में तुलसी का सम्मान भी धीरेधीरे बढ़ रहा था। अन्त साक्ष्य के आधार पर सिद्ध होता है कि अनेक राजा महाराजा तथा सम्भ्रान्त वर्ग उनका सम्मान करने लगे थे परन्तु वेदान्तदेशिक की तरह इन्होंने सम्मान को अपने लिए हानिकर समझकर नम्रता प्रदर्शन ही करना उचित समझा।

गोस्वामी शब्द का रहस्य

गोस्वामी शब्द, गुरु, ईश्वर, सिद्धमहात्मा, अतीथजाति, या स्वामी केलिए, काशी के आसपास भोजपुरी क्षेत्र में आजकल भी, व्यवहृत होता है। यह कोई उपाधि नहीं है जाति अवश्य है। दसनामी महात्मा पथभ्रष्ट होकर गृहस्थ बन जाते हैं तब उन्हें गोसाई अतीथ या सण्डासी कहा जाता है। महन्ता को परमहंस, स्वामी महाराज गुरु महाराज, गुसया, फक्कडबाबा आदि नामों से जनता पुकारती है। तुलसीनाम धारी म जहाँ बसते थे, वहाँ सिद्धमहात्मा पाये जाते हैं। इसलिए जनता सामान्यभाषा म गुसया शब्द का स्वामी अर्थ मे प्रयोग ऐसे सिद्ध महात्मा केलिए ही करती है। तुलसी की उपाधि दास थी उसे गुरु न दी थी, जिसका उपयोग नाम की पुष्टि मे अपने दाता के साथ अवश्य करते हैं।

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त सैद्धान्तिक रूप से उन्हें वैष्णव की अपेक्षा स्मार्तमत[80] के अधिक समीप देखते हैं। वह इसलिए निष्कर्ष निकालते हैं— स्मार्ता म दसनामी सन्यासियो ने गोसाई शब्द अपने नाम के साथ लगाया था अतएव तुलसी के नाम के साथ भी यह शब्द जुड गया है वे अन्त तक स्मार्त नही बन रहे पीछे वैष्णव हो गये। शिवसेवको का उनके प्रति विरोध भी इसी कारण माना जाता है।' डाक्टर माताप्रसाद की कल्पना अमान्य है। दसनामी महात्मा स्मार्तो में हैं। उनकी उपाधियाँ गिरि पुरी भारती, सागर पर्वत सरस्वती वन तीर्थ अरण्य और आश्रम हैं। मठाम्नाय म गोसाइ कोई उपाधि नही है। स्मार्त गृहस्थ होता है सन्यासी नही, क्योकि एकादशी व्रत वैष्णव और सन्यासी लगभग एक जसा करते हैं। सन्यासी बनकर वैष्णव महात्मा बनना अव्यावहारिक है क्योकि रामानुजी और वैरागी उन्हें दीक्षा नही देते। दीक्षा होने पर पुन अग्नि को ग्रहण नही कर सकते। उत्तरी भारत म रामानुजी सन्यासी तब नही थे। रामानन्द तापस थे, सन्यासी नही। सन्यासियो का नामकरण प्राय आनन्दान्त होता है वैष्णवो का दासान्त। तुलसी पर रामानुजी संस्कार था उनकी रचनाओ से स्पष्ट है फिर बारबार मत बदलना उनके जसे प्रौढ विद्वान् केलिए उचित प्रतीत नही होता। दूसरी बात यह भी है कि विद्वान् और कुलीन तुलसी, एक दण्डी क्या नही बने वे गोसाई या आचार्य भ्रष्ट सन्यासी क्या बने जैसा कि दशनाम के दण्डी महात्मा गिरि पुरी आदि को मानते है? स्मार्तसन्यासी बनने पर तुलसीदास के बदले गोसाई तुलसी गिरि या सरस्वती आदि नाम का उल्लेख अद्यावधि किसी विद्वान् ने नही किया, इसलिए गोस्वामी शब्द को कोई साम्प्रदायिक शब्द मानना अनुचित है।

वल्लभाचार्य के गोस्वामी नाम के आदि और अन्त में आचार्य कुल म जोडते हैं अन्य किसी ब्राह्मण को न तो यह नाम मिला न किसी ने अपने मन से अपना नाम रखा फिर तुलसीदास को क्या मोह गोसाई से था कि वैरागी होकर अपने

नाम के आगे गोस्वामी लिखकर अपने को कुटिल, खल, कामी कहने वाले गोस्वामी लिखते। नाम की उच्चता की तो उन्होंने भर्त्सना की है। यदि नाम से मोह था, तो वैष्णवाचार्य तथा आचार्य को आगे पीछे लिख सकते थे और शंखचक्रांकित होकर आचार्य लिखने और बनने से उन्हें कोई रोक नहीं सकता था। सम्भव है कि वे रामानुजी महन्त बने हों, जैसे देवरहवा बाबा वैरागी होने के बाद बडगल रामानुजी महन्त बाद में बने। कुछ रामानुजी लोगों में ऐसा प्रवाद भी है। वेदान्तदेशिक मठ— केदारघाट, वृन्दावन के महात्मा परमहंस परिव्राजकाचार्य भगवान् दास जी जो देवरहवा बाबा के प्रथम शिष्य हैं, ऐसा विश्वास रखते हैं कि वे बडगल वैष्णवाचार्य हो गये थे। उनका एक मन्दिर भी था जिसका बडगलशास्त्रीय अवशेष रामानन्दी वैरागी लोगों ने समाप्त कर दिया । यह मन्दिर काशी में ही था।

मानस आदि कृतियों का निर्माण

तुलसीदास ने अपनी प्रौढ़ रचना रामचरितमानस के निर्माण के सम्बन्ध में स्वयं वि० सं० १६३१ स्वीकार किया है दोहावली और विनयपत्रिका उनकी बाद की रचनाएं हैं। *मानस का निर्माण सम्भवतः आंशिक रूप में अयोध्या में हुआ* था। तुलसी की अन्तिम रचना हनुमान् बाहुक है। दोहावली के कुछ दोहे मानस के हैं कुछ हनुमान् बाहुक के परवर्ती कालीन हैं। इनके समयों का यथा स्थान संकेत कर दिया गया है।

परमपद-प्रयाण

तुलसीदास ने वि० सं० १६८० के श्रावण माह में इस पार्थिव शरीर का त्याग किया था कुछ लोगों के अनुसार शुक्ल पक्ष की सप्तमी थी कुछ तृतीया मानते हैं। अधिकांश भक्त सप्तमी के पक्ष में हैं।

व्यक्तित्व

तुलसीदास उच्च कुल में उत्पन्न थे। उनकी शिक्षा पूर्ण हुई थी। गृहस्थ जीवन भी स्पृहणीय था। उनका त्याग अप्रतिम था। उनकी शक्तियां बहुमुखी थीं। यद्यपि वे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र न थे परन्तु बहुतन्त्रस्वतन्त्र अवश्य थे। उनकी काव्यप्रतिभा से कोई भी समालोचक अवश्य प्रभावित होता है। यद्यपि वेदान्तदेशिक पूर्ववर्ती हैं उन्होंने अपने गृहस्थाश्रम का आजीवन निर्वाह किया तथापि तुलसी का अल्प कालिक गृहस्थजीवन भी अविस्मरणीय है। तुलसी ने स्वान्तःसुखाय काव्य लिखकर भी लोक कल्याण का यश प्राप्त किया। तुलसी की प्रशस्ति भी अद्वैत के सम्राट मधुसूदनसरस्वती ने भूरिशः की है। तुलसीदास सहज वैराग्य होने पर ही घर छोड़ने के पक्षपाती हैं। उनके जीवन के मध्याह्न काल में अनेक विरोधों का सामना करना पड़ा। जहाँ तक धार्मिक विरोध का प्रश्न है, वह बाहर और भीतर दोनों तरफ था। वे निर्भीकता से उनका सामना करते रहे और अंत में सफल भी हुए।

तुलसी की रचनाएँ

तुलसी की कृतियों का काल प्रायः निर्णीत ही है। अनेक प्राचीन प्रतियाँ सुलभ हैं। पाठभेद भी डा० माताप्रसाद गुप्त के प्रयास से समाप्त हो गया है। उनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह का अवकाश कम है, केवल राम मुक्तावली पर ही डा० माताप्रसाद गुप्त सन्देह करते हैं, परन्तु महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज तुलसी की कृति मानते ही हैं। यहाँ इसी हेतु आवश्यक ग्रन्थों का जो प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की दृष्टि से आवश्यक हैं, संक्षिप्त परिचयमात्र दिया जाता है—

रामचरितमानस — यह कवि की सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वव्यापक कृति है। इसके नायक सूर्यकुलभूषण भगवान् विष्णु के मर्यादा-विधायक अवतार रामचन्द्र जी हैं। कथानक पर वाल्मीकि रामायण की छाप स्पष्ट है क्वचित् कल्पना से कथानक के पूर्वापर में परिवर्तन भी किया गया है। इसमें सत्य को मर्यादा के अन्तराल में रखा गया है। यह लोक प्रसिद्ध भक्ति प्रधान महाकाव्य है। ग्रन्थ के आदि अन्त में स्पष्टतः भक्ति को प्रतिपाद्य बताया गया है। इसका काल तुलसी ने स्वयं सम्वत् १६३१ विक्रमी बताया है।

गीतावली — कवि ने उसकी रचना तिथि का उल्लेख नहीं किया है। मूल गोसाइं चरित के अनुसार यह उनकी सर्वप्रथम कृति है। इसकी कथा वाल्मीकि रामायण पर पूर्णतः आश्रित है।

कवितावली— अन्तः साक्ष्य के आधार पर यह उनके जीवन के उत्तरार्द्ध की रचना कही जा सकती है। रुद्रबीसी तथा मीन के सूर्य के अतिरिक्त महामारी का स्पष्ट उल्लेख इसमें है, जिससे प्रमाण पुष्ट होता है। इसमें भी रामायण की कथा संक्षेप रीति से सर्वथा और कवित्त छन्दों में लिखी गयी है। इसमें कतिपय दृश्य गोस्वामी जी के आँखों देखे प्रतीत होते हैं।

दोहावली — इसकी रचना अनेक कालों में हुई प्रतीत होती है। परशुराम चतुर्वेदी ने अपने एक पत्र में इसकी रचना रामायण के बाद स्वीकार की है— 'यह स्वीकार करना होगा कि दोहावली में बहुत सी ऐसी रचनाएँ होंगी जो कवि के जीवन के अंतिम भाग से सम्बन्ध रखती हैं।'

हनुमानबाहुक— यह लघुकाय पुस्तक उनके जीवन के अन्तिम चरण में बाहुक नामक रोग से मुक्ति पाने के लिए हनुमानजी से प्रार्थना रूप में लिखी गयी है।

जानकीमंगल— डाक्टर श्यामसुन्दरदास के अनुसार इसका समय सं० १६४२ वि० माना है। इसमें जानकी के विवाह सम्बन्धी गीत हैं।

पार्वतीमंगल— इसका रचना काल भी १६४३ वि० सं० है। इसमें पार्वती के विवाह सम्बन्धी मंगल गीत हैं।

रामललानहछू— इस पुस्तक में रामचन्द्र के विवाह के नहछू अवसर नख-

खण्डनसम्बन्धी गीत हैं। शृंगाररस का अतिरेक इसमें पाया जाता है। यह उनकी प्रारम्भिक कृति है।

१. वैराग्यसंदीपनी — यह अपरिपक्व रचना है। इसलिए यह भी उनकी प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है। नाम के अनुसार वैराग्य परक वर्णन है।

विनयपत्रिका — यह गीता का संग्रह है जिसमें भीतकाव्य के सभी तत्त्व परिलक्षित होते हैं। इसका रचनाकाल सं० १६६६ के आसपास है। इसमें कुल २७९ पद मिलते हैं। डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "फिर भी १७४ पदों में जितने पद तुलसीदास के हैं, वे सब संवत् १६६६ और संवत् १६८० के बीच में बने होंगे। यह भक्तिप्रधान ग्रंथ है।

४. राममुक्तावली — इसमें ब्रह्म का निरूपण तथा मोक्षविद्या का क्रियापक्ष भी है। यह कवि की साहित्यिक कृति न होकर आध्यात्मिक कृति है। इसकी सबसे पुरानी प्रति वि० सं० १६८६ की है जो काशी के राजा के पुस्तकालय में है। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार— 'कृति निर्गुणब्रह्म के निरूपण से प्रारम्भ होती है और फिर सगुणब्रह्म का निरूपण करती है। इसमें राममंत्र के जप की विधि बतायी गयी है वह विचित्र है। नीचे इसके मध्य से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है, जिससे इसकी शैली विचारधारा तथा छन्द योजना का परिचय प्राप्त हो जाएगा।

मन्त्र विधि पहले नेर कहीं है। आसन भिन मन चारु चित धरी है।
सब्द कुलाके की सीं डारी है। विष्णु विष्णु के सुमिरन करी है।

'ऊपर के उद्धरण में पाठभ्रम स्पष्ट है और सम्भव है कि इसी कारण उस का अर्थ समझना सरल न हो फिर भी विचारधारा तुलसीदास की नहीं है यह समझना सरल ही है। शैली और छन्दयोजना भी स्पष्ट ही हमारे कवि की नहीं है। इसलिए यह रचना हमारे कवि की नहीं हो सकती।'

तुलनात्मक आकलन

दोनों प्रतिभाएँ भारत भूमि के उत्तरदक्षिण छोरों में पैदा हुई थी। एक को काशी, प्रयाग और अयोध्या ने ज्ञानगरिमा समर्पित किया तो दूसरी को काञ्ची श्रीरंग और तिरुपति ने विद्यावैभव से शृंगार किया था। एक को सवतन्त्रस्वतन्त्र होने का अवसर मिला था तो दूसरी को सर्वजनीन बनने का सुयोग। वेदान्तदेशिक को मातापिता मामा गुरु तथा आचार्य सभी के प्रेम का लाभ मिला तो तुलसी को मातापिता सगेसम्बन्धियों के अभाव में केवल गुरु पर ही भरोसा करके सन्तोष करना पड़ा। दोनों की पत्नियाँ साध्वी सुन्दरी एवं पतिपरायणा तथा विरक्त प्रकृति की थीं। वर्णाश्रम धर्मरक्षा, भगवद्भक्ति तथा वेदों पर अटूट आस्था दोनों की थी। दोनों ही वैचारिक अनाचार पाखण्ड एवं अल्पमता से क्षुब्ध थे। साधना की सिद्धि तक दोनों ने पूर्ण मनोयोग से अपना कार्य किया।

वर्णाश्रमव्यवस्था दोनों को प्रिय थी। भक्ति ही कलिकाल में श्रेयविधायिनी है, दोनों का सिद्धान्त था। पाखण्डपूर्ण शुष्कज्ञान का दोनों ने जम कर विरोध किया। तुलसी ने तो ज्ञान के हिमायती गोरख पंथी कनफटे साधुओं तथा संन्यासियों को फटकार भी दिया है जो निम्नलिखित उक्ति से स्पष्ट हो जाता है—

(१) गोरख जगायो जोग। भगति भगायो लोग।

(२) नारि मुई गृह सम्पति नासी। मुण्ड मुँडाई भयो संन्यासी।

(३) हम लख हमहिं हमार लख। हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखे। रामनाम लख नीच।

मुसलमानों की बर्बरता से त्रस्त भारतीय संस्कृति का त्राण दिलाने में दोनों तल्लीन थे। दोनों आचार्यों की कृतियों में आत्मनिवेदन मिलता है। वेदान्तदेशिक ने उत्तर भारत की यात्रा कर यहाँ के अकमण्य, ब्राह्मणों, संन्यासियों एवं महन्तों के सदाचार को अपने ग्रन्थों में विशेषकर सङ्कल्पसूर्योदय में आड़े हाथ लिया तो तुलसी ने जगत्प्रसिद्ध अपनी कृति रामचरितमानस में- 'सोचिय विप्र जो बेद विहीना'— लिखकर चिन्ता प्रकट की। वेदान्तदेशिक ने भी शास्त्रार्थ कर तथा वादग्रन्थों का निर्माण कर असद्ग्रन्थों की बाग पर वाघातघार किया, तो तुलसी ने अपनी उक्तियों में वेदविरुद्ध ग्रन्थों एवं शास्त्रार्थों पर कटूक्तियों से खड्गप्रहार का काम किया—

(१) पण्डित सोई जो गाल बजावा।

(२) जिमि पाखण्ड विवाद से लुप्त होहिं सद्ग्रंथ।

वेदान्तदेशिक ने दक्षिणी भारत में विशिष्टाद्वैती विचारधारा का प्रसार एवं पुष्टीकरण दक्षिणी विद्वानों में किया था किन्तु तुलसीदास ने वेदान्तदेशिक का अध्ययन कर उनके विचारों को आत्मसात् कर एक रसायन तयार किया जो रामरसायन की संज्ञा से जाना जाता है। उस रसायन को समस्त हिंदी जनता को समर्पित किया जो जनजन के कण्ठ से बड़ी सरलता से उतर जाता है। यद्यपि इस रामरसायन को देखकर तत्कालीन पण्डित मण्डली जलभुन गई थी किन्तु तुलसी के विनय ने सबको शान्त कर दिया। वास्तव में तुलसी उत्तर भारत के वेदान्तदेशिक थे।

पद-टिप्पणी

१-J R A S (Bombay) Vol XXIVP २३० (II) तथा धान भूषणी मू,पृ ४ २-स द स (अ प्र) पृ १११ माधव ३ वही पृ १०५ ११२ ४-Ep India Vol XIII Page 195 ५-वही Vol VI Page 323 ६- वही Vol VI Page 325, ७-वेदान्तदेशिक १/५, ८-न्यास सू १/१४ ९-वही २।१५ १०-वही २।१५ ११-यापरि घु पृ ११७ १२-म स २।१६ १३-वेदान्तदेशिक १।६, १४-स सू २।४२, १५-वे द १।१० १६-त मु क ४।४६।४८ १७-वही ५।१३५

१।२ न्या परि पृ १३७ १८–वेदान्तदशिक बरेली पृ ८,६ १६–वही पृ ११ गो पचा पृ २५२ रघु ग उपस २०–अच्युतशतक पृ १०१, २१–द शत पृ १०८ २२–ह स १।२,८,२२ २३–स मू ५।१३ २४–वही ५।१४ २५–वही ६।३३, ३४, २६–वही ६।२४,२६ २७–वही ६।३७,३८ २८–वे देशिक पृ २० २१ २६–वेदान्तदेशिक (स च) १।२४, ३०–Imp Gazett p 95 ३१–South India and her Mohm dan invaders Page 182 by S K Swami Aiyng ३२–वे दे (स च) १।२१ ३३–यादवाभ्युदय पृ १४, ३४–चण्डमारुत पृ ३३ ३५–न्या सार पृ ३६ ३६–विश्वगुणादशचम्पू श्लोक २६१ ३७–श्री विशिष्टाद्वत०मूल स्तम्भ एव दशिक चरणा श भू भू ३८–स द स (म प्र) पृ १०५ ३६–वही पृ ११८ ४०–श्री भ गी ८।६६ ४१–पादुका सहस्र टीका पृ ३० (वीर राघवाचाय) ४२–वहा ४३–यादवा भ्युदय टी मग० ४४–वेदान्तदशिक पृ ६६ बरेली ४५–न भू पृ ५ भूमिका ४६–D C S M S S, (Madras)Vol XXVI Mentions (Vide No14609 47–C C II Pages 163 and 232 by Aufrecht ४८– से मी पृ ३१, ४६–वही पृ ५५ ५०–चाचनामा पृ १८१ १८६ ५१–वही पृ २०६ २११ ५२–ता फिरोज पृ ५२ ५३–तारीखे फिरोज शाही पृ १५०, ५४–वही पृ १५०, ५५–वही पृ १५४ ५६– जफर नामा पृ २४६ २५० ५७–वही ५८–वही पृ २५० ५६–वही पृ २५३ ६०–अकबरनामा पृ२६ ३१ ६१–वही पृ५३ ५६ ६२–हि मेडा इडि पृ५२७ ६३–हिस्ट्री आफ इडिया (इलियट) पृ ५६ ५८, ६३–तुलसीदास चिन्तन और कला पृ ८४ ८७ ६४–नारद गीता श्लोक ६ ६५–त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित पृ ८६६, ६०५ हेमचन्द्र ६६–तुलसीदासचिन्तन और कला पृ ८० ६७–कबीर (डा ह प्र द्वि) पृ४४–५१–राम नारायण ६८–कबीर पृ २१० ६६– वही पृ २५२ ७०–वही पृ २०८ ७१–तुलसीदास पृ१३८ ७२–इण्डियन एण्टिक्वरी पृ२६४ सन् १८६३ई ७३–मनुस्मृति ३।५ ७४ तुलसी दास हिन० ७५–तुलसीदास (राज व पा) पृ २८ स २०१४ ७६–तु ग्र वि प पृ५०४ ५६६, ७७–रा मा गु पृ ३४ ७८–वही पृ ५३ ७६–अनन्गडाचाय काची श्री रगमन्दिर व दावन ८०–तु ग (माता) पृ १७५ ८१–वहा पृ १७७ ८२–वही पृ १७८,८४–कविता वली पृ १०६ १०७ ८५–तुलसीदास (मा प्र गु) पृ १८२ ८६–वही पृ १६०

— ० —

श्री ।

द्वितीय सोपान

वेदान्तदेशिक के दार्शनिक सिद्धान्त

अद्वैतवादीविचारधारा का विकासक्रम

वेदों का ज्ञानभण्डार अध्यात्मपरक[1], भी है, यह वेदविदों[2] का सनातन सिद्धान्त है। यह अध्यात्म परमपवित्र है, श्रेष्ठ है, आनंदविधायक है। शुक्लयजुर्वेद के अन्त मे इसलिये इसका परिशीलन है। वेदों के अतिमाश होने के कारण उपनिषद् भाग का नाम वेदान्त है। इस उपनिषद्‌विद्या को ब्रह्मविद्या भी कहा जाता है। ब्रह्मविद्या गुरु के निकट रहस्य मे रहस्यमयीभाषा मे अज्ञानध्वंसनहेतु ग्रहण की जाती थी, अतः यह गुह्यविद्या भी मानी जाती है। पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि यह संहिता के बाद विकसित हुई, परन्तु यह भ्रामक सिद्धान्त वेदवादियों को अग्राह्य है, क्योंकि कर्मकाण्ड, स्तव एवं चिन्तन ब्रह्मविद्या के अनिवार्य तत्त्व हैं, जो संहिताभाग मे ही हैं। वेदों के अन्त साक्ष्य के आधार पर सोमकाण्ड और वरुणकाण्ड भी ब्रह्मविद्या ही हैं, जो उनके विचार से वेदों का पुरातन भाग है। वर्णाश्रमधर्म की मान्यता भी इस पुरातन सिद्ध करती है क्योंकि ब्राह्मणश्रमण या संन्यासी इस विद्या के अभ्यासी होकर भी कर्मकाण्ड की अनिवार्यता, साधनकाल में स्वीकार करते रहे हैं। ब्रह्मविद्या का प्रतिपाद्य अद्वैत या अद्वितीय तत्त्व भी रहा है। अद्वैत की निरुक्ति दो प्रकार से देखी जाती है— सब कुछ एक ही तत्त्व है या एक तत्त्व के समान अन्य तत्त्व नहीं है इसलिए अद्वैत का अर्थ अद्वितीय है। द्वितीय विचारधारा ही विद्वानों के मत में सर्वाधिक पुरातन है प्रथम विचार इसका विकसित रूप है। वस्तुत दोनों विचार प्राचीनतम हैं, जो संहिताकाल से ही चले आरहे हैं।

प्रत्यक्ष अनेक वस्तुओं की प्रतीति होती है तत्त्वदर्शी ऋषियों ने परिणामधर्मिता के कारण नासदीय सूक्त में इसे अस्वीकार कर दिया है परन्तु यजुर्वेद एवं ऋग्वेद में अन्यत्र ऐसे भी स्थल हैं जहाँ प्रकृति के उपादानों को ब्रह्म बताया गया है। संस्कृतवाङ्मय में ब्रह्म चेतन आत्मा का वाचक भी है। सांख्यशास्त्र की एक शाखा प्रकृति[3] को ही ब्रह्म मानती है। इस शब्द की निरुक्ति, बृहणत्वात् व्यापकत्वात् वा ब्रह्म अर्थात् जो विस्तृत हो या व्यापक हो वह ब्रह्म है, की जाती है। वेदों में अनेक श्रुतियाँ[4] तत्त्वों की एकता का प्रतिपादन करती है किन्तु ऐसी श्रुतियों का अभाव भी नहीं, जो अभेदविरोध करती हों। वेद शब्द का प्रयोग संहिता, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् सभी के लिए है। इनमे द्वैत और अद्वैत दोनों विचारधाराओं के पोषक विचार मिलते हैं। द्वैत से प्रभावित, वेदान्त से अतिरिक्त, सभी आपदर्शन हैं। वेदान्त के अनुयायी भी जिनमे बादरि, जैमिनी, काशकृत्स्न, औडुलोमी, बादरायण

प्रभृति सनातन विद्वान् हैं, एकमत से अद्वैत को स्वीकार नहीं करते। प्राचीन वेदान्त भाष्यों, प्रकरणग्रन्थों तथा वादग्रन्थों में एक रूपता नहीं है, इसलिए अद्वैतदर्शनों में भी वैमनस्य सहज ही है। जहाँ शंकराचार्य समस्त द्वैत का निरासकर केवलाद्वैत की प्रतिष्ठा करते हैं, रामानुज, भास्कर श्रीपति, निम्बार्क प्रभृति आचार्य ईषद्द्वैत स्वीकार कर अपने मत की पुष्टि करते हैं, परन्तु मध्वाचार्य स्पष्टतया द्वैत के ही पक्षपाती हैं।

अद्वैताचार्यों की प्रमुख समस्या जगत्कारणतावाद तथा अनेकजीववाद की एकता रही है। शंकराचार्य तथा उनके परमाचार्य गौडपाद ने मायावाद की अनिर्वचनीयता स्वीकार कर इन समस्याओं का समाधान किया। अन्य आचार्यों को यह मायावाद आपत्तिजनक प्रतीत हुवा। इसे मान लेने पर भी ईश्वर और ब्रह्म में भेद बना रहा। ब्रह्म भी निर्गुण, निराकार, निरंजन, कूटस्थ, शुद्ध और बुद्ध पडता था व्यवहार में न रह सका। माया की प्रतीति यदि जगत् में है तो उसका आश्रय भी होगा। वह आधार माया के गुण दोषों से पृथक् कैसे रह सकता है ? रामानुजाचार्य ने इसका समाधान अपनी युक्त्यानुसार शरीर शारीर भाव से किया। जिस प्रकार शरीर में रहने वाली आत्मा शरीर के साथ रहकर भी उसके दोषों से प्रभावित नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा जीव की आत्मा बनकर शरीर एवं जीव के दोषों से मुक्त एवं शुद्ध रह सकता है। प्रकृति या माया भी तत्त्वतः सत्य ही स्वीकार की जा सकती है। जगत् सर्वथा असत् न होकर परिवर्तनधर्मीमात्र रह सकता है। विकारी प्रकृति होगी, बन्धन में जीव रहेगा ईश्वर में कोई दोष नहीं रहेगा। ईश्वर के अंग में जीव और प्रकृति दोनों को मानकर तत्त्वतः जगत् सत् परन्तु स्वभावतः असत् माना जा सकता है।

रामानुज की मान्यता नयी नहीं थी। बादरायण के पूर्ववर्ती अनेक आचार्य इसके पोषक थे। वेदान्तसूत्र में अनेक[6] अधिकरण मिलते हैं जिनमें बादरायण का सिद्धान्तपक्ष है परन्तु अद्वैतवादी आचार्यों ने इन्हें पूर्वपक्ष मानकर इनका खण्डन किया है। रामानुज का कथन[7] है— 'श्रुतियों में स्पष्ट उल्लेख है कि जीवात्मा में परमात्मा अवस्थित होकर उसका नियमन करता है। इसलिए जीव की आत्मा ब्रह्म भी है। इससे सभी श्रुतियों का सम्बन्ध ठीक हो जाता है, इसलिए बादरायण ने इसे अपना सिद्धान्त पक्ष माना है।

अद्वैत में वेदान्तदेशिक का योग

वेदान्तदेशिक ने रामानुज के पथ पर चलकर भी वेदवाद में प्रेम की स्थापना की। वेदवाद कर्मकाण्ड एवं नीति प्रधान है। जैन आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार वेद व्यवहार करने का सर्वोत्तम मार्ग है। वेदान्तदेशिक ने वैष्णव एवं वैदिक धर्म का समन्वयकर सेश्वरमीमांसा का निर्माण किया, जिसमें वेद, ब्राह्मण ब्रह्म तीनों का महत्त्व सर्वोपरि माना गया और जिन्हें वेदाध्ययन में अधिकार नहीं था, उनके लिए

गुरु पर श्रद्धा[8] रखते हुए वर्णाश्रमधर्म का पालन अनिवार्य माना गया। आगे यह स्पष्ट होगा कि तुलसीदास ने भी वेदान्तदेशिक के सिद्धान्त पर अटूट श्रद्धा रखते हुए वेदवाद का ही आश्रय लिया। वेदान्तदेशिक के जीवनवृत्त से सुस्पष्ट है कि वे अपने जीवन काल में ही बडगलेवैष्णवों के सिवाय अन्य विद्वानों के लिए भी, अपनी विद्या और तपस्या के कारण श्रद्धा के पात्र बने हुए थे। सुदर्शन भट्ट जैसे तिंगलविद्वान्, विद्यारण्य जैसे अद्वैती महापण्डित, अप्पय दीक्षित जैसे साहित्य मर्मज्ञ उनकी प्रतिभा के प्रदर्शक थे। वे सफल आचार्य तथा स्वतन्त्र चिन्तक थे। रामानुज के बडगल शाखा के वैष्णव संन्यासी तथा गृहस्थ श्रद्धावश अपने मंगल कृत्यों तथा दैनिक पूजाओं में भी उनका नाम लेना नहीं भूलते। वास्तव में ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति का स्मरण मंगल विधायक हो तो आश्चर्य ही क्या है!

तत्त्वत्रय

तत्त्वत्रय का अर्थ तीन तत्त्वों का अविनाभाव सम्बन्ध से रहना लेना चाहिए। ये तीन तत्त्व ईश्वर जीव और माया कहे जाते हैं। वेदान्तदेशिक के पूर्ववर्ती नाथमुनि ने तत्त्वत्रय की स्थापना की थी। उनके पौत्र यामुनदेशिक ने अपने सिद्धित्रय नामक ग्रन्थ में पितामह के सिद्धान्त का पोषण किया, परन्तु ईश्वर और जीव का सम्बन्ध अंशांशीभाव से निरूपित किया। उनके जीवन के अवसान काल में रामानुजाचार्य ने उनका दायित्व अपने हाथों में सँभाला। उन्होंने अनेक प्रौढ ग्रन्थों की रचना की जिनमें शारीरिक (श्री) भाष्य, वेदान्तदीप, वेदार्थसंग्रह तथा गीताभाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में तथा स्तोत्रों में बड़े ही पांडित्य से अपने मत की प्रौढता उन्होंने सिद्ध की है।

यद्यपि रामानुज ने अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया है उनके मत में भी केवलाद्वैत की तरह ब्रह्म[9] ही परम तत्त्व है तथापि वह चिदचिद् विशिष्ट है। वह एक होकर भी स्वगत् भेद युक्त है। ईश्वर और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है जगत् या परमार्थ कहीं भी वह शुद्धबुद्धमुक्त है। शंकराचार्य[10] ने जगत् को मिथ्या कहा था जिसका सीधा अर्थ सत्ताविहीनता है, क्योंकि केवल ब्रह्म की ही एक मात्र पारमार्थिक या त्रिकालाबाधित सत्ता मान्य है। ब्रह्म से भिन्न जागतिक सत्ताएँ भ्रान्तिवश प्रतीति में आ रही हैं। रामानुज ने सभी निर्दोष प्रतीति के विषयों का सत्य घोषित किया, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का अपवाद नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य ने एक सत्ता की सिद्धि के लिए सत्ता की तीन कोटियाँ मानी पारमार्थिक व्यावहारिक और प्रातिभासिक। इनमें प्रथम त्रिकाल सत्य है दूसरी बाध पर्यन्त (अपरोक्षानुभूति तक) सत्य है तीसरी अनुभूति काल में ही सत्य है। ब्रह्म पारमार्थिक सत्तात्मक है, जीव और जगत् व्यावहारिक परन्तु स्वप्न और विषयज्ञान (मृगमरीचिका आदि) प्रतीतिकालिक सत्य है। ब्रह्म की अपेक्षा व्यवहार असत्य है, परमसत्य एक तत्त्व है व्यावहारिक सत्य अनेक

हैं। अद्वैतभिन्न भ्रम सत्ताएँ अनिर्वचनीय हैं, क्योंकि सेतु मानने पर बाध्य न ही सकेगा। असद् मानने पर उनकी प्रतीति भी न होगी, परन्तु प्रत्यक्ष प्रतीति हो रही है। जगत् को असत् आगम और तत्त्वप्रत्यक्ष के बल पर हो कहा जा सकता है व्यवहार और तब से नहीं।

रामानुज का कथन है कि एक सत्ता मानने से यदि तीन प्रकार की कोटियों को स्वीकार करना ही है, तो तीन प्रकार की सत्ता के स्थान पर तीन सत्ताओं को ही एक के अधीन क्यों न मान लिया जाये ? अभूतपूर्व कल्पनों की अपेक्षा सामान्य कल्पना अधिक सुविधा जनक है। अध्ययन अध्यापन और विरोध समाहार सभी दृष्टियों मे प्रचलित विचारों से यदि असुविधा न हो तो कार्य करना बुद्धिमानों को अभीष्ट रहा है। अद्वैतवेदान्त[12] की तीन सत्ताएँ एक तरफ अलौकिक दिखायी देतीं हैं तो दूसरी तरफ वेद मर्यादा का निर्वाह भी नही करती। ये वेद और उसकी उपयोगिता दोनो को परमार्थ दशा मे व्यर्थ सिद्ध करती हैं। कर्मभाग की भर्त्सना तो करती ही हैं, ईश्वर को भी वे मायिक या असत्य बताती हैं। ब्रह्म ही यदि माया के कारण बद्ध मुक्त होता है, तब वह शुद्ध[13], बुद्ध मुक्त कहाँ रहा ? यदि माया बन्ध मुक्त होती है, तो ब्रह्म की चेतना किसके लिए मोक्ष शास्त्र का उपदेश करती है ? यदि ब्रह्म और माया दोनो मुक्त होते हैं तब ब्रह्म के लिए ही उपदेश या गुरु शिष्य व्यवस्था क्यो ? कहा जाता है कि बन्ध और मुक्त जीव होता है, ईश्वर ब्रह्म या प्रकृति नही, परन्तु ईश्वर यदि शुद्ध ब्रह्म से भिन्न है तो जाव क्या नहीं है ? एतद्वय जीवो म भी देखा जाता है। जीव के विषय म भी पूछा जा सकता है कि वह चेतन है या अचेतन ? चेतन मानन पर वह ब्रह्म ही होगा जो नित्य शुद्धबुद्ध और मुक्त है। ऐसी परिस्थिति मे जीव म बन्धन[14] ही सिद्ध नही होगा। बन्धन के अभाव म मोक्ष किसे होगा ? यदि जीव को जड माना जाय तो जड से जड के अज्ञान का कोई प्रयोजन न होगा। क्योंकि पुरुषार्थ पुरुष के लिए है जो चेतन कहा जाता है इसलिए अद्वैत के स्थान पर विशिष्ट अद्वैत ही स्वीकार्य है।

द्रव्य और अद्रव्य

वेदान्तदर्शिक से पूर्ववर्ती विद्वान् गुण का अधिकरण द्रव्य[15] मानते थे। उन्होंने ऐसे कारण को द्रव्य माना है जो उपादान हो। द्रव्य[16] का धर्म परिणाम भी है। द्रव्य के दो भेद हैं— जड और अजड। जडद्रव्य की परिधि मे काल और अचित् (प्रकृति) की गणना होती है। वेदान्तदर्शिक के मतानुसार काल प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र द्रव्य है अन्य रामानुजी आचार्य इस प्रकृति का विकार मानते हैं। आज की सहायता स प्रकृति प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। जिस प्रकार मिट्टी का परिणाम घट सराव और दीपक आदि पदार्थ है, प्रकृति का परिणाम सम्पूर्ण दृश्य जगत् है।

यह जडद्रव्य रामानुज परपरा में प्रकृति और अविद्या नाम से परिभाषित है जो (वह अविद्या) नित्य है, परन्तु यह ईश्वराधीन होकर जीव के बन्धमोक्ष मे सहायक है। यही चौबीस रूपो म सांख्यशास्त्र की मान्यता के समान परिणत होकर जगत् का सजन करती है। वेदान्तदेशिक के मत से काल ईश्वर का क्रीडापरिकर है, जगत् की तरह मोक्षस्थान म भी यह व्याप्त ह। मोक्षावस्था म काल न मानने पर नित्यमोक्ष का प्रयाग नही हो सकता। नित्य शब्द कालवाचक है। वेदान्तदेशिक के अतिरिक्त अन्य वेदान्ती काल का मोक्ष मे अस्वीकार करते हैं। जडद्रव्य की मान्यता सब वदान्तियो की एक समान ह। अद्वैतवेदान्ती परमाथ रूप में प्रकृति भले ही अस्वीकार करते हो किन्तु व्यवहारकाल में सांख्य की तरह प्रकृति म परिणाम मानत हैं। साम्यशास्त्र म पचीकरण नही ह वेदान्त के सभी अनुयायी पचीकरण प्रक्रिया से सहमत हैं।

इतर द्रव्य जडप्रतियोगी अर्थात् अजड[17] है। इसका असाधारणधम स्वय प्रकाशत्व ह। स्वयप्रकाशद्रव्य शुद्धसत्त्व धमभूतज्ञान तथा आत्मा हैं। शुद्धसत्त्व प्रकृति का सतोगुण नही ह। (अद्वतवेदान्त सतोगुण को मानता ह) यह प्रकृति से पृथक् स्वतत्र द्रव्य ह। यह (शुद्ध सत्त्व) उद्ध्व प्रदेश म अनन्त तथा अध प्रदेश मे अचेतन सकुचित और स्वप्रकाश है। यह नित्य विभूति म ईश्वर और मुक्त जीव दोनो के लिए भोग भोगापकरण एव भागस्थान रूप म ईश्वरेच्छा स परिणत होता रहता ह। भोग्यशरीर भोगोपकरण–चन्दन कुसुम आदिक पदाथ भोगस्थान–वकुण्ठ मण्डप तथा विहारकुञ्जादिक हैं। ईश्वर का शरीर मानव के प्राकृत शरीर से भिन्न, जिसम छ गुण हैं प्राकृत म कुल तीन गुण हाते हैं। धमभूतज्ञान दूसरा अजडद्रव्य है जो अचेतन स्वयप्रकाश विषय को ग्रहण करने वाला विभु उपाधिवशात् सकुचित हान वाला ह। इसे अथ प्रकाशिका बुद्धि भी कहा जाता ह। यह मुक्त जीव और ईश्वर में विभु रहता ह किन्तु बन्धनयुक्त जीव म सकोच विकाशवान्। इसके विकाश को ज्ञान उत्पन्न हुआ भी कहा जाता ह सकोच को ज्ञान नष्ट हुआ व्यवहार होता है। धमभूत ज्ञान आत्मा का गुण तो ह परन्तु न्याय के गुण से पृथक पूव मीमासा के गुण के समान। वेदान्तदेशिक के अनुसार गुण का लक्षण आश्रितत्व है। इस परिभाषा के अनुसार द्रव्य भी गुण कहा जा सकता है। इसलिए धमभूतज्ञान द्रव्य और गुण दोनो ह।

यहाँ (वेदान्तदेशिक के अनुसार) ज्ञान के पर्याय निम्नलिखित शब्द हैं—ज्ञान मति बुद्धि प्रज्ञा सविद् शेमुषी मनीषा मेधा धिषणा धी इत्यादि। बुद्धि ही उपाधि भेद स सुख दुख इच्छा द्वेष प्रयत्न रूपो म भाषित होती ह। भक्ति और ज्ञान म अभेद ह कारण कि धमभूत ज्ञान के परिणाम है।

अजड द्रव्यो मे तीसरा पदाथ आत्मा ह जो जीवात्मा और परमात्मा भेद

से दो प्रकार का होता है। जीयात्मा को परमात्मा का अग या शेष, भोग्य और शरीर बताया गया है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप कर्त्ता और भोक्ता है। सांख्यशास्त्र प्रकृति को ही कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार करता है, वहाँ जीव केवल साक्षी है। वेदान्तदेशिक का इस सिद्धान्त से वमत्य है। ईश्वर को वे ब्रह्म मानते हैं, अद्वैत वेदान्ती मायापरिच्छिन्न ब्रह्म को ईश्वर और जीव दोनो स्वीकार करते हैं।

अद्रव्य

'द्रव्य का लक्षण अवस्थावान् होना है।[18] अवस्था अपृथक्सिद्ध धर्म है। यह द्रव्यत्व जिसमे न हो वह अद्रव्य[19] है। यह द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थ है। इसे जैन और भट्टमीमांसक भिन्नाभिन्न मानते हैं। अद्रव्य स्वभाव सम्बन्ध से द्रव्य मे रहता है। यह उपाधिरहित है। इस मे समवाय आदि सम्बन्ध नही रहते। इसमे अगणित गुण सन्निविष्ट हैं, प्रधानतया शुद्ध सत्त्व (नित्यविभूति) तथा मिश्रसत्त्व (सत् रज तम) हैं। ये (त्रिगुण) स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति मे व्याप्त होकर सुख, दुख और मोहादि के हेतु होते हैं। रूप, रस गन्ध, स्पर्श तथा शब्दादि वशेषिक गुण त्रिगुणो के अन्दर ही पठित हैं जो पचीकरण के पश्चात् रूपादिक गुण इन्द्रियो द्वारा प्रतीति के विषय बनते हैं। दो प्रकार की लीला और नित्य राजस, विभूतियाँ हैं। लीला विभूति की अपेक्षा नित्य विभूति में गुणो का प्राबल्य है। अद्रव्य के अन्तराल मे न्याय के पाँच गुण, सांख्य के तीन गुण, मीमांसाशास्त्र की शक्ति और सयोग निश्चित रूप से सुलभ हैं।'

ख्यातिपरीक्षा

भारतीय दर्शनो मे ख्यातिवाद पर विस्तृत चिन्तन एव अध्ययन मिलते हैं। इनकी आधारशिला ख्यातिवाद पर ही आधृत है। अभाववादी, शून्यवादी, वस्तुवादी मायावादी ब्रह्मवादी, विज्ञानवादी अनवस्थावादी और शक्तिवादी आदिक अपनी पृथक्पृथक् ख्यातियाँ स्वीकार करते हैं। ख्याति शब्द का अर्थ प्रकाश, प्रकथन या ज्ञान होता है। परन्तु ख्यातिवाद का प्रयोग विपर्यय ज्ञान के विवेचन मे किया जाता है। भ्रम जागरण और स्वप्न दोनो अवस्थाओ मे होता है। जागरण काल मे प्राय इन्द्रियदोष, मनोवेग, शीघ्रता और असम्यक प्रत्यक्ष के कारण भ्रान्तियाँ होती हैं। यह अतस्मिन् तद् बुद्धि रूपा होती है। सर्प रस्सी मे नही है परन्तु वहाँ सर्प है यह भ्रान्ति होती है। यह भ्रांति प्रतीति ही विपर्यय ज्ञान कहलाती है। यह विपर्यय ज्ञान अलातचक्र, अभ्रगज धूमशृग, स्वप्नराज्य स्वप्नलोक रूप मे भी है।

विभिन्न दार्शनिको ने विपर्यय ज्ञान को अपनी सुविधानुसार [20] अन्यथाख्याति असत्ख्याति, अनिर्वचनीयख्याति,[21] आत्मख्याति, विवर्तख्याति, सदसत्ख्याति और यथार्थख्याति कहा है। इनमे शकराद्वैतवेदान्त अनिर्वचनीयख्याति मानता है रामानुज सम्प्रदाय का एक वर्ग सत्ख्याति[22]। तान्त्रिक और बौद्ध असत्ख्याति का प्रयोग समान रूप से करते हैं परन्तु उनकी परिभाषा और व्याख्याएँ सर्वथा भिन्न है। वेदान्तदेशिक

और तुलसीदास तार्किकों की असत्ख्याति तथा गुरुमत मीमांसकों की अख्याति को अपनाकर, जगत् की व्याख्या करते हैं। जिस प्रकार विपर्यय ज्ञान में सत् पदार्थों को अनुचित् रूप में कल्पना भेदाग्रह के कारण की जाती है, उसी प्रकार जगत् को भी विवेक के अभाव में उसके स्वभाव के विपरीत समझ लिया जाता है।

अख्याति

रामानुजवेदान्त में नाथमुनि ने यथार्थख्याति को अपने ग्रंथ के भ्रान्तिप्रकरण में सर्वप्रथम स्थान दिया था। भ्रान्ति रामानुज ने अपने श्रीभाष्य में सभी ज्ञानों को यथार्थ घोषित कर उक्त मत का समर्थन किया। परवर्ती विद्वानों को किसी कारण वश इस समर्थन में असुविधा हुई, इसलिए उन्होंने न्यायवेदान्त का सम्मिलित रूप अपनाकर अपना मार्ग परिवर्तित कर लिया। रामानुज ने भी श्रीभाष्य[23] में अन्यथा ख्याति शब्द का प्रयोग किया है परन्तु वेदान्तदर्शन के अनुसार न्यायदर्शन की अन्यथा ख्याति[24] से उसका तात्त्विक भेद है। न्याय एक काल में एक विज्ञान मन में स्वीकार करता है जबकि अख्यातिवादिमीमांसक तथा रामानुज एक काल में एक से अधिक विज्ञान मानते हैं। न्याय, ज्ञान की उत्पत्ति मानता है, जो मन इन्द्रिय और वस्तु के सम्पर्क में आने से होती है। रामानुज ज्ञान की अभिव्यक्ति मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान आत्मा का नित्यधर्म है। न्याय, ज्ञान को देशकालकारणसापेक्ष मानता है ईश्वरेच्छा अथवा ईश्वर का शरीर सापेक्ष नहीं। न्याय मानसप्रत्यक्ष भी मानता है जो इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। वेदान्तदर्शन[25] का मत है कि अन्यथाख्याति के गर्भ में नाथमुनि का सिद्धान्त सन्निविष्ट है। रामानुज ने श्रीभाष्य में स्पष्ट किया है कि अन्यथाभास का तात्पर्य वास्तविक वस्तु का अन्यथारूप में भाषित होना है जैसे सीपी का चाँदी प्रतीत होना। अन्यथाख्याति को असत्ख्याति के रूप में भी समझा जा सकता है। सत् को असत् समझलेना अर्थात् वर्तमान सीपी को परोक्ष या अवर्तमान चाँदी समझ लेना। वेदान्तदर्शन के अतिरिक्त अन्य दार्शनिक रामानुज के मत का नैयायिक अर्थ स्वीकार करते पाये जाते हैं। वेदान्तदर्शन के गुरु आत्रेय रामानुज के अनुसार अन्यथाख्याति भेदाग्रह से होती है, जैसाकि गुरुमतमीमांसक मानते हैं।

वेदान्तदर्शन ने उक्त ख्याति को न्याय से पृथक देखकर नाम के कारण भ्रान्ति दूर करने के लिए मीमांसकों की अख्याति, जो रामानुज के अनुकूल थी, ग्रहण कर लिया। उनका कथन[26] है कि मीमांसा का अख्यातिवाद ही वैज्ञानिक रूप से भ्रान्ति का विवेचन कर सकता है। उनका निश्चय है कि यह रामानुज के सिद्धान्त का अविरोधी[27] है और उनका अपना मत नहीं है। अख्याति और असत्ख्याति दोनों प्रकार से रामानुज के सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है। वाचस्पतिमिश्र के अनुसार असत्ख्याति का भाव है उस वस्तु का ज्ञान जो अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रतिपन्न होती है जो ज्ञायमान है। (निरालम्ब होने से ही असत् माना जाता है।)

वेदान्तदेशिक वाचस्पति मिश्र से अपना वमत्य प्रकट करते हैं। उनके अनुसार यद्यपि वाचस्पति मिश्र के अनुसार असत् चाँदी सत् रूप मे प्रत्यक्ष न होकर असत् रूप म ही प्रतीत होती ह, परन्तु अनुभव से देखा जाता है कि असत् चाँदी सत्‌रूप मे ही प्रतीत होती ह। अत भ्रान्त दशा मे प्रवृत्ति और भ्रान्तिबाध होने पर निवृत्ति देखी जाती ह। यह सत्य है कि अधिष्ठान की सत्ता प्रतीत होती ह, रजत की कहीं सत्ता सिद्ध होने पर, उसका आरोप होन से, असत् ख्याति पूर्ण रूप से नही की जा सकती, तथापि सीपी के टुकडे म रजत का तादात्म्य या सत्ता अन्यत्र प्रसिद्ध तथा निषेध्य होने से, असत्‌ख्याति, प्रतीति का विषय होने से, अनिवार्य है।

अख्याति यथार्थख्याति, अन्यथाख्याति तथा असत्‌ख्यातियो के द्वारा विशिष्टा द्वैतसम्मत भ्रान्ति की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु विशिष्टाद्वैत सभी ज्ञान को यथार्थ मानता है, ऐसी स्थिति मे इसका समाधान व्यवहारविसवाद का आश्रय लेकर किया जा सकता है। शुक्ति म रजत का सद्भाव मृगमरीचिका म जल की प्रतीति तथा स्वप्न म रथादि का निर्माण विशेष रूप से सत्य ही कहा गया है, क्योकि सादृश्य, पचीकरण तथा ईश्वर क्रमश इनके नियामक हैं। यद्यपि यहाँ 'अतस्मिन् *तद्‌बुद्धि' नहीं है इसलिए तज्जातीय भेद का अग्रहण भी नहीं होगा तथापि तज्जा* तीय स्वाभीष्ट योग्यायोग्य वस्तुओ का भेदग्रहण न होन से प्रवृत्तव्यवहार म विसवाद दिखाई देता है इसलिए व्यवहारसापेक्ष अप्रामाण्य या भ्रान्ति भी है तथा शुक्ति म लीन रजत से अगुलीयक नही बनता मृगमरीचिका का जल पीने के काम नही आता, स्वप्न का रथ जागरण काल म नही रहता। अयोग्य वस्तु म योग्य वस्तु से भेद न ग्रहण करने के कारण प्रवृत्त हुआ व्यक्ति बाध होने पर निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न उठता है कि अप्रमा का मूलभूतकारण, विशिष्टाद्वैत के अनुसार अख्याति का स्वरूप क्या है? इसका समाधान किया जाता है कि यह भेद का अग्रहण है। आरोप्यमाण पदार्थ तथा उसके अधिष्ठान के भेद का ज्ञान न होना भेदाग्रह है। अधिष्ठान शुक्ति पदार्थ है आरोप्यमाण रजत है। दोनो का भेद ज्ञात होन पर प्रमा होती है भेद का ज्ञान न होने पर अप्रमा। एक काल म ही प्रत्यक्ष और स्मृत म भेदाग्रह के कारण ऐसा होता है। प्रमाता की प्रवृत्ति सामग्रीभेद के कारण इष्ट वस्तु के अभेदग्रहण से प्रवृत्ति तथा अनिष्ट भेदाग्रह से निवृत्ति होती है।

भेदाग्रह प्रमाता के ऊपर आश्रित है, विषय स उसका सम्बन्ध नही है। यह भेदाग्रह दो वस्तुओ दो प्रमाओ और वस्तु तथा प्रमा म सम्भव है।

भेद[28] उस निरूपितधर्म को कहते हैं, जो दूसरे मे नही रहता। इस कारण एक वस्तु से दूसरे का भेद निरूपित धर्म है। उदाहरण केलिए घट दण्ड स इसलिए भिन्न है कि घटनिरूपितधर्म दण्ड म नही है।

अख्याति[29] न तो ज्ञान को बाधित करती ह न वस्तु को जो आरोपित

है अपितु प्रमाता के दोष से जनित भ्रान्ति है, जो दो भावपदार्थों का भेद, ग्रहण करने में असमर्थ रहती है। इससे प्रमाता की बुद्धि भेद ग्रहण करने में असमर्थ होती है। उसमें प्रमा नहीं रहती।

अनिर्वचनीयख्याति और अख्याति

अख्याति का तात्पर्य भेद की अख्याति अर्थात् दो वस्तुओं या भावों में भेद का अग्रहण (अख्याति) है। यह पूर्वमीमांसाकार-प्रभाकर के अनुसार दो स्मृतियों के बीच दो उपलब्धियों के बीच स्मृति और उपलब्धि के बीच, देखी जाती है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ हैं, जगत् के पदार्थ भी यथार्थ हैं (कारण-दृष्टि से)। विषयी के अपूर्ण प्रत्यक्ष करने के कारण भेदग्रहण न होने से भ्रान्ति[30] होती है। जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है उस समय उन वस्तुओं या विचारों की सत्ता रहती है, यद्यपि भले ही न रहे। इतना यह भी ध्यातव्य है कि सूक्ष्म रूप से सत्ता का रहना स्थूल व्यवहार का साधक नहीं होता इसलिए भ्रान्ति कही जाती है।

१-अद्वैतवेदान्त-इसी में सर्प का आरोप न तो सत् मानता है न असत् क्योंकि सत् मानने पर उसका बाध नहीं हो सकता। ब्रह्म की तरह वह नित्य होगा, इससे अद्वैतहानि होगी, असत् मानने पर सर्प की प्रतीति नहीं होनी चाहिए थी, परन्तु यह (प्रतीति) प्रत्यक्षसिद्ध है। सत् और असत् को एक अधिकरण में रहना उसी प्रकार सम्भव नहीं जैसे एक काल में एक अधिष्ठान में तम और प्रकाश का होना। इन तीनों स्थितियों से भिन्न अनिर्वचनीय सर्प की उत्पत्ति रस्सी में होती है। वेदान्तदर्शन के अनुसार असत् चाँदी की ही प्रतीति होने के कारण उस असत् कहने में कोई हानि नहीं है। जब इस प्रतीति का हम असत शब्द से निर्वचन करने में सक्षम हैं, तब अनिर्वचनीय[31] कहना कहाँ तक ठीक है? अद्वैतवाद यह मानता है कि माया के कारण अनिर्वचनीय जगत अनिर्वचनीय-सर्प की तरह ब्रह्म अधिष्ठान में उत्पन्न होता है।

अद्वैतवाद का अनिर्वचनीय शब्द मोहजनक है। अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग वाच्य से भिन्न, अवाच्य, निरुपाख्यत्व सदसद्विलक्षण, सत्यासत्य का अभाव, ब्रह्म से विलक्षण तुच्छ से विलक्षण या किसी अन्य पर्याय के रूप में है प्रथम विकल्प मानने पर स्ववचनविरोध[32] होगा। अवाच्यत्व मानने पर ब्रह्म भी अवाच्य है इसलिए दोनों में साम्य होगा। प्रातिभासिक और व्यावहारिक भी अवाच्य होंगे, क्योंकि प्रातिभासिक अवाच्य माना जाता है। अद्वैतवेदान्त ने ज्ञानी या सुवाच्य मानकर ही कोटि निर्धारण किया है। इसलिए वचनराहित्य के बदले निरुपाख्यत्व को छोड़कर सदसद् विलक्षण भी नहीं माना जा सकता, कारण कि वादी एक ही सत्ता मानता है, अन्य सत्ता वह मान ही नहीं सकता। सत्य से भिन्न अन्य सत्य हो ही नहीं सकता। हठवादी बनकर यदि व्यावहारिक सत्ता की ओर संकेत करे तो प्रातिभासिक सत्ता में भी प्रवेश होगा। सत्यासत्य रहितत्व मानने पर व्याघात दोष होगा। पारमार्थिक सत्य राहित्य

मानने पर व्यावहारिक सत्य तथा प्रातिभासिक सत्य दोनों को ऐसा ही मानना पड़ेगा। इसलिए तीनो सत्य एक कोटि में आएँगे। ब्रह्म में कोई धर्म अद्वैतवाद नहीं मानता। यदि पारमार्थिक धर्म कल्पित माने तो ब्रह्म की विशेष सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि व्यावहारिक और प्रातिभासिक दोनो ही कल्पित हैं। ऐसा मानने पर ब्रह्म पारमार्थिक नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्म और तुच्छ से भी कठिनाई आयेगी। यदि अन्य की सत्ता मान भी लें, तो असत्य कल्पिता की क्षति होगी। असत्य स्वीकार कर लेने पर सत्यासत्य तथा तुच्छातुच्छ में तादात्म्य होने से व्याघात का प्रसग होगा। यदि अतिम कोटि स्वीकार करें तो यह पूछा जा सकता है कि सत्य को सहन करता है कि नहीं? यदि सहता है तो दो सत्य रहने पर अद्वैत भग का प्रसग होगा नही सहता है तो वह असत्य है। असत्य अपनी ही मानी हुई कोटि स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा हानि होगी। जब अनिवचनीय शब्द का पदार्थ ही सिद्ध नही हो पाता, तब ख्याति के लिए प्रयास क्यो किया जाय ?

अनिवचनीय[33] रजत की उत्पत्ति भी असगत है। यदि सामग्रीवश वहाँ रजत जातीय रजत उत्पन्न हो गया ऐसा कहें, तो दुकानदार के यहाँ की रजत की तरह वह भी प्रामाणिक होगी। यह रजत नही है इस प्रकार का बाधक ज्ञान अप्रमा है। इससे बाध न होने के कारण यह सत्य ज्ञान होगा तब भ्रान्ति नही सिद्ध हो पायेगा। रजत म रजत से भिन्न बुद्धि का भान रहने पर अयथाख्यातिवाद का प्रवेश होगा न कि अनिवचनीय ख्याति ? यदि यह रजत नही है यह बुद्धि शुक्तिविषया नहीं है यह कहें, तो इससे पूर्व प्रसिद्ध शुक्तिविषय का बाध कैसे होगा ? यदि बाध मानना अभीष्ट हो, तो शुक्ति का ही मान लेना चाहिए क्योंकि ऐसा न मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

वेदातदेशिक के अनुसार अनिवचनीयख्याति स्वीकरणीय नही है कारण कि तर्क की कसौटी पर कसने से वह सदोष प्रतीत होती है।

सत्ख्याति

यह साख्य तथा रामानुजसम्प्रदाय के वर्ग विशेष की है। उनके अनुसार पचीकृत तत्त्व प्रत्येक देश मे वर्तमान हैं, इसलिए इन्द्रिय दोष के कारण भ्रान्ति होती है। वेदान्तदेशिक के अनुसार इसका बाध ही नही हो सकता कारण कि सदा सवत्र पचीकृत परमाणु रहगे और उनकी प्रतीति भी बनी रहगी।

आत्मख्याति[34]

विज्ञानवादी बौद्धदार्शनिकों ने विज्ञान या आत्मा की भ्रान्ति के कारण ही ख्याति बतायी कारण कि उनके अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी ख्याति की सत्ता ही नही है। वेदान्तदेशिक के अनुसार विज्ञान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष का अपलाप करना प्रत्यक्ष की सत्ता अस्वीकार करना है।

असत्ख्याति

शून्यवादियो की मान्यता कि सभी प्रत्यक्ष शून्य[35] या असत् है इसलिए भ्राति भी असत् है वेदान्तदेशिक को तक सगत नही लगती। ऐसा मानने पर विधिनिषेध की सिद्धि कसे होगी?

शरीर-शारीर-भाव

भारत के आस्तिक दशन वेद का प्रमाण मानते हुए अपने सिद्धातो की व्याख्या करते हैं। मीमासादशन आग्रह के साथ अपना सिद्धान्त वेदाश्रित रखा है। उत्तरमीमासा[36] या वेदात श्रुतिप्रमाण पर ही पूणतया निभर है। इसके अनुयायियो के सामन विरोधी श्रुतियो का समाधान खोजना भी एक महत्त्वपूण समस्या रही है। अद्वैतवेदात ने अनिवचनीय पदाथ की कल्पना कर इसका समाधान किया परन्तु रामानुजवेदान्तपरपरा ने शरीरशारीर[37] भाव से द्वत और अद्वैतश्रुतिया का स्वारस्य सिद्ध किया। इस सम्बध का प्रधान लक्ष्य द्वत की स्थिति स्वीकार कर भी अद्वत की सिद्धि करना रहा है।

विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्तत जगत् का असत्य नहीं मानता परिवतनशीलता के कारण उपचारत असत्य मानता है जबकि अद्वैत वेदान्त जगत को ब्रह्म म कल्पित मानता[38] है। रामानुज प्रकृति, जीव और ईश्वर तीन तत्त्वा की सत्ता मानकर भी इनमे एकता देखना ह। इसके अनुसार ब्रह्म स्वय निमित एव उपादान बनकर जगत का निर्माण करता है। यहाँ कारण की दृष्टि से जगत सत्य है परिवत धर्मी होने के कारण मिथ्या या असत। अद्वैतवेदान्त म ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही ह। इसलिए जगत व्यवहार के लिए सत्य ह तत्त्वत वह निमूल है। अद्वैत का ब्रह्म निगुण और निरपक्ष है परन्तु विशिष्टाद्वत का ब्रह्म अपने गुणो से निरपेक्ष नही है। वह गुणवान् शेषी[39] (शरीरी) होकर ही पूण सत्य है। ब्रह्म शुद्ध है परन्तु जीवप्रकृतिसापेक्ष भी है। विशिष्टाद्वत की समस्या अंत का समाधान न होकर स्वभावत तीना के बीच ब्रह्म की अन्तबहिर्व्यापकता है— अर्थात भिन्नता म स्वत एकता का अनुसधान है। रामानुज ने शरीरशारीरीभाव की कल्पना कर उसका समाधान किया। परन्तु वहाँ शरीर की परिभाषा वही नही है जो न्यायवैशेषिकादिको के यहाँ स्वीकृत है। न्यायदशन मे शरीर[40] भोगायतन माना जाता है जिसमे आत्मा निवास कर अपने कर्मों का फल भोगता है। ब्रह्म का कोई प्रारब्ध नही, इसलिए इसके साथ न्यायशास्त्र स्वीकृत शरीर की कल्पना भी निष्प्रयोजन है। विशिष्टाद्वैतवादी विद्वानो ने इस कठिनाई का अनुभव कर इसकी नई परिभाषा दी। शरीर[41] का लक्षण — नियमेन आधेयत्व विधयत्व शेषत्व धमवान् शरीर है किया गया। इस लक्षण के कारण शरीरगत दोष शारीर ईश्वर में प्रविष्ट नही होते। न्याय का शरीरलक्षण श्रुतिया म नही है, परन्तु विशिष्टाद्वत का उक्त लक्षण वेदा मे भी मिलता

है — य पृथ्व्यां[12] तिष्ठन् पृतिव्याम तरोय पृथ्वी न वेद। यस्य पृथ्वी नरीर।

न्याय के अनुसार शरीर केवल जीव है जबकि रामानुज के अनुसार ब्रह्म। इस प्रकार याय के उपसहार के साथ इस वेदान्त का उपक्रम होता है। वेदान्त-देशिक ने याय के शरीरलक्षण का खण्डन किया, जा व्यावहारिक शरीर से सबधित था। उनके अनुसार चेष्टाश्रयी शरीर था। यदि क्रिया का ग्राश्रय शरीर है तब घट म भी लक्षण प्रविष्ट होगा क्योंकि जल की क्रिया का ग्राश्रय वह है। विशिष्टाद्वैत का शरीरलक्षण निर्दोष है क्योकि सभी प्रकार के शरीर म वह घट सकता है। वेदान्तदेशिक ने उस शरीर का खण्डन किया, जिसको ग्राधार मानकर डाक्टर राजू ने रामानुजदशन पर ग्रारोप किये हैं।

ब्रह्म का नरीर चिद् (जीव) ग्रौर ग्रचिद् (प्रकृति) से निर्मित है। इस वह ग्रधीन रखकर इसका भरण भी करता है ग्रौर स्वय सत्ता उसमें व्याप्त भी रहता है। विश्लिष्ट की परीक्षा करने पर वेदान्तदेशिक ने इसमे भी दोष पाया। दूसरे के द्वारा शासित लक्षण कुठारी मे भी मिलता है इसलिए परिभाषा ग्रतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। उनके ग्रनुसार उक्त नरीरनारीर सम्बन्ध के स्थान पर ग्रपृथकसिद्ध सम्बन्ध माना जाय। जो पृथक न हान दे वह सम्बन्ध ग्रपृथक्सिद्धि है।[13] चिद् ग्रौर ग्रचिद् से ईश्वर कभी पृथक नही होता इसलिए ब्रह्म इन तीनों का सघात है। ब्रह्म सब कुछ है, जीव जगत् ईश्वर साधक, साधन ग्रौर साध्य भी है। वह सर्वातीत म हाकर निश्चित् तथ्य है। ग्रवाङमनस का तात्पय जडबुद्धि की इयत्ता मे रहित होना है। उसके निरूपितत्व पर ग्राघात नहा ग्राता। ब्रह्म की कल्पना केवल शरीर पर ही घटित होती है कारण कि नरीर भी उससे ग्रपृथक है। यह उत्कृष्ट चिन्तन एकेश्वरवाद मे ही सम्भव है जहाँ जड ग्रौर चेतन दोनो वस्तुग्रो की स्थिति है।

वेदान्तदेशिक के मत से प्रमाणविचार

प्रमा शब्द का ग्रथ यथार्थानुभूति है। प्रमा[14] का करण या साधन प्रमाण कहलाता है। प्रमाण का विभाजन त ग्रनुसार पृथक्पृथक है। चारवाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं। कणादि ग्रौर बौद्ध दो प्रमाण मानते हैं– प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रनुमान। साख्य[15] ग्रौर योग कुल तीन प्रमाण लेते हैं– प्रत्यक्ष ग्रनुमान ग्रौर शब्द। न्यायदशन चार प्रमाणवादी है — प्रत्यक्ष ग्रनुमान, शब्द ग्रौर उपमान। मीमासा[16] दशन के विभिन्न सम्प्रदाय पाच या छ प्रमाण मानते हैं। वे याय के प्रमाणो म ग्रर्थापत्ति ग्रौर ग्रनुपलब्धि जोडकर उक्त सख्या पूर्ण करते हैं। ग्रद्वतवेदान्त मीमासा के प्रमाणों को स्वीकार करता है परन्तु अधिकांश वष्णववेदान्त साख्य के तीन प्रमाणो को ही पर्याप्त समझते हैं। वेदान्तदेशिक कुल तीन प्रमाण मानते हैं— प्रत्यक्ष ग्रनुमान ग्रौर ग्रागम। उनके मतानुसार प्रत्यक्ष के ग्रन्दर इन्द्रियानुभूति, स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञान ग्रादि हैं। उक्त मत मे ग्रभाव कोई पदार्थ नही ह, इस हेतु उसका प्रत्यक्ष

नहीं हो सकता। वस्तुत भावपदार्थ का अन्यत्र भाव या अवस्था भेद ही अभाव है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष विशिष्टविषय[47] का होता है, इस कारण निर्विशेष का प्रत्यक्ष अमान्य है। न्याय और अद्वैतवेदान्त में निर्विशेष का प्रत्यक्ष है, इसलिए वहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष स्वीकृत है। न्याय की मान्यतानुसार उत्पत्ति काल में प्रथम क्षण में घट आदि पदार्थ निर्गुण रहते हैं इसलिए किंचित् इद (कुछ है) का प्रत्यक्ष ही होता है, यही निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, जो नामजाति से रहित होता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार यह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष अपूर्ण प्रत्यक्ष है, इसलिए अप्रामाणिक है पूर्ण या विशद् प्रत्यक्ष सविकल्पक या सगुण का ही होता है। प्रत्यक्ष की प्रक्रिया न्याय की है। इसमें आत्ममनइन्द्रिया परस्पर संयुक्त होकर वस्तु से संसर्ग करती हैं।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त में न्यायवैशेषिका का समवेत सम्बन्ध अस्वीकृत है। इसलिए संयोग सम्बन्ध आत्मा से वस्तुपर्यन्त संसर्ग होता है। सविकल्पक तथा निर्विकल्पक से भिन्न प्रत्यक्ष भी है जिसके दो भेद हैं, अर्वाचीन तथा अनर्वाचीन। अर्वाचीन के इंद्रिय सापेक्ष तथा इन्द्रियनिरपेक्ष दो भेद हैं। इन्द्रियनिरपेक्ष के दो भेद हैं– स्वयसिद्ध तथा दिव्य। स्वयसिद्ध योगिप्रत्यक्ष है और दिव्य ईश्वर की कृपा पर अवलंबित है। इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान मुक्तजीव और ईश्वर का ज्ञान है। स्मृति प्रत्यभिज्ञान और उपमान प्रत्यक्ष के ही भेद हैं। ये प्रत्यक्ष में अन्तर्भूत हैं। इन्हें प्रत्यक्ष से पृथक् बताने से कल्पना गौरव होगा।

अनुमानप्रमाण

अनुमिति के करण को अनुमान[48] कहा जाता है। यह व्याप्ति ज्ञानपूर्वक होती है। व्याप्ति उपाधिरहित नियत देश काल वाला नियत सम्बन्ध है। व्याप्ति अन्वयव्यतिरेकिभेद से दो प्रकार की होती है। साधनविधि में साध्यविधि रूप से प्रवृत्त व्याप्ति अन्वयी कहलाती है जैसे, जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ आग है, और साध्य के निषेध में साधन का निषेध रूप प्रवर्तमान व्याप्ति व्यतिरेकी कहलाती है जैसे, जहाँ आग नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है। यह दोनों प्रकार की व्याप्ति उपाधि के रहने से दूषित होती है। उपाधि साध्य में व्यापक होकर साधन में अव्यापक रहती है। उपाधि भी दो प्रकार की होती है, निश्चित तथा शंकित। निश्चित का उदाहरण है– विप्रतिपन्न सेवा दुःखद है, क्योंकि सेवा है जैसे राजसेवा है। यहाँ व्यापारवत्त्व उपाधि है, जो ईश्वर सेवा में नहीं है यह निश्चित है। शंकित का उदाहरण– विप्रतिपन्न जीव शरीर के अन्त होने पर मुक्त होगा क्योंकि निष्पन्न समाधि-वाला है, जैसे शुकदेवजी थे। यहाँ कर्मात्यन्तक्षय उपाधि जो जीव में है या नहीं, शंका का विषय है। इसलिए व्याप्ति में उपाधि का सर्वथा अभाव रहता है। व्याप्य को साधन लिंग और हेतु भी कहा जाता है। अनुमान के अंगभूत लिंग के दो रूप हैं– व्याप्ति और पक्षधर्मता। उसके पाँच रूप भी हैं– पक्ष में होना, सपक्ष में होना,

विपक्ष मे न होना, किसी प्रकार वाधित न होना, प्रतिपक्ष का न होना। जिस धर्म की सिद्धि की जारही है वह जिसमे रहे वह पक्ष[79] है। पवत पक्ष है और आग धम या साध्य क्योंकि पवत पर आग है, इसकी सिद्धि करनी है। साध्य के समान धम जहाँ हो, वह सपक्ष, जसे, यज्ञशाला, क्योंकि वहाँ भी अग्नि रहती है। जहाँ साध्य और साध्य के समान धम, दोनों का अभाव हो, वह विपक्ष है जसे जल या नदी। प्रबल प्रमाण से साध्य का अभाव पक्ष म सिद्ध करना वाधित विषयत्व है। इस बाध का अभाव अबाधित विषयत्व है। पवत पर आग है किसी प्रमाण से बाधित नही है इसलिए अबाधित विषयत्व है। जिस प्रकार पक्ष की सिद्धि की जाय उसी प्रकार समबली प्रमाण से पक्ष का खण्डन भी किया जाय तो उसे सत् प्रतिपक्ष कहा जाता है। ऐसा न होना असत् प्रतिपक्षत्व है। उपयुक्त विशेषणों से विशिष्ट व्याप्ति दो प्रकार का होता है— अन्वयव्यतिरेकी और केवलान्वयी।

अनुमान बोधक वाक्यों के पांच अवयव[80] होते हैं — प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण उपनय और निगमन। साध्य का कथन प्रतिज्ञा है, जसे पवत पर धूम है। हेतु या लिंग का कथन हेतु है, जैसे धूम होने के कारण ही आग है। व्याप्ति सहित दृष्टान्त देना उदाहरण है— यथा जहा जहाँ धूम होगा वहाँ वहाँ आग अवश्य होगी, जसे— रसोई घर म। दृष्टात भी दो प्रकार का होता है— अन्वयी और व्यतिरेकी। अन्वयी व्याप्ति तथा व्यतिरेकी व्याप्ति के साथ क्रमश दोनों दृष्टान्त रहते हैं। उपसंहार वाक्य को उपनय कहा जाता ह। यह भी अन्वय व्यतिरेकी भेद से दो प्रकार का होता है। हेतुपूवक पक्ष म साध्योपसंहार वाक्य निगमन कहलाता है। उपनय और निगमन के उदाहरण, वसा ही धूवा यह भी है, तथा इसलिये यह भी आग वाला है, क्रमश हैं। वादिप्रतिवादी[81] की योग्यता के अनुसार ये पांचों वाक्य दो वाक्य तक संकुचित हो जाते हैं। उदाहरण और उपनय ही तीव्रबुद्धि वाले वादी के लिए पर्याप्त हैं।

सद् हेतु ही साध्य का अनुमापक होता है। धूम की तरह धूली पटल साध्य का अनुमापक नही है। जहाँ सद् हेतु न हो केवल उसका आभास हो और उससे अनुमान किया जाय, उसे हेत्वाभास कहा जाता है।

हेत्वाभास के प्रकार

हेत्वाभास[82] पांच प्रकार के होते हैं, असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट। असिद्ध के पुन तीन भेद हैं— स्वरूपासिद्ध आश्रयासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। स्वरूपासिद्ध का उदाहरण जीव अनित्य है क्योंकि आँखों म दिखाई देता ह जैसे, घट। आश्रयासिद्ध का उदाहरण— आकाशकुसुम म सुगन्धि है क्योंकि पुष्प है जसे सरोवर का पुष्प। आकाशकुसुम साध्य सुगन्धि का आश्रय है वह संसार म कहीं नहा होता, इसमे असिद्ध है। व्याप्यत्वासिद्ध दो परिस्थितियों म होता है एक

तो व्याप्तिग्रहण कराने वाले प्रमाणो से अभाव मे होना है, अन्य उपाधि होन के कारण। प्रथम का उदाहरण जो क्षणिक होता है वह सत्य होता है। इसका ग्राहक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण नही है। दूसरा-उपाधि-सद्भाव का उदाहरण — यज की हिंसा हिंसा है क्योंकि प्राणिवध है, जसे यज्ञ के बाहर हिंसा होती है। वहाँ प्रयोजक निषिधत्व है, इसलिए यह उपाधि है। विरुद्धहत्वाभास वहाँ होना है जहाँ साध्य के विरोधी पदार्थ म हेतु मिलता है। प्रकृति नित्य है, क्योंकि वह निर्मित की गयी है, जसे घट। निर्मित होना अनित्य की सिद्धि करता है इसलिए यह विरुद्ध हेत्वाभास ह। अनकान्तिक हत्वाभास व्यभिचार दोष सहित होता है। वह साधारण असाधारण भेद से दो प्रकार का होता है। साधारण मे हेतु पक्ष सपक्ष तथा विपक्ष तीनों स्थलो म रहता ह, जसे — शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय ह, जस काल। असाधारण केवल वहाँ होता है जहाँ हेतु पक्ष मे तो हो किन्तु सपक्ष और विपक्ष मे न हो। पृथ्वी नित्य है, क्योंकि उसमे गन्ध है। यहा सपक्ष ही नहो है। प्रकरण सम वहाँ होता है— जहाँ साध्य के विपरीत की सिद्धि करने वाला हेतु भी विद्यमान हो जैसे - ईश्वर नित्य ह क्योंकि उसम अनित्य धम का अभाव है। प्रकरणसम ईश्वर अनित्य है क्योंकि नित्य धम का अभाव है। कालात्ययोपदिष्ट वहाँ होता ह जहाँ हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बधित हो जाता ह। इसका उदाहरण— आग बफ है क्योंकि छूने से ठडी है। यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से हेतु बाधित ह, क्योंकि आग छूने से गम लगती है। वास्तव मे सभी हेत्वाभास व्याप्ति और पक्ष पर ही टिके हैं।

अन्य प्रमाण और अनुमान

वेदान्तदेशिक के मत से उपमान अर्थापत्ति अनुपलब्धि आदि जितने भी प्रमाण अन्य तन्त्रो में उल्लिखित हैं सभी का अन्तर्भाव इसमे हो जाता है। इन्हे पृथक् प्रमाण मानने से व्यथ गौरव दोष की सभावना है।

तर्क— न्यायदर्शन[53] मे तर्क भी एक स्वतन्त्र पदाथ है। जनदर्शन मे प्राय इस अनुमान के अन्तगत रखा जाता है। वेदान्तदेशिक के अनुसार व्याप्य[54] की स्वीकृति से अनिष्ट व्यापक का प्रसजन ही तर्क है। उदाहरण के लिए पर्वत पर आग है, क्योंकि धूम दिखाई देता है, जसे, यज्ञशाला मे दिखाई देती है अनुमान वाक्य है परन्तु यदि इसे द्रष्टा इस प्रकार विमर्श करे कि यदि आग नहीं रहती, तो धूम न होता, तब यह तर्क कहलाएगा।

वेदान्तदेशिक[55] भी कुछ आचार्यों की तरह अनुमान के अन्तगत तर्क को भी मानते हैं। उनके अनुमान के क्षेत्र म तर्क वाद, जल्प वितण्डा, जाति और निग्रह स्थान सभी आते हैं। तर्क और अनुमान में केवल व्याप्ति के प्रयोग का अन्तर है। तर्क के प्रधान पाँच भेद हैं— आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, केवलानिष्टप्रसग। कुछ लोग प्रतिबन्दी को भी एक भेद मानते हैं। कुछ लोग पचम भेद का अवान्तर

भेद इसे मानते हैं। उपयुक्त पाच भेद प्रामाणिक तत्त्व का परित्याग करने वाले तक मे ही सुलभ हैं। इस प्रकार के तक म निम्नलिखित तत्त्व भी मिलते हैं विपयय पयवसान, प्रतितकपराहत्यभाव, प्रसजनीय की अनिष्टता अनानुकूल्य (स्वपक्ष परपक्ष दोनो म) तथा व्याप्ति। ये पाच तत्त्व तक के अत्यत आवश्यक अग हैं। यह तक दो प्रकार का होता है– सत्तक[56] तथा दुस्तक। उपयुक्त दो भेद जो तक के बताये गय है वे दुस्तक के ह। सत्तक अनुमान स्वरूप होता है।

यदि कोई (खण्डनखण्डखाद्य) यह आशका करे कि यदि कोई दोप या गुण न मानें, वादी प्रतिवादी की मर्यादा भी न माने पक्षविपक्ष भी न माने तब ऐसी परिस्थिति म कौन साधक तथा क्या साध्य होगा, तो उचित नही है क्याकि इस प्रकार के वादी को प्रमत्त या बालक माना जाएगा। यदि मध्यस्थ की सहायता से वाद होगा तो मध्यस्थ की बात ही साध्य होगी। यदि अन्य के प्रति अन्य का प्रतिवादित्व स्वीकार न किया जाय ता व्याघात दोप या अन्य प्रकार का दोप किस प्रकार माना जाएगा? दोपो को मान कर ही अधिकार अनाधिकार की व्यवस्था दी जा सकती है। मध्यस्थ म भी यह गुण होना चाहिए कि वह उचितानुचित का ध्यान रखे तथा वह निष्पक्ष हो।

कथा — परस्पर[57] विरोधी वादियो का व्यवहार ही कथा है। यह कथा तीन प्रकार की होती है वाद जल्प और वितण्डा। वाद म प्रमाण और तक साधन होते है। ये दोना प्रामाणिक होते है। वाद का प्रयाजन तत्त्व की सिद्धि या ज्ञान है। केवल विजय के लिये जल्प का प्रयाग होता है। इसम वादी रागरहित नही रहता। यदि इसका प्रयोग दोना पक्ष करे तब जल्प एक पक्ष करे तब वितण्डा कहलाएगा। वितण्डा के भी दा भाग हैं — वीतरागवितण्डा तथा विजगीपुवितण्डा। शिष्य गुरु का वितण्डा, वीतरागवितण्डा होता है। वाद म स्वपक्षसाधन परपक्ष मे दोपदशन शास्त्रदोप का वजन और साधन तथा दूपण का समथन होता है।

वितण्डा मे कत्तव्य वितण्डा[58] मे भी वादी प्रतिवादी का नियम और व्यवस्था का पालन करना होता है। इसम छल[59] जाति और निग्रह स्थान से अपने को बचाना आवश्यक होना है। बुद्धि के द्वारा कल्पित बाध्यताएँ वितण्डा म त्याज्य हैं जसे — पवग रहित शब्दो का प्रयोग वर्जित कर वाक्य प्रयोग या अन्य प्रकार की सीमा स्वय बना लेना।

छल– कथा म कल्पित दोप उपस्थित कर वादी या प्रतिवादी को हतप्रभ करने की चेष्टा करना छल हैं। छल तीन प्रकार का होता है— मुख्यछल उपचार छल[60] तथा तात्पयछल। मुख्याथ के द्वारा छल करना मुख्य छल है। लक्षणावत्ति के द्वारा वादी के अथ से भिन्न अथ की कल्पना करना उपचार छल है वादी के सम्पूण कथा क सार तत्त्व को अन्य प्रकार स उपस्थित कर उसमे दोप दिखाना

तात्पय छल है।

जाति– अपने सिद्धान्त का व्याघातक उत्तर ही जाति कहलाती है। दूसरे शब्दों म दूषणासक्त उत्तर भी जाति[61] कहलाती है।

षट्पक्षी– असत् उत्तर[62] से छ कक्षाओ म प्रवेश होने को षट्पक्षी कहा जाता है। सद्वादी की छ कक्षाएँ होती हैं असद्वादी की पाच। यदि सद्वादी कोई प्रश्न करता है प्रतिवादी असत् उत्तर देता है तो तीसरी कक्षा मे सद्वादी आता है वह उसके दोष को नही बताता यद्यपि दोष बतान अर्थात् पयनुयोज्य की अपेक्षा है। मध्यस्थ के टोकने पर प्रतिवादी पुन अन्यथा उत्तर देता है तब चौथी कक्षा मे प्रवश होता है। वादी भी ठीक उत्तर नही देता तब प्रतिवादी की पाचवी कक्षा आती है, यहाँ वादी प्रतिवादी दोनो स्तम्भित होते हैं। इसमें प्रश्न की अपेक्षा सभापति के द्वारा की जाती है। वह पुन नही पूछता, तब प्रतिवादी अनगल प्रलाप करता है, इस प्रकार छठी कक्षा उपस्थित हो जाती है। दूसरी कक्षा मे ही पय नुयोज्य की अपेक्षा होती है। यह जातियो स बनती है।

निग्रहस्थान– अप्रतिपत्ति या विप्रतिपत्ति निग्रहस्थान नामक दोष होता है। इससे वादी या प्रतिवादी की पराजय होती है। यह तत्त्व का अप्रतिपत्तिसूचक होता है। कथा के अवसान मे अत्यन्त बाधक निरनुयोज्यानुयोग होता है। इसके भेद छल, जाति प्रतिज्ञाहानि आदि आभास, अनतवचन अकालग्रह इत्यादि हैं।

विशेषविमर्श

व्याप्तिग्रहण– न्यायदशन के अनुसार धूम और अग्नि का साहचय बार-बार देखकर उनमे व्याप्ति निश्चित् की जाती है। किसी अन्य आचाय के मत से प्रथम दशन से ही निश्चय कर लिया जाता है। वदान्तदेशिक के अनुसार प्रथम दर्शन से व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है, परन्तु पुन पुन दर्शन व्यभिचार हेतु है। तक स उपाधि का निराकरण किया जाता है, जो भूयोदर्शन से प्राप्त होती है। व्याप्ति का ग्रहण जब होता ह तब इन्द्रिय से सन्निधान होने पर सवप्रथम व्यक्ति का सबध होता है तत्पश्चात् जाति, उसके आधार तथा विशेषण रूप म सभी व्यक्तियो का। इस प्रकार सभी व्यक्तियो से सम्बन्ध होता ह। व्याप्ति का ग्रहण सभी व्यक्तिया के उपसहार से होता है।

हेत्वाभास के प्रधान तत्त्व– हेत्वाभास के प्रधान हेतु व्याप्ति और पक्ष धमता का दोष सहित रहना है। व्याप्ति के कारण व्याप्त्यासिद्धि हैं पक्षधमता के अभाव म स्वरूपासिद्धि, शेष हेत्वाभास इन्ही के अन्दर हैं– विपक्ष म जान से अनैकान्तिक म भी व्याप्ति का अभाव रहता है। पक्ष मात्र म रहना भी व्याप्ति का अभाव ही है। कालात्ययापदिष्ट म भी व्याप्ति का अभाव ही है। प्रकरणसम म साध्यनिश्चय के अभाव म व्याप्तिभग ही है। कुछ लोग व्याप्ति और पक्षधमता

दोनों में त्रुटि देखकर हेत्वाभास मानते हैं।

प्रतिकूल तर्क जो अत्माश्रय आदि हैं वे भी व्याप्ति को नष्ट करते हैं। उपाधि सहित होना भी व्याप्तिदोष के कारण ही है। क्योंकि व्याप्ति का सम्बन्ध ही निरुपाधिक होना है। जो सोपाधिक है वही अन्यथासिद्ध और अप्रयोजक आदि शब्दों के द्वारा कहा जाता है। सभी हेत्वाभास असिद्ध में ही पर्यवसित हो सकते हैं क्योंकि व्याप्त्यसिद्धि उसी का अंग है। दृष्टान्तदोष तथा हेतुन्यूनो को हेत्वाभासों में अन्तर्भूत किया जा सकता है। सभी अनुमानदोष व्याप्ति और पक्षधर्मता पर आश्रित हैं। आश्रयासिद्धि भी उसी में विश्रान्त होगा। व्याप्ति और पक्षधर्मता में दोष न रहने के कारण अन्वयव्यतिरेकी तथा केवलान्वयी को स्वीकृत किया है किन्तु वक्रानुमान (महाविद्या) का स्वीकार इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह साध्य की सिद्धि में अंग नहीं बनता इसलिए उसकी प्रयोजकता समाप्त प्राय रहती है। वह एक तरफ अपनी स्थापना कराता है दूसरी तरफ स्वयं स्थापना का खण्डन भी। वक्रानुमान स्वव्याघातक होता है। केवल व्यतिरेकी अनुमान वेदान्तदेशिक के अनुसार अस्वीकार्य है।

आगमप्रमाण

शब्दप्रमा के कारण को शब्दप्रमाण कहा जाता है। यह दो प्रकार का माना जाता है– आगम, और आप्त। आगम अनेक प्रकार के हैं, परन्तु वेद ही सर्वोत्तम हैं, ऐसा वेदान्तदेशिक का मत है। अन्य आगम तभी प्रामाणिक हैं जब वे वेदों से सहमत हों। पांचरात्र आगम ही ऐसा है जो सर्वांग में वेद सम्मत है। उसके उपदेष्टा वेदरक्षक नारायण हैं इसलिए अन्य आगमों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं। वेद के एक भागमात्र का प्रामाण्य नहीं है सम्पूर्ण वेद ही प्रामाणिक[64] है।

वेद के दो खण्ड या काण्ड है–पूर्व काण्ड जो आराधनकर्म प्रतिपादक है उत्तरकाण्ड जो आराध्य का प्रतिपादन करता है। मन्त्र और ब्राह्मण के सम्मिलित भाग को वेद कहा जाता है। मन्त्रभाग संहिता और ब्राह्मणभाग ब्राह्मण अरण्यक और उपनिषद् संज्ञा से भी जाना जाता है। श्रुतियों के विरोधाभास का निर्णय करने वाला शास्त्र मीमांसा है। कर्मकाण्ड के मीमांसा को पूर्वमीमांसा आराध्यकाण्ड की मीमांसा को उत्तरमीमांसा या ब्रह्ममीमांसा कहा जाता है। वास्तव में उभयमीमांसा की एक शास्त्रीयता है।

अनुष्ठेय अर्थ का प्रकाशन जिस में हो, वह मन्त्र है। विधि के अधीन प्रवृत्ति का उत्थापक वाक्य अर्थवाद है। कर्तव्यता या हितानुशासन विधि है। जैमिनि के प्रसिद्ध सूत्र 'अभिधान अर्थवाद'[65] का तात्पर्य वेदान्तदेशिक ने बताया कि देवों का अनेक विग्रह वेदों में समाम्नात हैं। लोक में विभिन्न देव आकृतियाँ देखी जाती हैं। वैखानस आगमों के रचयिता ऋषियों ने विविध रूपों का आगमों में स्थान दिया है।

विशेष प्रकार के मन्त्रों का उनके अर्थ से भिन्न प्रकार से अभिधान या व्याख्या अथवाद है। 'चत्वारि शृंगा त्रयोऽस्यपादा' मन्त्र का व्याख्यान इसी कारण तीन प्रकार का मिलता है – व्याकरण परक, अग्नि परक तथा विष्णु परक। स्तुति परक मानने की तरह अन्य व्याख्या भी उचित है। हितानुशासन वाक्य को विधि कहते हैं। यह विधि तीन प्रकार की होती है अपूर्व परिसंख्या तथा नियम। अपूर्व विधि अत्यन्त अप्राप्तार्थ का प्राप्त कराने वाली होती है। नियम विधि प्राप्तार्थ का नियमन करती है। उक्त विधियों के सामूहिक रूप में प्राप्त होने पर एक का निवृत्त करने वाली विधि परिसंख्या विधि है। नित्य नैमित्त और काम्य धर्म का आदेश देने वाली नियम विधि है।

धर्म में वेद ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष अनुमान इस से दुर्बल प्रमाण हैं। वेद नित्य हैं। इसका मीमांसक और नैयायिक भिन्न भिन्न युक्तियों से पुष्ट करते हैं। औपदशिक के अनुसार जहाँ ईश्वर कर्त्ता माना जाता है उस मत में पहले वह ज्ञानी था या नहीं ? यदि था तो अनुभूत का त्याग कर अन्य ज्ञान बनाया ही क्या ? यदि नहीं था, तो वह अज्ञ होने के कारण ईश्वर है ही नहीं। यदि नूतन वेद निर्माण करता है, तो प्राचीन पाप नवीन पाप व्यवस्था से भिन्न हो सकता है। निर्माण काल तक नित्य कर्म का लोप भी हो सकता है। इसलिए वेद नित्य हैं उसी का उपदेश सगत है। मन्वन्तरों में वेद निर्माण नूतन न होकर देश काल पात्रानुसार अनुष्ठेय भाग के महत्त्व में परिवर्तन हो जाता है। इसलिए मन्वन्तर के अवसान कालिक महत्त्वपूर्ण धर्म से अन्य मन्वन्तर का रोचक कर्म भिन्न होता है, किसी में यज्ञ किसी में तप, किसी में भक्ति तथा किसी में ज्ञानयोगादिक धर्म हैं। इससे सिद्ध होता है कि वेद का ही प्रामाण्य है कारण कि वह नित्यनिर्दोष ज्ञान है। धर्म में वेद की ही प्रामाणिकता अपश्चिम है। वेद के बिना धर्म का प्रामाण्य असम्भव है। सिद्धचवेद[66] प्रामाण्य धर्मस्य वेदप्रमाणकत्व चेति धर्मे वदएव प्रामाण्य वेदप्रमाणमेवेति।'

महर्षि जैमिनी ने स्पष्ट[67] हा किया है कि धर्म में वेदप्रामाण्य है। यह प्रामाण्य बादरायणाय के 'अनावृत्ति[68] शब्दात्' सूत्र तक जो वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय का अन्तिम पाद का चरम सूत्र है, धर्मानन्दनिक के अनुसार माना जाना चाहिए, कारण कि उभय मीमांसाओं में अन्यायाश्रयता तथा एकरूपता है।

वेदान्तदर्शन की मान्यता है कि वेद सांगोपांग प्रामाणिक हैं। वेद के छ अंग क्रमशः छन्द कल्प, शिक्षा निरुक्त ज्योतिष और व्याकरण हैं। वेदविद् आप्त ऋषियों द्वारा वेदाविरुद्धव्यवहार प्रायश्चित्त न्यायदण्ड आदिक प्रतिपादक शास्त्र स्मृति हैं। स्मृति का भी प्रामाण्य[69] है किन्तु श्रुति या वेद के समक्ष दुर्बल है। मनु आदि स्मृति की तरह कपिल गौतमादिक स्मृतियों का प्रामाण्य तो है, किन्तु मनु आदिक से दुर्बल है। कारण कि जहाँ इनमें विरोध है वह वेदविरुद्ध है। मनु आदिकों ने

स्पत वेदाविरुद्ध होने का घोष किया ह तथा वेदविरोधी का त्याग करने का आदेश दिया ह ।

इतिहासपुराणो का प्रामाण्य भी ह कारण की वेद का उपवहृण[70] हैं। यदि कही विरोधाभास हो तो उसका परिहार कर लेना चाहिए, जसा कि वेदान्त वाक्यो म करने की परम्परा ह । महाभारत एव रामायण भी शुद्धश्रुतिप्रमाण के निकट हैं। विरुद्धाश का वदसमत श्रथ करना चाहिए या उनका त्याग । उसी प्रकार १८ पुराणो मे कुछ सात्त्विक पुराण हैं, जो विष्णु परक हैं कुछ राजस पुराण हैं जो देवी ब्रह्मादि से सबधित हैं और कुछ तामस पुराण भी हैं। इनम विरुद्धाशो का प्रामाण्य सदिग्ध है[71] पर वेदाविरुद्ध ग्राह्य है। पाशुपत या शाक्तागमो म भी यही न्याय वतना चाहिए। पाँचरात्र आगम सपूर्ण रूप से वेद सम्मत है जिससे उनकी प्रामाणिकता असदिग्ध ह । वैखानसागम भी प्रामाणिक हैं। शिपायुर्वेद गाधववेद धनुर्वेद अथशास्त्रादिको का प्रामाण्य भी वेदानुकूलता के कारण ही ह । आप्तोच्चरित वाक्य (दिव्यप्रबन्ध)[72] भी वदसमत होने से ही प्रामाणिक हैं। वाक्य दो प्रकार के हैं— लौकिक तथा वदिक । वाक्यो की दो वत्तिया हैं– अभिधा तथा लक्षणा । इनम याग रूढ तथा उभयात्मक भेद से अनेक प्रकार के वाक्य अभिधा वत्ति म हैं। औपचारिक वाक्य मुख्याथत्यागपूवक तत्सम्बन्धित अन्याथ का आपादक हैं जिनके भेद लक्षणा, और गौणी हैं। मुख्याथ का बाध होने पर उससे सन्निकट अथ म वत्ति वतनवाली शक्ति औपचारिकी है। उपचार के दो भेद हैं– लक्षणा और गौणी। लक्षणा सादृश्य येतर सम्बन्ध वाली वत्ति है जबकि गौणी सादृश्य सम्बन्ध से रहती है। वदिक तथा लौकिक सभी शब्द सविशेष विषयक तथा भेद विषयक हैं। शरीरवाचक शब्दो का शरीरी म पयवसान है। नारायण जो ब्रह्म है सभी शब्दो द्वारा वाच्य है अत वे प्रपचमात्र के शरीरी हैं।

उपयुक्त प्रमाण विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्तदेशिक ने प्रमाणो का उचित परीक्षण कर वैज्ञानिक रीति से उनकी परिभाषा की। आवश्यकता अनुसार परपक्षो की मान्यताओ को अविकल्प से ग्रहण भी किया और अनावश्यक पुरानी परम्परा का त्याग भी नि सकोच होकर किया । प्रत्यक्षप्रमाण की ज्येष्ठता सवत्र हान पर भी वेदप्रमाण की मान्यता सतक उन्होने स्वीकार की। तुलसीदास ने भी धमनिरूपण आचारनिरूपण तथा सन्तो की वाणी मे बार बार वेदो का नाम लिया है। धम का पर्याय श्रुतिसम्मतपथ कहा है। वद का प्रामाण्य वेदान्तदेशिक न उभयमीमासाशास्त्र व्याप्तश्रुतिया द्वारा धम तथा मोक्ष दोनो म माना है। तुलसीदास ने भी रामायण एव विनयपत्रिका मे मोक्षशास्त्र का व्याख्यान करते समय श्रुतियो की दुहाई दी है न कि किसी गुरुमुखवाणी की। लोकाचायपरम्परा म अलवार सन्तो की वाणी वेदवत् प्रामाणिक मानी जाती है किन्तु वेदसम्मत नही मानी जाती। वेदान्तदेशिक[73] ने

इह वेदसम्मत ही माना है न कि वेदखण्डन। तुलसीदास जी ने भी धम और मोक्ष के लिए वेद को एकमात्र उपयोगी घोषित किया है। अद्वैतवेदान्ती, मायावादी तथा आविर्भावतिरोभाववादी दोनो ही मोक्ष के लिए समाधि या पुष्टिपुष्टि मे वेदो का अनुपयोगी बताते हैं किन्तु वेदान्तदेशिक मुक्तावस्था मे भी वेद की उपयोगिता देखते हैं। रामायण म वेद भक्ति के परमसहायक है। ईश्वर स्वय वेदो के लिए ही हैं, क्योकि मर्यादा धम से है और धम वेद से। इस प्रकार वेदान्तदेशिक का शब्दप्रमाण पूवमीमामको की तरह अतिवद वादी है, जो तुलसी को अभिप्रेत है शकराचाय, वल्लभाचाय तथा मधुसूदन सरस्वती की मान्यताओ से तुलसी को कोई रुचि नही प्रतीत होती।

पुरुषाथचतुष्टय

धमपुरुषाय— वेदो म तथा वेद सम्मत स्मृतियो एव पुराणो म जिसे वेदान्त देशिक स्वीकार करते हैं चारो पुरुषार्थों की वार्ता है। सबसे प्रथम धम का नाम लिया जाता है जो भगवान् से लेकर जीव तक ब्रह्मचारी से सन्यासी तक व्याप्त है। अद्वैत वेदान्त और वल्लभाचाय सन्यासी के लिए विधिनिषेधमय धम का सकोच मानते हैं। वेदान्तदेशिक भगवान् म भी विधि का पालकत्व मानते है। राम की सपर्या एकादशी के दिन निराम्न होती है। यह विधि के ही कारण है। तिंगले आदि वष्णव एकादशी के दिन भी भगवान् का रागभोग (अन्न के विविध व्यजनो का) समर्पित करते हैं तथा उसे ग्रहण भी करते हैं। धम काम्य नित्य तथा मोक्षोपकारी भेद से तीन प्रकार का है। वेदान्तदेशिक न काम्य धम की भत्सर्ना की है। नित्य और मोक्षोपकारक धम को ही व उपयोगी धम मानते हैं। वर्णाश्रमधम की मर्यादा सिद्धान्त रूप म ही नही व्यवहार म भी उन्ह स्वीकार है। ब्रह्मचयपालन विद्याभ्यास, स्वजाति म वदिक विधि से विवाह अग्निपरिचर्या तथा तपश्चर्या गाहस्थ्य एव वानप्रस्थ तक उन्होने जीवन म धारण किया। सयम और नियम धम के आवश्यक उपादान उन्हें हृदय स मान्य थे। यह (विधिनिषेधात्मक [74] श्रौतीविधि—उद्देश सगृहते) वैदिक आज्ञा और वजना ही धम है।

अथपुरुषाय— अथ का द्वितीय पुरुषाय माना गया है। आयपरम्परा म अर्थार्जन नैतिक आधार पर उचित ठहराया जाता है। यद्यपि अथ साधना म भी अर्थार्जन सम्भव हैं किन्तु धम या नीति स पृथक रहकर प्राप्त किया हुआ धन दुख का कारण बनता है। वेदान्तदेशिक अथ की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। अपने जीवन काल म शास्त्रसम्मत जीविका से ही अपना तथा परिवार का भरण उन्होने किया। व उच्च कोटि क विद्वान् प्रवक्ता तथा आचाय होकर भी भिक्षुकजीवन पसद करते थे। भिक्षुचर्या भी असाधारण थी। बिना मांगे जो कुछ उन्ह मिल जाता था उस ही लेकर नियत समय म लौट आते थ। उनकी मान्यता थी कि वर्णाश्रम धम की

मर्यादानुसार ही उपार्जित करना चाहिए। ब्राह्मण का त्याग, तपस्या और सन्तोष युक्त रहना चाहिए। वेदान्तदेशिक ने अपने सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप भी अपने जीवन में स्वयं अपनाकर दिया। विजयनगरदरबार की प्रतिष्ठा और सम्मान को ठुकराकर उन्होंने साफ शब्दों में दो टूक उत्तर दिया– बिखरा हुआ मुट्ठी भर अन्न कम नहीं है, पेट पालने के लिए फिर क्या महत्त्वपूर्ण कार्यों का त्यागकर धनसंग्रह में लगा जाय? अन्य वर्णों के लिए धन आवश्यक उपादान था। उनकी मान्यता के अनुसार धन धर्म के लिए हैं और धर्म से धन होता है। क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए धन अर्जन नहीं किया जाता।

कामपुरुषार्थ— काम का इंगित अर्थ यौन सम्बन्ध है। यह केवल गृहस्थ आश्रम के लिए धर्मबुद्धि से सन्तानप्राप्तिहेतु उचित बताया गया है। त्यागबुद्धि से कामोपभोग उत्तम पुरुषार्थों में है। विवाह धर्म का एक आवश्यक उपादान है। विवाह से भिन्न काम अनैतिक अधार्मिक और अवैध है। यह भी देश काल और पात्र की अपेक्षा से ही उत्तम है। सार्वजनिक स्थान पर दिन में, रजस्वला आदिक से संसर्ग अनुचित है। कामशास्त्रजन्य वेदसम्मतपरामर्श[7] उन्हें मान्य है। वेदविरोधी महायान या वाममार्ग के आगमों से वे सहमत नहीं है।

मोक्षपुरुषार्थ— मोक्ष का तात्पर्य भारतीय दर्शन में संसार के बन्धन से जीव की मुक्ति है। वेदान्तदेशिक के अनुसार मोक्ष दो प्रकार का है कवल्य रूप तथा पराभक्तिरूप। परन्तु भगवान्[76] का साहचर्य ही जो सायुज्य रूप है उत्कृष्ट मोक्ष है। यह वैकुण्ठ मे ही मिलता है। वेदान्तदेशिक अद्वैतवाद का अनुमोदित जीवन मुक्ति उसी रूप में स्वीकार नहीं करते। शरीरपात के बाद ही अपरोक्षानुभूति उन्हें मान्य है।

प्रपत्तिविद्या— प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। यह भगवान् के निकट की जाती है। इस मोक्षविद्या का स्रोत वेदों मे है। भगवान् वेदव्यास ने गीता में इस दिशा मे संकेत किया है। स्वामी रामानुजाचार्य ने इसकी व्याख्या बड़ी मार्मिक शैली मे की हैं। वेदान्तदेशिक ने गीता के सर्वधर्मान् के पूर्व निषिद्ध और काम्य शब्द का प्रयोग कर रामानुज का समर्थन करते हुए अपनी टीका लिखी है जिसका अनुवाद न्यायसदन में करते हुए लिखते हैं–

स्वच्छेदत्वे स्थिरधियं त्वत्प्राप्त्येकप्रयोजनं।
निषिद्धकाम्यरहितं कुरु मां नित्यकिंकरं ॥१॥

वेदान्तदेशिक के अनुसार अनेक ब्रह्मविद्याओं में प्रपत्ति भी एक है। भक्ति और प्रपत्ति दोनों– प्रीतिमय होने के कारण सम है परन्तु भक्ति मे अल्प विश्वास सम्भव है जबकि प्रपत्ति मे महा विश्वास की अपेक्षा है। भक्ति द्विजा के लिए वेदाभ्यास सहित है इसमें सामर्थ्य की आवश्यकता है प्रपत्ति में यह अनिवार्य नहीं।

किसी भी वर्ण का या वर्णवाह्य व्यक्ति भी प्रपत्ति कर सकता है। शरणागति जीवन में एक ही बार होती है, भक्ति जीवनपर्यंत की जाती है। शरणागति का प्रभाव अमोघ[77] है। भगवान् इससे शीघ्र मोक्ष देते हैं। अतीत का कोई पाप विघ्न नहीं बन सकता। वर्तमान् के पाप की शान्ति के लिए प्रायश्चित और तपश्चर्या आवश्यक है। शरणागति साध्योपाय हैं, भगवान् सिद्धोपाय। भगवान् स्वयं मोक्ष देते हैं शरणागति भगवत्प्रसाद के द्वारा मोक्ष देती है। तिंगले रामानुजी भक्तियोग को स्वरूप विरोधी मानते हैं। वेदान्तदेशिक भक्ति और ईश्वर से भिन्न की भक्ति, स्वरूपविरोधी बताते हैं। भक्ति और प्रपत्ति एक दूसरी की सहायिका हैं।

भक्तियोग और प्रपत्ति में प्रमुख भेद यह भी है कि प्रपत्ति साधना में मृत्यु के तत्काल पश्चात् मोक्ष मिलता है जबकि भक्तियोग में कई जन्मों का विलम्ब भी हो सकता है। निक्षेपरक्षा में कहा गया है कि शरीरपात होने पर ही मोक्ष कैसे मिल जायगा ऐसी शंका करना व्यर्थ है कारण कि भगवान् का स्वभाव विलक्षण है।

यद्यपि प्रपत्ति[78] से ही सभी पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं किन्तु प्रपन्न क्षुद्रभोगों के लिए इसका अनुष्ठान नहीं करते। वे केवल भगवत्प्रीति की ही कामना रखते हैं। प्रपन्न अकर्मण्य या नैष्कर्म्य का ग्रहण नहीं करते। कर्म के फल त्याग में ही निष्काम का तात्पर्य मानते हैं। इसीलिए भगवान् युद्ध के लिए अर्जुन को प्रेरित करते हैं– 'ततश्च युद्धस्यास्य क्षत्रिय धर्मस्य अर्जुनाय सर्वावस्थाया अवश्य अनुष्ठेयत्व उपदिष्ट।' निक्षेपरक्षा।

प्रपत्ति और तिंगले आचार्य

तिंगल परम्परा के आचार्य तथा रामानन्दी वैष्णव ईश्वरदयाव्याज या क्षमाव्याज पर बल देते हैं। वेदान्तदेशिक जीवदयाव्याज को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भगवान् जीव पर दया कर उसके पापों को दग्ध करते हैं पुनः लिप्त होने से बचाते हैं, जीव भी भगवान् की प्रतीक्षा या क्षमा करता है। तिंगले आचार्य धर्म का भी त्याग प्रपत्ति में आवश्यक मानते हैं परन्तु वेदान्तदेशिक इस मत का विरोध करते हैं। तिंगल परम्परा सभी प्रकार के कर्मों के त्याग पर बल देती है उसके अनुसार अकिंचन बनना अनन्यता की भावना रखना और स्वयं को भगवान् भरोसे छोड़कर उसके कृपाकटाक्ष की अपेक्षाबुद्धि ही शरणागति है। वेदान्तदेशिक का विचार है कि जीवात्मा स्वरूपतः कर्त्ता, भोक्ता और ज्ञाता है उसका नित्य धर्म त्यागना ही असंभव है, अतः मर्कटी किशोर की तरह फलासक्ति का त्याग कर विहित धर्मों का का पालन आवश्यक शरणागति में भी है। मार्जारकिशोर की तरह धर्म और पुरुषार्थ का त्याग करना विष्णुविरोध है।

वेदान्तदेशिक का ब्रह्मतत्त्व

ब्रह्मविषयक[79] अनेक धारणाएं उपनिषत्साहित्य में ही मिलती हैं जिन्हें

विभिन्न दार्शनिकों ने शिव, शक्ति और विष्णु आदि के रूप में पल्लवित कर अपने दर्शन की सुदृढ़ दीवार निर्मित की है। प्रधानतया द्वैत और अद्वैतमूलक विचार मिलते हैं, जिनकी संगति बैठाना उत्तरमीमांसा का प्रधान लक्ष्य रहा है।

वेदान्तदेशिक का संसर्ग अद्वैत से भिन्न परम्परा से है इसलिए इनका ब्रह्म चिंतन शंकराचार्य की परम्परा से विलक्षण है। ये ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति वृहतो हि अस्मिन् गुणा[80] अर्थात् 'जिसमें सर्वोत्कृष्ट गुण हैं वह ब्रह्म है' करते हुए, अपना तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इनके मत से ईश्वर और ब्रह्म में तादात्म्य है— ईश्वर ही ब्रह्म है। यहाँ चिद् और अचिद् ब्रह्म के विशेषण हैं। इसलिए चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कहा जाता है। यह विशेषण सम्बन्ध अपृथक्सिद्ध भी कहा जाता है। इनके अनुसार प्रकृति जीव और ईश्वर आन्तरिक रूप में भिन्न होकर भी अभिन्न हैं, इससे अपृथक् माने जाते हैं।

ईश्वर *या ब्रह्म निखिलब्रह्माण्ड का शासक सर्वव्यापक चेतन चिदचिद् का* शेषी (अंगी) परमकारुणिक, न्यायी सभी कर्मों के द्वारा आराध्य सभी कर्मों का फल देने वाला सबका आधार सब कार्यों का उत्पादक है। यह स्वधर्मभूतज्ञान तथा स्वात्म से अन्यतर, आत्मा के रूप में रहने वाला, स्वतः ही सत्य संकल्पवान् ईश्वर है।

वह ईश्वर[81] एक है कारण कि वैदिक ऋचाओं में या वाक्यों में उसे एक (एकमेवाद्वितीय) ही बताया गया है और उसे निरुपम बताया गया है— न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते। वह देश काल और वस्तु की सीमा (परिच्छेद) से रहित है जिसके कारण वह सर्वात्मक है अतः वह ज्येष्ठ तथा वरुण है। शास्त्रों में भी उसे बड़ा तथा बढ़ाने वाला कहा गया है। ज्येष्ठ का तात्पर्य सबके विलीन होने पर भी वह रहता है ऐसा समझना चाहिए। ईश्वर ही उपर्युक्त लक्षण एवं युक्तियों के बल पर ब्रह्म सिद्ध होता है। एक शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता' तथा द्यावाभूमी जनयन् देव एक' आदि श्रुतियाँ भी उसे एक ही बताती हैं। श्रुतिबल पर यह सिद्ध है कि ईश्वर जगत् का कारण है प्रधानादि नहीं। प्रधानादि में ब्रह्मत्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। वेदान्तदेशिक ने और भी कहा है— न प्रधानादेर्ब्रह्मत्वम् नापि ब्रह्मरुद्रादितेषां सज्यत्वसंहार्यत्वकर्मवश्यत्वादिश्रवणेन जीवत्वसिद्धेः। अर्थात् न तो प्रधान को ब्रह्म सिद्ध किया जा सकता है और न ब्रह्मा या रुद्र को। ब्रह्मा और रुद्र की उत्पत्ति सुनी जाती है उनका संहार एवं कार्य भी नियत है इसलिए उन्हें त्रिकालातीत ईश्वर या *ब्रह्म कहना उचित नहीं।'*

भगवान्[82] सर्वत्र पूर्ण है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों मूर्तियों में एक ही ईश्वर अन्तर्यामी होकर आत्मतया स्थित है। वह गुणरहित नहीं है अपितु निषिद्ध गुणशून्य है। परपक्ष का परिभाषित निर्गुणत्व ब्रह्म में नहीं है कारण कि स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च तथा 'सत्यकाम सत्यसंकल्प' वेदों में सुना ही जाता है,

किन्तु यदि 'साक्षी चेता केवलो निगुणश्च' (अर्थात् वह साक्षी चेतन केवल, निगुण है) के बल से निगुण सिद्ध किया जाय, तो यह प्रयास ठीक नहीं, क्योंकि दोनों ही श्रुतियां सार्थक हैं। दोनों को मानने पर, विरोध का समुच्चय एक अधिष्ठान में सिद्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म में गुणों का अभाव तथा सकल गुणों का सद्भाव है, इसलिए निगुण का अर्थ अशुभगुणरहित ही समासवृत्ति के द्वारा मानना उचित है। यदि निषेध के बल पर सगुणत्व का बाध किया जाना कोई उचित माने, जैसा कि अद्वैत दर्शन (शांकर) वाले मानते हैं, तब शून्यवाचक श्रुतियों के बल पर उसकी सत्ता का निषेध भी होने लगेगा। ब्रह्म का निषेध हो जाने पर वेदांत के बदले माध्यमिक-बौद्धमत होगा। यह किसी भी आस्तिक दार्शनिक का स्वीकार्य नहीं, इसलिए ब्रह्म का सगुण मानना ही युक्तियुक्त है। निगुण मानने पर लोक, वेद तथा युक्ति तीनों की असंगति है।'

'ईश्वर[83] या ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। यदि यह कहा जाय कि एक ही तत्त्व निमित्कारण तथा उपादानकारण नहीं माना जा सकता क्योंकि इससे विरोध होगा तो ठीक नहीं। यत निमित्त और उपादानकारणों का लक्षण वह नहीं है जिसे नैयायिक स्वीकार करते हैं। यहाँ जो परिणाम का आस्पद हो (परिणाममास्पद उपादान कारण) वह उपादान कारण तथा जो परिणामोन्मुख को छोड़कर दूसरे आकार से अपेक्षित होता है वह निमित्त कारण है। असमवायिकारण कोई कारण स्वीकारणीय नहीं है। प्रलयकाल में नाम, रूप और विभाग से रहित चेतनाचेतनरूपी शरीरों से विशिष्ट होकर ईश्वर रहता है। वही ईश्वर सृष्टि काल में नामरूपविभागयुक्त चेतनाचेतन शरीरों से विशिष्ट हो जाता है। यह परिवर्तित रूप ही जगत है। नामरूपविभागयुक्त चेतनाचेतनशरीरक ईश्वर कार्य पदार्थ है। इसका नामरूपविभागरहित चेतनाचेतन ईश्वर उपादान कारण है यत वही परिणत होता है। सकल्पविशेषत्व (आकारों की) जो अविभक्त चेतनाचेतन शरीर सत्त्व आकार से भिन्न हैं – लेकर ईश्वर जगत् का निमित्त कारण उसी प्रकार है जिस प्रकार कुलाल घट बनाने के लिए सकल्प करने के कारण, घट का निमित्त कारण होता है।

ईश्वर तथा प्रपंच के सम्बन्ध – १ आधाराधेय २ ईश्वर ईशित ३ शेष शेषी ४ शरीर-शरीरी तथा ५ कार्य कारण माने जाते हैं।' ईश्वर अपनी शक्ति से युक्त होकर ही ऐश्वर्यशाली है। लक्ष्मी या श्री ब्रह्म की शक्ति मानी जाती हैं वह ब्रह्म से अभिन्न होकर भी उनके दाम्पत्य जीवन में पत्नी की भूमिका निभाती हैं। वेदांत-देशिक के शब्दों में–

श्रिया सह तु दाम्पत्य शाश्वत तद् एव तु।
तयो साम्यक्यशक्तिरव तद्वरवाद्धि गिरागति ॥

भगवान्[84] विष्णु ईश्वर है श्री उनकी (शक्ति है) ईश्वरी हैं। दोनों मे पतिपत्निसम्बन्ध नित्य है। इस सम्बन्ध के कारण सभी वचनों का निर्वाह हो जाता है। कुछ वचन दोनों म समता बताते ह। कतिपय उद्धरण दोनों म एकता प्रतिपादन करते हैं। क्वचित् श्री को व्यूह के समान भगवान् की अवस्था विशेष बताया गया है।

ईश्वर[85] और लक्ष्मी दोनों ही ज्ञानानन्द स्वरूप हैं, दोनों निर्विकार एव निर्मल है, दोनों जगत् के उत्पादक हैं दोनों शेषी हैं, दोनों जीवों के शरण्य हैं, दोनों सब दृष्टियों मे सम हैं। इस तरह उपयुक्त वचनों का निर्वाह हो जाता है। भगवान् और श्री म एकत्व प्रतिपादक वचनों का निवाह निम्न लिखित प्रकार से होता है—

१ दोनों दम्पति हैं इसलिए एकत्व सगत है।

२, दोनों मिलकर प्रपच के शेषी हैं। दोनों म एक ही शेषित्व उसी प्रकार विद्यमान हैं, जिस प्रकार द्वित्व सख्या एक होकर भी दो पदार्थों मे है।

३ *जिस प्रकार अग्निषोमीय याग मे अग्नि और सोम मिलकर एक ही देवता बनते* हैं, उसी प्रकार यहाँ भी विवेक करना चाहिए।

अस्येशाना जगतो विष्णु पत्नी, ईश्वरी सव भूताना'[86] इत्यादि मत्रो मे लक्ष्मी को सबका ईश्वर बताया गया है। भगवान् पाराशर ने भी कहा है—

स्वयतद् विष्णुना चाम्ब जगद्व्याप्त चराचर।
यथा सवगता विष्णुस्तथवेय द्विजोत्तम ॥ —विष्णु पुराण

हे विष्णु तुम तथा माता लक्ष्मी इस चराचर जगत् मे व्याप्त हो। जसे विष्णु सवगत हैं, वसे ही लक्ष्मी भी सवगत हैं हे द्विजोत्तम, यह निश्चय करो।

अनेक पचरात्रों— (लक्ष्मीतत्र तथा अहिर्बुध्न्यसहिता आदिक आगमो) मे भी विस्तार से देखा जा सकता है। भूदेवी मे भी श्री का अनुप्रवेश है। व श्रीदेवी के अश मात्र । शास्त्रो मे भी इसीलिए भूदेवी को श्री का अश कहा गया है। परतु भूदेवी का श्री के साथ स्वरूपैक्य नहीं है, क्योंकि श्री ब्रह्मकोटि म है, भूदेवी जीव कोटि मे।

श्रीदेवी ही सीता और रुक्मिणी का विग्रह रामावतार और कृष्णावतार मे धारण करती हैं। इसी प्रकार अन्य विष्णु के अवतारो म भी उनकी शक्ति बनकर अवतीर्ण होता ह।

लोकाचार्य के अनुयायी श्री को जीवकोटि मे रखकर उन्हें नित्यमुक्त बताते हैं। इसे स्वीकार करने पर श्रीसूक्त तथा अन्य वैदिक मत्र ही नहीं विष्णुपुराण तथा लक्ष्मीतन्त्र जसे शुद्ध सात्विक आगम भी उपेक्षित हो जाते हैं। वाल्मीकिरामायण तथा महाभारत नामक महाकाव्यो म भी श्री को विभु तथा ब्रह्म की शक्ति ही बताया गया है।

ईश्वर के विभिन्नरूप

यह ईश्वर पर, व्यूह, विभव, अर्चा, और अन्तर्यामी रूपों में भक्तो को दर्शन देता है तथा सृष्टि का संचालन करता है। पररूप मे यह वैकुण्ठधाम मे हैं, जिसे परपद भी वेदो म कहा गया है। यहा मुक्त जीव भगवान् के साथ लीला म आनन्दानुभूति करते हैं या सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते है।

व्यूह[36] रूप से भगवान् भक्तो द्वारा उपासित होता है और इसी रूप मे जगत् का शासन भी करता है। प्रत्येक व्यूह तीन भागो मे विभक्त है और उनके चार भेद हैं इस प्रकार व्यूहात्मक स्वरूप कुल मिलाकर द्वादश होते हैं, जो द्वादश आदित्यो का अधिपति तथा बारह मासो के अधिदेवता हैं। उनके नाम—केशव, नारायण, माधव, गोविन्द विष्णु मधुसूदन, त्रिविक्रम वामन श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, तथा दामोदर है। इनके रग विष्णु से भिन्न हैं किन्तु आकृतियाँ वैसी ही हैं। प्रत्येक व्यूह रूप अपने हाथो मे एक ही प्रकार के चार आयुध धारण करता है। आयुध क्रमश चक्र शख, गदा, सारग हल मूसल खडग, वज्र पट्टीश मुद्गर पद्म और पाश हैं।

वासुदेव सपूर्ण ऐश्वय युक्त है। सकर्षण मे ज्ञान और बल हैं। प्रद्युम्न मे वीय और ईश्वरता हैं, अनिरुद्ध मे शक्ति और तेज हैं, अर्थात् शेष तीन व्यूह स्वरूपो मे मात्र दो ही विशिष्ट गुण होते है जबकि वासुदेव मे सपूर्ण छ गुण।

विभवरूप अवतारो का है, जो युगो के अनुसार नियत है। इनकी सख्या दश है— १ मत्स्य, २ कूम ३ वराह ४ नर्सिह ५ त्रिविक्रम, ६ वामन, ७ परशुराम ८ श्रीराम, ९ श्रीकृष्ण, १० कल्कि। एकक अवतारो के भी प्रयोजन वशात् अनेक अवतार हुए हैं। शास्त्र मे २४, ३४, ४० तथा अन्य सख्याएँ भी आती हैं। अनन्त सख्याएँ भेदाभेद से सम्भव हैं।

वेदान्तदेशिक गौतमबुद्ध की दस अवतारो मे गणना नही करते, जबकि जयदेव तथा अन्य कवियो न कल्कि के पहले उनकी परिगणना की है। अन्यत्र परशुराम को आवेशावतार माना गया है, किन्तु वेदान्तदेशिक ने प्रधान अवतारो मे उन्ह गिना है।[88]

अर्चावतार वह रूप है जब भगवान् किसी विशेष समय किसी तीर्थादिको मे दिव्य चमत्कारी विग्रह धारण कर भक्तो की इच्छापूर्ति करते हैं तथा उनकी सेवा स्वीकार करते है। वे इस विग्रह म अप्राकृत शरीर से रहकर भक्तो की सपर्या प्रत्यक्ष शरीर से स्वीकार करते है। यह विग्रह स्वय व्यक्त देव, सद्ध और मानुष भेद से चार प्रकार का है। इसम भगवान् की सभी प्रकार की मूर्तियाँ आजाती हैं, जिनकी प्राण प्रतिष्ठा होती । अन्तर्यामिरूप म भगवान् प्रत्येक जीव के पास प्रत्येक अवस्था मे योगियो की समाधि म देखे जान योग्य बनकर वतमान रहत हैं। अन्तर्यामी के रूप म विद्यमान भगवान् सुहृद्भाव से जीव की भलाई करते हैं। शास्त्रो में उनका निवास स्थान हृदयप्रदेश बताया जाता है। वे जीवो के पास रहकर भी उनके पुण्य पाप से

असंश्लिष्ट रहते हैं।

उक्त पाँच अवस्थाओं वर्तमान भगवान् श्री नारायण ही रहते हैं। यह मात्र कल्पना नहीं अपितु श्रुतिसम्मत तथ्य है।

वेदान्तदेशिक ने भगवान् के अवतारों तथा उनके आयुधों को प्रतीक-दृष्टि से भी देखा है,- जैसे जीव को कौस्तुभमणि तथा मीनअवतार को इच्छा इत्यादि।

जीवतत्त्व

वेदान्तदेशिक ने जीव को 'अल्प[88] परिमाणत्वे सति ज्ञातृत्व, शेषत्वे सति ज्ञातृत्व अर्थात् अल्पपरिमाणवान् ज्ञानाधिकरणक और शेष धर्मावच्छिन्नत्व' बताया है। यह मन बुद्धि, अहंकार इन्द्रियादिकों से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप अणु परिमाण वाला है।'

सांख्य और न्याय आत्मा को विभु मानते हैं जैन कायपरिमाण परन्तु वेदान्त-दर्शन अणु मानता है। अद्वैत-वेदान्त अणुपरिमाण मानकर भी मायावच्छिन्न ब्रह्म अर्थात् विज्ञानमय कोश को ही जीव मानता है। वेदान्तदेशिक का मत है कि अहं प्रत्यय का अधिकरण जडमाया को मानना ठीक नहीं। यह चेतन तत्त्व ही हो सकता है जो जीव है। यदि जड कोश को जीव मानलें तो बंध मोक्ष उसी का होगा परन्तु श्रुतियों में पुरुषार्थ आत्मा के लिए बताये गये हैं। लोक में भी चेतन के सम्पर्क से ही जड वस्तु सक्रिय देखी जाती है। जीवात्मा ज्ञान नहीं है, अपितु उसका आश्रय है। मैं जानता हूँ इस अनुव्यवसाय में कर्त्ता आत्मा है इसलिए आश्रय भी वही है। ज्ञान धर्म है वह नश्वर है इसलिए परिणाम-आश्रय भी वही है। ज्ञान त्रिक्षण-परिणामी है। यदि ज्ञान को जीव माने तो वही मैं हूँ का प्रत्यभिज्ञान न हो सकेगा। अद्वैत वेदान्त और सांख्य चिन्मात्र को ही ज्ञाता न मान कर अन्तःकरण को दर्पणन्याय से ज्ञाता मानते हैं। इसकी ज्ञातता भी एक भ्रम है। दर्पण पर प्रतिबिंब चाक्षुष्य वस्तु का ही पडता है अचाक्षुष्य का नहीं। ब्रह्म का प्रतिबिंब अचाक्षुष्य होने से नहीं पड सकता। यदि अध्यास-मात्र को ही छायापति माना जाय तो चैतन्य मिथ्या हो जाएगा। यदि ज्ञान में अन्तःकरण के तादात्म्य का आरोप हो तो मैं ज्ञान हूँ ऐसा भ्रम होना चाहिए परन्तु वैसा भ्रम किसी को नहीं होता।'

यदि वे धर्म धर्मी का अध्यास ज्ञान एवं अन्तःकरण में मानकर ज्ञातृत्व का भ्रम सिद्ध करें तो यह निर्णय न हो पाएगा कि किस में धर्मत्व का अध्यास होता है, ज्ञान में धर्मत्व है या धर्मित्व इसी प्रकार अन्तःकरण में धर्म का अध्यास हो या धर्मी का। सांख्य या अद्वैत वेदान्त का अनभीप्सित अध्यास भी होने लगेगा।'

वे यदि धर्मी के भेदाग्रह को नियामक मान कर समाधान करना चाहें और अहंकार में धर्मित्व का अध्यास सिद्ध करें तथा चैतन्य में धर्माग्रह के कारण धर्म का अध्यास मानें और यह प्रतिपादन करें कि मैं जानता हूँ में ज्ञातृत्व का अध्यास

होता है तो वह भी समीचीन नहीं। उनका कथन है कि चैतन्य धर्म से भिन्न है, चैतन्य का भेद ग्रह न होने के कारण अध्यास होता है, परन्तु उनके आत्मा में धर्म नहीं। वह स्वयं प्रकाश है मात्र स्वरूप ही धर्म है। स्वरूप के प्रकाश के साथ ही स्वेतर भेद भी प्रकाशित होता रहेगा फिर भेदाग्रह कैसे कहा जा सकता है? अतः अद्वैतवेदांत की मान्यता के अनुसार ही चैतन्य का अध्यास नहीं हो सकता। इसी प्रकार वे स्वरूपातिरिक्त धर्म-भेद को भी नहीं मानना चाहेंगे, कारण कि निर्धर्मक चैतन्य सधर्मक होने लगेगा। इस प्रकार अन्तःकरण में धर्मित्वाध्यास के बल पर अन्तःकरण में ज्ञातत्व भ्रम का उपादान नहीं हो सकता।

चैतन्य को अहंकाराभिव्यंग्य मानकर भी ज्ञातत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण कि चैतन्य धर्म रहित है। भेदग्रह होने से भ्रम नहीं होगा स्वरूप के साथ भेद का प्रकाश भी होता रहेगा। जड़ अहंकार आत्मा की अभिव्यक्ति करे, यह भी युक्ति-युक्त नहीं। अतः अहंकार और चैतन्य प्रतिकूल स्वभाव वाले होने के कारण व्यंग्य-व्यंजक भी नहीं हो सकते। वे विद्वान् यह मानते हैं कि चैतन्य से अहंकार अभिव्यक्त होता है जो जड़ है तथा चैतन्य भी नियम से अहंकार से अभिव्यक्त होता है। वेदान्तदेशिक का कथन है कि शंकराचार्य-मतानुयायी इस नियम को भी याद रखें कि जो पदार्थ नियम से, जिससे अभिव्यक्त होता है, वह उसी का अभिव्यंजक नहीं होता। फलतः चैतन्य के द्वारा अभिव्यक्त अहंकार उसी का अभिव्यंजक नहीं हो सकता।

अहंकार मिथ्या पदार्थ है। इसे शंकर मतानुयायी मानते हैं। प्रतिभासित काल में ही मिथ्या पदार्थ सत् होता है। ऐसी स्थिति में प्रतिभासित न होने वाला अहंकार सत् नहीं कहलाएगा। असद् अहंकार में चैतन्य की अभिव्यक्ति करना सर्वथा असम्भव है। जो चैतन्य अहंकार को प्रतिभासित करेगा वह स्वयं भी भासित होगा, अन्यथा चैतन्य भी जड़ बन जाएगा। इसके लिए स्वयं प्रकाशित चैतन्य से अहंकार प्रकाशित होता है यह मानने पर अन्योन्याश्रित दोष होगा। अद्वैती विद्वान् अनुभूति या चैतन्य को अनुभाव्य नहीं मानते। यदि चैतन्य को अहंकाराभिव्यंग्य माना जाय तो वह अनुभाव्य भी कहलाएगा। अनुभाव्य और अभिव्याप्य समानार्थक हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि अहंकार ज्ञाता नहीं होता जीवात्मा ही ज्ञाता होता है। यह जीवात्मा अहंप्रतीति का विषय है सांख्य या अद्वैत का बहुचर्चित अहंकार नहीं।

यह आत्मा प्रत्यक् है कारण कि यह स्वयं अपने लिए अहं, अहं रूप में प्रकाशित रहता है। मैं सुखी हूँ दुःखी हूँ इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान से भी अपने ही लिए प्रकाशित है। अहं प्रत्यय का विषय आत्मा को न मानने वाले निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत करते हैं— आत्मा अहं प्रतीति का विषय नहीं है, क्योंकि आत्मा में अहं प्रतीति का विषय होता है, जैसे शरीर की स्थूलता की प्रतीति होती है। अहं

प्रतीति का विषय आत्मा नहीं है कारण कि वह अखंड है आत्मा निर्विकार होने से अहं प्रत्यय के प्रतीति का विषय नहीं।

उपर्युक्त सभी अनुमान हेत्वाभास दोष ग्रस्त हैं। इनमें बाधित विषय तथा अनैकान्तिक हेत्वाभास स्पष्ट ही भासित होते हैं। शास्त्र तथा प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से कालात्ययापदिष्ट है। तथा अद्वैत-मत में आत्मा में ही रहने वाले धर्म हैं। अजडत्व निर्विकारत्व तथा आत्मत्व ये पक्ष में हैं सपक्ष घटादिक में नहीं हैं इसलिए यहाँ असाधारणानैकान्तिक हेत्वाभास है।

आत्मा में कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व निषेधक अनुमान भी सदोष हैं। ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आदि आत्मा के धर्म नहीं हैं क्योंकि ये दृश्य हैं और कर्म हैं जैसे, रूप आदिक। यह अनुमान प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अनुकूल तर्क का अभाव भी उपर्युक्त सिद्धि में बाधक है। अद्वैती अहंकार को कर्तृत्व और ज्ञातृत्व धर्मक मानते हैं। ये अहंकार के धर्म नहीं हैं, जैसे रूप आदि। इस प्रकार उनके तर्क से उनके सिद्धान्त की क्षति भी की जा सकती है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आत्मा में ज्ञातृत्व[10] धर्म है। मात्र अनुमान के बल से उसका निराकरण नहीं हो सकता। ब्रह्मसूत्र में भी 'ज्ञोऽत एव' नामक सूत्र से आत्मा को ज्ञाता बताया ही गया है, जो श्रुतियों के प्रमाण से पुष्ट है। जीवात्मा का कर्तृत्व इसी प्रकार सिद्ध है। यह जीवात्मा का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है। वेदान्तदेशिक के शब्दों में—भोक्तृत्व हेतुभूत कर्तृत्व भोक्तुर्जीवस्यैव। तच्च सामान्यतः परमपुरुष हेतुकमिति कर्ता शास्त्रार्थवत्वात् परात्तु तच्छ्रुतेः इत्यधिकरणे प्रपंचितम्। भोक्ता के लिए हेतु रूप में कर्तृत्व भोक्ता जीव का का ही है। वह सामान्यतया परमात्मा के अधीन है, जो वेदान्त के कर्ता शास्त्रार्थवत्त्व तथा परात्तु तच्छ्रुतेः अधिकरण में विशेष रूप से शास्त्रकार ने विचार किया है।

यह जीवात्मा स्वयं-प्रकाश नित्य, अनेकसंख्यावाला तथा अणु परिमाणी है। इसका धर्मभूतज्ञान विकास को प्राप्त कर विभु हो जाता है इसलिए शास्त्रों में विभु कहा जाता है। वह अनेक शरीरों पर नियन्त्रण तथा अनेक शरीरों के माध्यम से विषय-भोग कर लेता है। यह जीव ईश्वर से भिन्न है और एक जीव दूसरे जीव से भी पृथक है। प्रत्येक जीव का स्मरण सुख दुःख तथा प्रयत्नादिक एक दूसरे से पृथक होते ही हैं। न्यायसूत्रकार का कथन भी है कि व्यवस्था के लिए अनेक जीव मानना पड़ेगा, सांख्य ने भी पुरुषों की अनेकता को सिद्ध किया ही है। स्वरूपतः जीवों में साम्य है। मुक्तावस्था में गुण से भी साम्य है। जहाँ जीवभेदों का निषेध है शास्त्रों में, वहाँ स्वरूपेतर देवत्व मनुष्यत्व आदि के भेद का निषेध है। यह जीवात्मा न देव है न मनुष्य, यह ज्ञानानन्दमय परमेश्वर का शेष है। यह जीव स्वतः[11] सुखी है। उपाधिवशात् संसार में सुख-दुःख भोगता है। स्वरूपतः यह ब्रह्मानन्द का सहज भोक्ता

हैं। (स्वत सुखी पापमात्मा)।

जीवात्मा के प्रकार

जीवात्माएँ व्यावहारिक दृष्टि से दो प्रकार की हैं – संसारी, और असंसारी। जो पुण्य और पाप से संश्लिष्ट हैं, वे संसारी हैं तथा पुण्य पाप से रहित असंसारी। संसारी जीवों की भी दो कोटियाँ हैं – नित्य संसारी और भविष्यत् काल में संसार से रहित। नित्य संसारी अनादिकाल से संसारी हैं तथा सचेष्ट (प्रधान विच्छेद में) न होने से अनिश्चित काल तक संसार में रहेंगे। असंसारी जीवों को भी दो भागों में बाँटा जाता है – त्रिकालावच्छेदेन संसाररहितजीव तथा ध्वंसकालावच्छेदेन असंसारी जीव। जो जीव भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों से संसारी नहीं हैं वे प्रथम कोटि में आते हैं और जो भविष्यत् काल में संसार से पृथक् हो जाते हैं वे द्वितीय कोटि में रखे गये हैं। नित्य सूरि लोग प्रथम कोटि के हैं और मुक्त जीव द्वितीय प्रकार के। लक्ष्मी या सीता ब्रह्म हैं जीव नहीं जैसा कि लोकाचार्य मानते हैं।

वेदान्तदेशिक के अनुसार कैवल्य या केवलात्मानन्दानुभव भी अनित्य है। उसे मोक्ष नहीं माना जा सकता। आत्मानन्द वाले को भी संसार में लौटना पड़ता है। पिछले आचार्य कैवल्य को मोक्ष मानते हैं। उनके अनुसार शुद्ध जीवात्मास्वरूप का अनुभव ही मोक्ष है जो सच्चिदानन्दात्मक है। देशिक के अनुसार (न तावदयं मोक्ष भाष्यकाराभिमत शारीरिक भाष्ये व्यक्तमुक्तत्वात्।)[87] यह मोक्ष रामानुजाचार्य को अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि उन्होंने स्पष्ट ही अपना अभिमत प्रकट किया है। वाक्यार्थसमाधिकरण में स्वत ही उनका कथन है परम पुरुष का वेदनानुभव ही स्वरूपानुभव मोक्ष है न कि स्वत ही उपायतया आत्मानन्द मोक्ष है। वेदार्थ संग्रह में भी श्रीभाष्यकार रामानुजाचार्य ने कहा है कि सब कर्मों से मुक्त आत्मस्वरूपाप्ति भी भगवदनुभव प्राप्ति गर्भा ही है। वरद विष्णु ने भी कहा है – कैवल्य प्राप्त मुक्त नहीं होता (कैवल्यप्राप्त न मुक्त। इत्यादयोक्त – मत्य अमुक्त एव स। भागम्य परमानन्दानुभव रूपत्वात्)॥ प्रश्न है, कैवल्य प्राप्त जीव क्या मुक्त नहीं है? उत्तर में यही कहना है कि मोक्ष ब्रह्मानन्दानुभव रूप होता है, कैवल्य में आत्मानन्दमात्र का अनुभव है, जो ब्रह्म की अपेक्षा क्षुद्र है तथा उसका अनुभव भी ईश्वर है। कैवल्यार्थ भगवदानुभव प्राप्त नहीं कर सकता; कारण कि वह दग्ध बीजवत् (इसमें) हो जाता है। यह कैवल्य स्वर्ग से उत्कृष्ट तथा ब्रह्मानुभव से निकृष्ट होता है। इसमें लोगों की अभिरुचि, इसके प्रियास्पद होने के कारण देखी जाती है। आगमों में इसे अद्भुत वस्तु की तरह साधक देखता है ऐसा बताया गया है। सोकर उठने पर सब सामान्य को भी यह अनुभव होता है कि मैं सुख-सहित सोया। इसमें आत्मा का प्रियत्व सिद्ध होता है। इसलिए इसके लिए भी लोग साधना करते पाये जाते हैं। स्वर्ग तथा लौकिक ऐश्वर्य के लिए यदि लोग सचेष्ट मिलते हैं, तो आत्मानन्द के लिए जिनका

'तुलसीसाहित्य की वैचारिकपीठिका']

असभाव्य नही है। कैवल्यार्थी को अचिर[24] आदि गति नही मिलती। वह मोक्षार्थी को मिलती है। कैवल्य में उपचारत मोक्ष का प्रयोग होता है, कारण कि वह स्वग की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। कैवल्यपदप्राप्तजीव को स्वरूप तथा पररूप का यथा वस्थित रूप मे अनुभव नही होता। वह अचेतन ससग वाला होता है। इसके कारण उसके कम है। इसका प्रतिपादन श्रुतिया भी करती हैं– (त इमे सत्या कामा अन तापिधाना इति) यहाँ अनत शब्द स्वकम का प्रतिपादन करता है। उचित सम्ब ध रहने पर भी ससार का अभाव होना मात्र भगवान् का सकल्प ही नियामक है। भगवत्–सकल्प निर्हेतुक न होकर उसके कैवल्यप्राप्ति म हेतु है। उसके कम ही भगवान् को वसा सकल्प करने के लिए बाध्य करते हैं। यह कवल्य–प्राप्त आत्मा ब्रह्माण्ड म ही महलो इत्यादि म पहुँच कर आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं। परतु मुमुक्षु जीव नाना योनियो मे जम लेकर सुख–दुख का आस्वादन करता हुआ भगवद् लीला मे सहायक बन, तापत्रय से पीडित होकर अध्यात्मविद्या म प्रवत्त होता है। वह शास्त्राभ्यास के बाद ब्रह्मानुष्ठान मे तत्पर होकर कवल्य से विलक्षण मोक्ष पद को प्राप्त कर, मरणोपरात भगवान् के कौस्तुभमणिसदृश निमल होकर, उनके हृदय प्रदेश म सुशोभित होता है और उनके अथाह आन द का उपभोग करता है। और उनके मतानुसार मोक्ष से कवल्य हीनतर है, कि तु स्वग से उत्कृष्ट है। तुलसी दास ने भी इसी दृष्टि से 'अनइच्छित आवत बरियाई' कहकर कवल्य को मोक्ष से हीन बताया है।

प्रकृति

वे ातदेशिक के विशिष्टाद्वतदशन मे एक ही तत्त्व सविशेषण स्वीकृत है। यद्यपि इनम विशेष्य–विशेषण म तथा परस्पर विशेषणों मे अत्यन्त भेद है तथापि विशिष्ट की अपेक्षा से एकत्व का निर्वाह किया जाता है। इसका प्रयोजन प्रमाणो का विरोध–सशमन भी है। विशिष्ट परमात्मा या ईश्वर है और विशेषण जीव और प्रकृति हैं। इनका विभाजन पदाथ की दृष्टि से द्रव्य और अद्रव्य भी किया जाता है। द्रव्य को उपादान कहा जाता है। उपादान अवस्था का आश्रय है। द्रव्य अनेक हैं और स्थिर[25] हैं। यहाँ बौद्धों का क्षण भग वाद अनादरणीय है, कारण कि प्रत्यक्ष प्रमाण से द्रव्यो का क्षणिक विनाश देखा नही जाता तथा प्रत्यभिज्ञान म पूव कालिक वस्तु ही पुन उपस्थापित होती है। इ हें भ्रान्ति मानना बौद्धो की बुद्धि के लिए ही उचित ह, क्योकि ऐसा मानने का कोई हेतु नही है। अनुमान के बल पर भी स्थिरत्व सिद्ध किया जा सकता है। विवादास्पद प्रत्यभिज्ञा अपने विषय म प्रमा है, क्योकि वह अबाधित बुद्धि है जैस स्वलक्षणबुद्धि। स्वलक्षणबुद्धि वभाषिको के यहाँ स्वीकृत है। और दूसरा अनुमान भी है जैसे– जो सत्तात्मक है वह क्षणिक नही है जस हम दोना वादियो द्वारा स्वीकृत सत्य पदाथ। तीसरा अनुमान भी है– जो

प्राय प्रतीत हो रहा है वह क्षणिक नहीं है। जो क्षणिक होता है उसकी प्रतीति नहीं होती जैसे-गगन-कुसुम गगन-शृंग इत्यादि। इस दृष्टान्त बौद्धों को स्वीकृत है प्रध्वंस अनादिता का यहाँ नहीं। प्रध्वंस कारण से उत्पन्न होने वाला है। यह ध्वंस के बाद पता होता है अतः पूर्वावधिवाला है। ऐसा सिद्ध मानने पर प्रध्वंस का हेतु भी नियत मानना चाहिए। सहेतुक प्रध्वंस स्वीकृत होने पर निर्हेतुक ध्वंस वाद या क्षणिक वाद अनायास ध्वस्त हो गया। बाधक के प्रतिरोध के अभाव में वस्तुप्रमाण्यवादी द्वैत प्रतिपन्न है।

द्रव्य दो प्रकार के हैं- प्रत्यक् और पराक्। स्वयं प्रकाशमान प्रत्यक् है। परप्रकाश्य पराक् है। प्रत्यक् (अजड) द्रव्य जीव और ईश्वर हैं जिनका विवेचन किया गया है। पराक् द्रव्य जड भी कहा जाता है। यह द्रव्य महदादि अवस्थाओं में परिणत होता है। यह प्रकृति रजोगुणमय कहा तमगुणमय दिखायी पडता है। इसमें सत्वगुण भी है किन्तु भोग विभूति से भिन्न है। यह त्रिगुण जीव और पार्श्व की निगाओं में अनन्त है। तिर्यक् और अधोभाग में अपरिच्छिन्न रहता है। इसमें प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण हैं। इसका विस्तार ऊर्ध्व भाग में भोगविभूति से नीचे तक है। श्रुतियाँ भी कहती हैं- आदित्य वर्ण तमसः परस्तात् अर्थात् यह भोग विभूति जन्य स्मृति से पर है। विकारों का पता करने के कारण इस प्रकृति कहते हैं। विचित्र सृष्टि का उपकरण होने से माया भी यही है। यह विद्याविरोधिनी होने से भी माया कही जाती है। यही त्रिगुणात्मिका प्रकृति कार्य-वशात् एवंविध क्रम से २४ तत्त्वों में परिवर्तित होता है जो दशेन्द्रियाँ पंच तन्मात्राएँ पंच महाभूत तथा अहंकार महत् एवं प्रकृति के अधीन है।'

इस ईश्वर अधीन होकर परिणत होना पडता है। सांख्य की प्रकृति पुरुष साहचर्य में परिवर्तित होता है जगद् निर्माण करती है वेदान्तदर्शन की प्रतिपादित प्रकृति ईश्वर द्वारा ही विकार अवस्था प्राप्त करती है। यह मूल प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली है। इसमें गुणावस्था के बने रहने पर भी स्वल्पान्तर से चार अवस्थाएँ होती हैं। उनके अनुसार इसमें अव्यक्त अक्षर विभक्ततम और अविभक्ततम एस चार प्रकार भेद हैं। अत अव्यक्त अक्षर लायते अक्षर तमसि लीयते तम परे देव एकी भवति- इत्यादि लेकर क्रम-क्रम बताया गया है। अक्षर-शब्द शुद्ध का वाचक होने के कारण जीवात्मा में ही माना जाता है। स्वरूपत यह निर्विकार है। स्वभावतः धर्मभूत ज्ञान में क्षरणशील भले हो प्रकृति क्षरण शील होने से- अवस्था विशेष का नाश होने से- क्षर है। इसमें अक्षर शब्द का प्रयोग भक्त या लाक्षणिक है।

महत् शब्द सांख्यदर्शन में बुद्धि का पर्याय माना गया है। वेदान्तदर्शन के मत में अव्यक्तावस्था की उत्तरकालीन त्रिगुण की अवस्था ही महत् है जो अहंकार की कारणावस्था है (अव्यक्तहंकारावस्था व्यवहितानर पूर्वावस्था विशिष्ट त्रिगुण

महान्)। सांख्य का अध्यवसाय लक्षणवाला या इसे बुद्धि को बताना अनुचित है क्योंकि यह आत्मा का धर्म है। इन्द्रियाँ कारण तथा महत्व का कार्यभूत प्रकृति की अवस्था विशेष ही अहंकार है। सांख्योक्त अहंकार का लक्षण अनिर्दोष है। कारण कि अहंकार को भी आत्मा का ही धर्म मानना उचित है। गीता में जिस अहंकार का त्याग बताया गया है वह गर्व है। अहमर्थ मात्र प्रत्यक् चेतन आत्मा का धर्म है जड प्रकृति का कदापि नहीं। वेदान्तनिष्ठ के अनुसार भोजराज की व्याख्या तथा शैवागमों की मान्यताएं जो अहंकार के विषय में हैं और वेदविरुद्ध हैं अग्राह्य हैं। व्यासोक्त पुराणों में प्रमाणतम पुराण विष्णुपुराण के अनुसार ही अन्य पुराणों की संगति लगाकर उसका निर्वाह करना चाहिए।

इन्द्रिय का लक्षण है जो प्राणादि से भिन्न हृदय कर्ण चक्षु आदि प्रदेशों में व्यापार करता हुआ स्मरण श्रवण और दर्शन इत्यादि भिन्न भिन्न कार्यों में समर्थ हो वे इन्द्रिय हैं। सांख्य वैशेषिक तथा अन्य दर्शनों का प्रोक्त इन्द्रिय लक्षण अस्वीकृत इसलिए है कि उसमें अतिव्याप्तिदोष है। वेदान्तदर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं— प्राकृत और अप्राकृत। अशुद्धसत्त्व अर्थात् त्रिगुणात्मिका इन्द्रियाँ प्राकृत हैं और शुद्धसत्त्ववाली जो रज तम से अमिश्रित है, अप्राकृत इन्द्रियाँ हैं। भगवान् का मंगलविग्रह अप्राकृत है। अहंकार के दो रूप है— सात्विक एवं तामस। तामस अहंकार से शब्द उत्पन्न होता है जो मन का उपादान कारण है तथा सात्विक अहंकार से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। मन ज्ञानेन्द्रिय परम्परासम्बन्ध से कर्मेन्द्रिय है, इसलिए इसे ज्ञानेन्द्रिय मानना ठीक है न कि कर्मेन्द्रिय या उभयेन्द्रिय जैसा कि सांख्य का मत है। यह स्मृति का कारण तथा शब्दादि पंच विषयों की उपलब्धि करानेवाला हृदय प्रदेश में रहने वाला है। यह मन इन्द्रियों और आत्मा के साथ हृदयप्रदेश में रहता है। मन को ही अन्तःकरण कहना ठीक है इसमें विभिन्न व्यापार संकल्प अध्यवसाय आदि हैं। मन को ही बुद्धि अहंकार चित्त इत्यादि वृत्ति भेद से कहा जाता है। वेदान्तसूत्र में भी ऐसा ही उक्त है— पंचवृत्ति मनोवत् व्यपदिश्यते। अन्तःकरण को त्रिविध तथा चतुर्विध मानने वाले सांख्य और अद्वैती वेदान्त वैदिक के अनुसार दूषणीय हैं।

शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय श्रोत्र रूप को ग्रहण करनेवाली चक्षु रस को ग्रहण करनेवाली रसना गन्ध को ग्रहण करनेवाला घ्राण स्पर्श को ग्रहण करनेवाली त्वक् गमन करानेवाली पद कर्म करनेवाली हाथ बोलनेवाली मुख मूत्रोत्सर्ग करनेवाली उपस्थ और मल विसर्जन करानेवाली पायु है। उपस्थ प्रजनन करनेवाली इन्द्रिय भी है। योगी का जीव पर शरीर में भी प्रविष्ट हो सकता है। वह जीवात्मा इन्द्रियों के साथ ही पर शरीर में जाता है।

तन्मात्राएँ

पंच भूतों की कारणावस्था को तन्मात्रा कहा जाता है। ये ही तन्मात्राएँ

से परिणत होकर पंचमहाभूत बनते हैं। महाभूतों की संख्या पांच हैं– जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के नाम से जाने जाते हैं। सांख्यों के मत से महाभूतों की उत्पत्ति वेदान्तदेशिक को अस्वीकार्य नहीं[97] है। वेदान्तदर्शिक ने शंकराद्वैत की तरह पंचीकरण भी स्वीकार किया है।

काल

यह अनादि और अनन्त है।[98] इसके धोरी भगवान् भी अनादि और अनन्त माने जाते हैं। शैव दार्शनिक काल को महत् का कार्य मानते हैं। तर्क दृष्टि से भी यह मानना ठीक नहीं हैं, कारण कि उत्पत्ति के पूर्व क्षण का नियामक क्या था? जो अवकाश या भ्रम था वह भी काल क्यों नहीं हैं? वस्तुतः काल नित्य है। यह विभु हैं। नित्य विभूति में ईश्वरेच्छाधीन रहता है। क्योंकि नित्य विभूति में भी सदा शब्दकाल का ही वाचक है। एक पादविभूति में काल, घन्टा, मिनट, क्षण आदि रूपों में परिणत होता रहता है। त्रिपाद विभूति में अपना प्रभाव यह परिणाम में नहीं दिखाता। प्रकृति इसके अधीन होकर जगत् निर्माण करती है। यह भगवान् का लीला परिकर है। काल भगवान् की इच्छा के अधीन है। इसलिए वैकुण्ठादि-लोकों में परिवर्तन धर्म से वंचित रहकर एकरसत्व या सदात्व रूप में बना रहता है। श्रुतियों में सदा पश्यन्ति सूरय का स्पष्ट उल्लेख है। सदा आनन्द रहने के कारण काल की एक रूपता सिद्ध होती है। जगत् क्षणशः परिवर्तित होता रहता है। इसका कारण काल ही है। यह भगवदिच्छा से उनकी लीला सम्पादन के लिए जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का नियामक होता है।

वेदान्तदेशिक के मतानुसार जड प्रकृति और सीता अथवा लक्ष्मी एक ही नहीं है। जडप्रकृति, सीता की यवनिका है। वह भगवान् और उसकी शक्ति का आवरण कर जीव से पृथक् कर देती है। सीता ब्रह्म की चेतना हैं। वह दूध और उसके धर्म की तरह अभिन्न है। अग्नि और दाहकत्व की तरह उसकी पृथक् कल्पना असम्भव है, परन्तु जड प्रकृति से उनका कोई साम्य नहीं है। ब्रह्म के सभी गुण सीता में हैं परन्तु पति आश्रितत्व उनमें विशेष है। प्रकृति और शक्ति के परस्पर विरोधी स्वभाव हैं। प्रकृति माया और अविद्या भेद से विविक्त है। वह बंधन और मोक्ष में सहायिका है। सीता सृष्टि और मोक्ष में निमित्त है। प्रकृति सृष्टि में उपादान है। सीता और राम दोनों मिलकर ही ईश्वर हैं। इसलिए सीता भी अंशी हैं और जडप्रकृति अथवा जीव दोनों अंश हैं। सीता विभु है परन्तु प्रकृति ब्रह्माण्डावधि पर्यन्त परिसीमित है। सीता नित्यविभूति भी नहीं हैं। वह भगवान् की लीला एवं उनके भोग में सहचरी हैं। ब्रह्म या ईश्वर का जब व्यपदेश होता है, तब वहाँ सीता का भी प्रसंग रहता है। परन्तु ईश्वर के अधिकार या ऐश्वर्य में प्रकृति का कोई भाग नहीं है। लोकाचार्य (तिंगले) और रामानन्दी विचारों के अनुसार सीता

नित्य मुक्त जीव हैं, जड प्रकृति ही शक्ति है, माया है । शकराचार्य भी प्रकृति को अनिवचनीया मानकर शक्ति ही मानते हैं ।

वेदान्तदेशिक के विचारों से प्रभावित कवि तुलसीदास

वेदान्तदेशिकप्रतिभा सम्पन्न भारतीय विभूतियो म अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके जीवन वत्त से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह केवल उच्चकोटि के विद्वान् ही नहीं थे, समकालीन वष्णव आचार्यों के भी आचार्य थे। श्रीवष्णवो की बडगल और तिगल शाखाएँ उपशाखाएँ ही नहीं निंवाक मतावलम्बी भी उनके तक की प्रौढी से लाभान्वित हुए हैं । अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी प्रतिपक्षी आचार्य भी रामानुजदर्शनवाङमय में वेदान्तदेशिक के तत्त्वमुक्ताकलाप पर ही अपना ध्यान केंद्रित करते रहे हैं। तिगले श्रीवष्णवो एव वैरागी श्रीवष्णवो ने वेदान्तदेशिक के ग्रन्थो का अध्ययन कर के ही आज अपने को आचार्य की कोटि मे रखा है। तुलसीदास भी इसके अपवाद नही थे। उन्होंने भी अध्ययन कर वेदान्तदेशिक की मान्यताओं से लाभ उठाया है।

सक्षेप मे तुलसी का प्रमाणविचार और प्रमेयो मे ब्रह्मविचार, शक्तिविचार माया का स्वरूप, जीवो की परिभाषा एव कोटियाँ, भक्तिविषयक मान्यताएँ, प्रपत्ति का महत्त्व, मोक्ष की कोटियाँ कैवल्य की अवरता ज्ञान का भक्ति का साधन होना, भक्ति का परमपुरुषार्थ मानना धर्म अर्थ, काम की भक्ति में उपयोगिता, वेदों की परम प्रामाणिकता, पुराणो, स्मृतियो एव आगमो की वेदानुगामिता की मोक्ष मे भी प्रामाणिकता, तथा मुक्त जीव एव ब्रह्म का ज्ञान भी वैदिक होना, वेदो का विधि निषेधमय स्वरूप श्रुतिमात्र के तात्पर्य का ब्रह्म में पर्यवसान, जगत् के निखिल क्रियाकलापो का भगवदिच्छा निमित्त सचालित होना, भक्ति के अतिरिक्त प्रपत्ति आदि विद्याओं को भी मोक्ष का उपकारी मानना प्रपत्ति म विष्णु के अतिरिक्त उनके पार्षदो की भी अर्चना तथा उनसे भक्ति की ही भावना शिव एव ब्रह्मा को विष्णु परिवार में मानना, विष्णु माया एव सीता मे भेद राम और सीता मे अभेद सीता और राम दोनों की ब्रह्म बुद्धि, जगत् को तत्त्वत सत्य परिणामत असत्य मानना राम एव विष्णु में अभेद, तत्त्वत भक्ति और प्रपत्ति मे साधनतया भेदमानकर भी दोनों मे अगागी भाव मानना पराभक्ति की वरिष्ठता तथा मोक्ष रूप मे स्वीकृति सायुज्य-मोक्ष पर पक्षपात, कृष्ण की भी वन्दना, राम की ही तरह करना, गुरु एव वैष्णवों की महिमा आदि का स्थल वेदान्तदेशिक से प्रभावित आभासित होते हैं। यत्र तत्र नाम मात्र का भेद है।

पद-टिप्पणी

२-यास्कनिरुक्त मैं १।६ २-सप्रकाशतत्त्वदीप पृ १६३ १६५ २०६ ३-वे सू शा भा १।१।४ ५ ४-छा ६।२।१ ५-मुण्डक ३।२।१ श्वेता १।६ ६-वे सू शा भा २।३।३ ७ ७-

श्रीभाष्य १।१।१, ८–निक्षेपरक्षा पृ ६० ६–श्रीभाष्य १।१।१ तथा गद्यत्रय १०–शा भा १।१।१ तथा वेदान्त परिभाषा स प ११–श्रीभाष्य १।१।१ १२–त मु क ४।१६ १३–न्या सि ईश्वर पृ ४०६ १४–शतदूषणी पृ १६७ १५–गुणाश्रय द्रव्य (तक्स) १६–सर्वार्थसिद्धि १।७ १७–न्या सि, पृ ४, १८–अवस्थावद्‌य, त मु क पृ २६२ १६–वही पृ वही २०–प्रक पचिका ३।२६ २१–पचदशी, चित्रदीप २२–य म दी पृ ५, २३–श्रीभाष्य पृ ६६ २४–न्या परि पृ, ४० २५–स सि पृ १७० २६–न्या प पृ ४०, २७–स सि पृ १८० २८–यायकुलिश पृ ५५ २६–वे दे पृ १६५, ३०–त मु क पृ१८५ ३१–स सि पृ १८५ ३२–त मु क ४।१६ ३३–स सि पृ १८७ ३४–वही ४।२३, ३५–वही ४।१६ ३६–वेदान्तसार पृ १ ३७–श्रीभाष्य १।१।१ ३८–शा भा १।१।१, ३६–वही पृष्ठ ४०–भोगायतन शरीर-वात्स्यायन भाष्य पृ १७, ४१–य म दी पृ १६, ४२–ब्रह्म पृ ८२१ ४३–यावत्सत्तमसम्बयानर्हत्वमपृथक्सिद्धत्व-या सि पृ २०३, ४८–न्या सू १।१।१, ४५–सा का श्लो ४, ४६–सवद स पृ ५, ४७–त मु क ४।३२, ४८–वही ४।४५ ४६ तथा सर्वार्थ सिद्धि पृ २१५ ४६–वही पृ २१५, ५०–न्या प पृ १०८ ५१–वही पृ १०६, ५२–य म दी पृ ६ ५३–न्या सू १।१।२२, ५४–त,मु क ४।६०, ५५–न्या प शु पृ १४१ ४३, ५६–त मु क ४।६०-६१, ५७–स सि पृ २२४, ५८–त मु क ४।६३, ५६–स सि पृ २२५, ६०–वही पृ २२६, ६१–वही पृ २२६, ६२–त मु क ४।६४ तथा स सि ६३–स सि पृ २१६, ६४–सेश्वर मीमासा सू १।२।२३, ६५–वही पृ वही, ६६–मीमासा पादुका पृ ४८८, ६७–पूर्व मीमासा १।१।७०, ६८–वे सू ४।४।२२, ६६–वदिक मनोहरा पृ ३०, ७०–श्रीभाष्य १।१।१, ७१–त मु क बुद्धिसर, ७२ वै म वे दे भक पृ ४, ७३–से मी पृ ३८, ७४–से मी पृ २०, ७५–न्या सि पृ ३५१ ७६–निक्षेपरक्षा पृ १२१, ७७–परमपद सो पृ २१४ २२, रहस्य शिखामणि पृ ६ ७ ७८–निक्षेपरक्षा पृ ६० र शि पृ ८, ७६ ईशो, १ छा ८।३।१ बृहदा १।४।१० श्वेता ६ ७, ८०–स सि ३।३ तथा तत्त्व टीका १।१।१, ८१–न्या सि पृ ३६७ ८२–वही पृ ३८१ ८३ वही पृ ४६०, ८४–श्रीस्तोत्र ८५–न्या सि पृ ४६३, ८६–श्रीसूक्त ऋक्स ८७–यती मत पृ ४१, ८८–दशावतारस्तव १२, ८६–न्या सि पृ २२६, ६०–वही पृ २५७ ६१–वही पृ २६१, ६२–वही पृ २६४, ६३–वही पृ ३४६, ६४–वही पृ ३५४, ६५–वही पृ १६, ६६ -वही पृ १७, ६७–साम्य कारिका ३८, ६८–न्यायसिद्धाञ्जन पृ १५६

— ० —

तृतीय सोपान

आचार्य वेदान्तदेशिक और गोस्वामी तुलसीदासका ब्रह्मविचार

ब्रह्म का अर्थ बृहण अर्थात् व्यापक है।[1] निर्दोष अनुमान और श्रुतिप्रमाण से ज्ञात होता है कि वह जगत् का स्रष्टा और नियामक है। अपनी लीला केलिए ही वह इस कार्य मे प्रवृत्त होता है। जीवों पर करुणाकर सबको समान समझता हुआ उनके कर्मानुसार जन्मादि फल का विधान करता है। वह स्वय असग है इसलिए उसका रोष भी जीवों में प्रीति उत्पन्न करनेवाला होता है। वह अनन्त ऐश्वर्यों से युक्त होने तथा शासन करने के कारण ईश्वर कहा जाता है। उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। स्वय वह स्वतत्र है। अपने जडचेतन शरीर से वह जगत् का उपादान कारण है। जगत् की निर्मिति मे उसका प्रमुख हाथ होने से, वह निमित्त कारण है। यह ईश्वर ही परब्रह्म नारायण, विष्णु अतरात्मा, और शिव आदि यौगिक एव रुढि शब्दों के द्वारा जाना जाता है। उसे श्री का स्वामी कहा जाता है। वही बादरायण के वेदान्तशास्त्र में ज्ञेय है। पुरुषसूक्त[2] स्पष्टरूप से इस सत्य का प्रतिपादन करता है। यजुर्वेद का उत्तरनारायणानुवाक ब्रह्म को ही श्रीपति बताया है। उपनिषद् अरण्यक, आगम और पुराणो का मत भी श्रुतिवत् ही है।

ब्रह्मा रुद्र[3] आदित्य आदि देवगण (ब्रह्म या देव) उभय लिंग से स्वतत्र तथा अगरूप से विशिष्टब्रह्मोपासनापरक ही हैं। विष्णु ही इन्द्र वरुण, रुद्रादिप्रकरण में शरीररूप से तत्तत्सज्ञक विद्याओं द्वारा ज्ञेय हैं। यही ब्रह्म, ब्रह्मा विष्णु, महेश इन्द्रादिक देवताओ के पूज्य हैं। इन्हें इसीलिए देवनायक[4] कहा जाता है। वह[5] अपने अव्यक्त शरीर को प्रकृति आदि के विकारों में अनेक प्रकार से परिणत करता है। वह इस तुच्छ निकृष्ट जगत् में रहकर भी शुद्ध, उज्ज्वल दिव्य कल्याणगुण सहित, सच्चिदानन्दस्वरूप, निर्विकार, निरीह, निर्गुण निरजन निष्कल, निरवद्य, निरुपाधि, केवल, अनादि अनन्त नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त रहते हुए समस्त क्रियाकलापों का काल की तरह सचालन करता है। वह परमगृहस्थ[6] है। उसके ब्रह्मा पुत्र हैं शिव पौत्र, सीता या लक्ष्मी गृहिणी। अवतार धारण कर वह, स्वय वर्णाश्रमधर्म का अनुष्ठान कर, अन्य लोगों केलिए भी प्रेरणा देता है। वह निखिलकर्मकलाप से उपास्य है, सनातनधर्मस्वरूप है। वह यज्ञाधिपति होकर भी सहस्रों यज्ञो का सपादन करता है, जिनमें अनेक अश्व गज, तथा पुष्कल स्वर्णराशि आवश्यक है रामावतार में वह साकेत के समस्त जीवों का उद्धार कर अपनी पराभक्ति प्रदान कर, वैकुण्ठ भेजता है, और इस कार्य से अपने असीम नित्य वैभव का प्रदर्शन करता है। उसे ही राम कहा जाता है जो ससार के ताप से तप्त भक्तजनो का कल्याण करता है।

उसकी पादुका की वन्दना वेदवेदान्त[7] नित्य किया करते हैं। वह संसाररूपी समुद्र की सेतु है, जिसके चरणों की पादुका, प्रणव[8] की दो कलाएँ हैं। इस पर आरूढ़ भगवान् के चरण की शरण में गया ज्ञानी जीव, भगवदानन्द के समक्ष जागतिक सुख को बुद-बुद की तरह, गन्धर्वनगर की तरह या स्वप्न की तरह, मिथ्या, हेय, तुच्छ समझकर, उसकी उपेक्षा करता है। अपनी माया से, ब्रह्मा, शिव के मध्य में अपने को कर, अपने सदृश ही लोक में उन्हें दिखाते हैं। लोक, मकरशरीर, सिंहशरीर, मुक्तशरीर-तक ही, भगवान् के ऐश्वर्य देखता है, दिव्यविग्रह तो कोई ज्ञानी ही समझता है। वास्तव में विष्णु ही शरीररूप में ब्रह्मा है, शिव है। वही स्वराट् आत्मा है। उसे सभी आत्माओं की आत्मा ब्रह्म 'यह सब बुद्ध' इत्यादि कहा जाता है।

ब्रह्म ही ईश्वर हैं। वह पर, व्यूह, विभव, अर्चा और अन्तर्यामी भेद से अनुभव का विषय बनता है। वह पररूप से बैकुण्ठ में रहता है, विभवरूप से अनेक अवतार ग्रहण करता है, व्यूह से सृष्टि निर्माण एवं संचालन करता है, अर्चारूप में वह भक्तों के पास रहकर, उनकी अधीनता स्वीकार करता है, और उनकी इच्छाओं की पूर्ति करता है। अर्चाविग्रह को मूर्ति या चित्र भी कहा जाता है। अन्तर्यामी हृदय में रहकर जीव पर शासन करता है। भगवान् के सभी रूप भक्तों के कल्याण करते हैं केवल बुद्ध एवं जिन अवतार ही अपवाद माने जाते हैं। वस्तुत वेदान्तदेशिक ने अपने स्तोत्रों में इन अवतारों का नाम भी नहीं लिया है।

उपर्युक्त ब्रह्मविषयक अवधारणा वेदान्तदेशिक की है, जो वैदिक वाङ्मय से अनुमोदित है। गोस्वामी तुलसीदास भी ब्रह्म को विष्णु, राम या ईश्वर से अभिन्न मानते हैं। लक्ष्मी[9] या सीता ब्रह्म की शक्ति या पत्नी यहाँ भी स्वीकृत हैं। विष्णु ही अनेक प्रयोजनों से अपनी शक्ति के साथ गुण, ऐश्वर्य का संकोच कर अवतार ग्रहण करते हैं। राम को वे आप्तकाम, निरंजन निराकार, निर्गुण[10] निरवद्य, आनन्दघन सच्चिदानन्द, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् सकलगुणनिधान[11] शुद्ध, बुद्ध मुक्त, वेदान्तवेद्य ब्रह्मा, शिव आदिक देवों के पूज्य, मर्यादा रक्षक, धर्म संस्थापक, रंगनाथ बिन्दुमाधव[12] प्रेम को पहचाननेवाले, अन्तर्यामी, बहिर्यामी मर्कट[13] की तरह सबको नचानेवाले, बिना मुख के वक्ता, बिना कान के श्रोता, हस्तकेबिना सकलकार्यकर्ता पद के बिना सर्वत्रविचरणकर्ता मानते हैं। निर्गुण का तात्पर्य वे प्रकृति के गुणों से असम्पृक्त लेते हैं।

विनयपत्रिका और मानस में अर्चाविग्रह[14] का वर्णन मिलता है। बिन्दुमाधव तथा श्रीरंग दो ऐसे अर्चाविग्रह हैं जो क्रमश प्रयाग और श्रीरंग में हैं। तुलसीदास इनकी प्रार्थना कर सत्संग की याचना करते हैं, जो उनके विचार से संसारबंध से मोक्ष देनेवाला, तथा शोक दूर करनेवाला है।

उनके साहित्य में वर्णित रामभक्तों की मनःकामना[15] पूर्ति करते हैं वे

वाणी के पति, बैकुण्ठविहारी, विश्वात्मा, विश्वाधार और सर्वशक्तिमान् हैं। राम ही ईश्वर या ब्रह्म हैं जो निगुण,[16] निराकार, निरजन, निजानन्द, निरभरानन्द सच्चिदानन्द, निर्वाणदाता नि सीम, निर्विकार निर्मोह, नि कम्प निरुपाधि तथा-जगत् के निखिल व्यापारो के विधायक हैं। उनका विधातत्व औपचारिक है क्योंकि काल[17] भी सष्टि का प्रधान घटक है। वह (काल) ब्रह्म के शासन मे रहकर ही अपना काय करता है। तुलसीदास ने उ ह इसीलिए काल का भी काल कहा है। उन्हें अद्वत अनघ, अव्यक्त अज, विभु मानकर नामरूप दो उपाधियो से युक्त भी बताया गया है। उपाधि शब्द पृथक पृथक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

तुलसी के निगुण राम[18] ही सगुण हैं जहां मोहनिद्रा का लेश भी नहा है। माया की परिच्छिन्नता केवल जीव म है ईश्वर या राम मे नही है। लक्ष्मी पति विष्णु ही राम हैं (राम-ब्रह्म परमारथरूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा)[19] जो अनेक शुद्ध या अशुद्ध अणु परिमाणी जीवो मे व्यापक हैं। राम इसी रूप म अन्तर्यामी कहे जाते हैं। वहीविष्णु परमारथरूप ब्रह्म हैं। राम ही ब्रह्म हैं। वही अज, अलख, अव्यक्त अनुपम और अनादि हैं। प्रकृति तथा उसके विकार[20] महत् अहकार[21] मन, इन्द्रियाँ, प्राण महाभूत चितिशक्ति — सभी राम के ही रूप हैं राजाओ के मुकुटमणि हैं। जगत् का उपादान कारण अविद्या नही है, भगवान् राम ही हैं। इस तथ्य को ब्रह्मवादी[22] ही समझते या देखते हैं। राम और ईश्वर म कोई भेद नहीं है। राम ही विष्णु हैं। विष्णु को सव व्यापक[23] (तमेकमद्भुत प्रभु निरीह ईश्वर विभु। जगद् गुरु च शाश्वत तुरीयमेवकेवल ।।) होने से, ब्रह्म भी कहा जाता है। ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनो कारण है। जिस प्रकार तन्तु वस्त्र का उपादान कारण है मृत्तिका घट का सप अपनी कुण्डली का, उसी प्रकार ब्रह्म का अचित् शरीर जगत् का उपादान कारण हैं। उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भगवान् के शरीर या रूप म होता है, मायामात्र म नही, जसा कि अद्वतवादी सिद्धात में है।

तुलसी के निगुण, निराकार निरजन और अन्तर्यामी राम[24] (निगुण सगुण विषव सम रूप। ध्यान गिरा गोतीतमनूप) ही सगुण, सत्यसकल्प और शेषशय्याशायी हैं। उस निगुण का वर्ण ही मेधवर्णवत् है। राम, जो निराकार हैं, करोड़ों लावण्य की राशि हैं निरजन होकर भी वह भक्तमनोरजन हैं। सक्षेप में उस ब्रह्म की विशेषताएँ विरोधी सी हैं, परन्तु विरोधविहीन हैं।

तुलसीसाहित्य में निगुण शब्द बार बार प्रयुक्त हुआ है, जिससे उन्हें अद्वत-वादी-समझने का भ्रम होता है। वेदान्तदेशिक ने तत्त्वमुक्ताकलाप मे स्पष्ट किया है कि इसम निर्विकार वाद भी सम्पन्न हो जाता है। निष्पक्ष होकर देखने से अद्वतवाद की पदावली निगुण निराकार, निरजन, निरीह कूटस्थ तथा तुरीय आदि-उपनिषदों

में ही है जो सब सम्मत है। व्याख्याएँ प्रत्येक वेदान्त की अपनी विशिष्टता अवश्य रखती हैं।

ब्रह्म अद्वैत[25] है, क्योंकि उसमें परगत भेद नहीं है। महदादि जड़ पदार्थ भी उसके शरीर[26] के ही विकार हैं। वह निर्गुण है, क्योंकि उसमें निषिद्ध (विशुद्ध बोधविग्रह समस्तदूषणापह) गुणों[27] का अभाव है। वह निरंजन है, क्योंकि उसमें रागद्वेष[28] नहीं हैं। वही निराकार है, क्योंकि उसमें आकृति मधुर और मंगलमय[29] है, और अन्तर्यामित्व से उसका कोई आकार (मो तुम जानत अन्तर यामी)[30] नहीं है। वह विभु है, इसलिए सब व्यापक (व्यापक विश्वरूप भगवाना।)[31] है। निर्विकार उसे इसलिए कहा जाता है कि विकार उसके जड़शरीरप्रकृति में है उसमें नहीं। वह ईश्वर (निरीह ईश्वर विभु ।३।१७।प्रभोऽप्रमेय वैभव।)[32] है, क्योंकि उसमें अनन्त ऐश्वर्य है, तथा सब पर शासन करता है। वह अद्वितीय है, इसलिए अद्वैत है। वह सर्वगुणसम्पन्न न होकर शुभ गुणों का अधिकरण है, इसलिए सगुण है। गुणों से अतिक्रमण करता है अतः गुणातीत है।

वह काल का काल है क्योंकि काल जड़ पदार्थ है प्रकृति का विकार है या उसी प्रकार का है। प्रलय के बाद कुछ समय तक प्रकृति निष्क्रिय रहती है, जहाँ काल भी निष्क्रिय रहता है इसलिए ईश्वरेच्छा प्रधान होने के कारण, काल का भी काल है या मोक्ष में काल की कला समाप्त हो जाती है, जो प्रभु की कृपा से ही सम्भव है इसलिए (कालहु कर काला) भगवान् राम हैं। वेदान्तदेशिक के अनुसार भगवान् का साकार रूप शुद्ध सत्त्व से बनता है, पर शंकराचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती के अनुसार प्राकृत सतोगुण है जो तमोगुण एवं रजोगुण को अभिभूत कर भगवान् के दिव्यमंगलविग्रह का निर्माण करता है। ईश्वर मायावच्छिन्न उसी प्रकार है, जिस प्रकार जीव। जीव में रजोगुण और तमोगुण का आधिक्य है, ईश्वर में इनकी अल्पता। इसलिए अद्वैतवादी राम या विष्णु मायाविशिष्ट हैं माया-पति नहीं हैं।

तुलसी के राम में कोई माया[33] नहीं है (राम सच्चिदानन्द दिनेशा, नहीं तह मोह निसा अवलेसा) तथा (राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी, सर्ब रहित सब उर पुर बासी)। शुद्ध सत्त्व पृथक तत्त्व है, जो सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से परे है। इस अप्राकृत नीलनीरदकलेवर में तुलसीदास तमोगुण या रजोगुण का अंश भी स्वीकार नहीं करते, जब कि मधुसूदन सरस्वती के यहाँ सतोगुण के साथ वह किञ्चित् परिणाम में अभिभूत होकर है। इसलिए शंकराचार्य के ब्रह्म कारण की दृष्टि से राम तो हैं, परन्तु स्वरूपतः राम ही ब्रह्म नहीं हैं।

ब्रह्म की शक्ति

तुलसी की सीता[34] ही भगवान् की निहित है। वेदान्तदेशिक भी शक्ति ही

भगवान् का स्थान-- अन्तर्यामिरूप मे सर्वत्र माना जाता है । वही हृदय म जीव के पास भी मिलत हैं। मुनीश्वरों को भगवान् हृदय म ही तुलसीदास क अनुसार प्रकाशित होते हैं। अन्तर्यामिरूप को ही निराकार कहा गया है। तुलसीदास इसी निराकार को प्रसगवश निर्गुण भी कहते हैं।

निर्गुणसगुणविवेक

तुलसी के राम एक साथ ही निर्गुण और सगुण है। यही स्थिति वेदान्त देशिक के राम की भी है। निर्गुण और सगुण दो शब्दों का तुलसीदास जी बार बार प्रयोग करते हैं। दोनों का अर्थ गुणरहित है। गुण का अर्थ बन्धनवाले सत्व रज तमोगुणरहित लेना ही उचित है । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो किसी वस्तु की सत्ता है यही सिद्ध नहीं होगा। सत्तावान् होना सत्यावान होना सगुण होना ही है। *निर्गुण की ऐसी परिभाषा सत्ताविहीन होना अद्वैतवादी आचार्यगण भी नहीं* करते ।

यदि निर्गुण का अर्थ माया गुणरहित माना जाय तो शकर और तन्निरूपण दर्शना मे भी यह ठीक बठेगा। अद्वैतवादी विद्वान् नाम जाति रूपादिक गुणों का माया के ही विकार मानते हैं। द्वैतवादी विद्वान् भी माया का कार्य ही मोह भ्रम अज्ञान और जगत् मानते हैं इसलिए सर्व सम्मत से निवृत्त गुणा निर्गता यस्मात् अप्राकृत इति एसी व्युत्पत्ति बहुव्रीहि समास की बनेगी जो शाकपार्थिवसमास से सिद्ध होगी। निर्गुण ब्रह्म सगुण होई जस की व्याख्या अद्वैतवाद से होना कठिन है। वहां शुद्ध को माया से अशुद्ध (उपहित ईश्वरप्राप्तावपि वेदान्तसार पृ २३ स मिश्र) होना पडेगा [३४] सत्ताश्रय मानना होगा जिसे तुलसीदास ने एक बार भी नहीं माना। एसा करने वाला को उन्होंने अज्ञ बताया है– प्रभु पर मोह धरहिं जड प्रानी।

एक पदार्थ अपना रूप परिवर्तन कर सकता है तरल ठोस गस तरल या गस बन सकता है और वाष्प बन सकता है। आकार रहित मिट्टी घडे के रूप म बदली जा सकती है। यह लोक और शास्त्र उभय स्थल म सम्भव है। अनन्तनामी भगवान् भक्त की इच्छा से शुद्धसत्त्व की सहायता से इच्छानुसार शरीर धारण कर लेते हैं । शुद्धसत्त्व स्वयप्रकाश पदार्थ होता है। गो० तुलसीदास इसीलिए सगुण राम को --

(१) चिदानन्द निर्गुण गुण राशी करते है ।

(२) निगुण सगुण विषम समरूप'

व अप्राकृत शरीर धरते हैं इसलिए प्राकृत शरीर धारी नरों के समान इच्छा से चरित करते हैं--

किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ।

गो० तुलसीदास ने जहाँ भी ब्रह्म निरूपण किया है निर्गुण सगुण के वात्सल्य

को सम बनाकर ही किया है। जामवन्त के शब्दो में—

(३) तात् राम कहुँ नर जनि जानहु, निर्गुण ब्रह्म अजित अज मानहु।
हम सेवक सब अति बड भागी, सतत सगुण ब्रह्म अनुरागी॥

इसी प्रकार जटायु के मुख से—

जय राम रूप अनुप निगुण
सगुण गुण प्रेरक सही॥

और राज्याभिषेक के समय वेदो के द्वारा उत्तर काण्ड में—

जय सगुण निर्गुणरूप रूप रूप अनुप भूप सिरोमने।

सनकादिक ऋषियो के श्री मुख से निसृत शब्द—

जय निर्गुण जय-जय गुण सागर।

तुलसीदास ने ब्रह्म को अशी शेषी, ईश्वर और प्रियतम माना है जीवो को अश शेष सेवक, प्रेमी दास आदि। जीव और ईश्वर मिलकर ही पूर्ण होते हैं। तत्त्व अखण्डनीय है इसलिए अशी का अश अपृथकसिद्धसम्बन्धी ही है। तुलसीदास जी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—

ईश्वर-अश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुख राशी।
रा मा उ० – ११६ ख-२।

ईश्वर का अश जीव सहज है, खण्डितकर बनाया गया नही है। वह चेतन सदानन्द और शुद्ध है। मायावश वह मलिन प्रतीत होता है- बन्धन से युक्त होता है। जीव की कोटि मे ही देवगण हैं। इन्द्र रुद्र, वसु आदित्य अग्नि, वरुण आदि सभी देव जीव ही हैं। ब्रह्मा, विष्णु महेश, तीनो ही विष्णु की माया से लोक मे सम प्रतीत होते हैं परन्तु विष्णु ब्रह्म हैं, ब्रह्मा और शिव जीव।

यदि कहीं (रुद्राष्टक उत्तरकाण्ड) रुद्र को ब्रह्म बताया गया है तो वह भाक्त है। महावाक्यो की तरह जीव को ब्रह्म अपृथकसिद्ध सम्बन्ध से माना जा सकता है। लोक म भी उपचारवृत्ति का पुष्कलप्रयोग देखा जाता है। सिद्धावस्था म समाधि कालिक अनुभूति बहुश की ही होती है अल्प परिमाणी जीव अपनी क्षुद्र अनुभूति महत् मे विलीन कर लेता है। ऐसी स्थिति म शिव भी ब्रह्म ही है रामरूप हैं, कारण कि योगिभक्त हैं।

ब्रह्म का अर्चावतार

भगवान् के अनेक प्रकार के अवतारों मे से अर्चावतार भी एक है। अद्वत विचारधारा के उपासक मूर्ति को प्रतीक मानने लगे हैं, परन्तु प्राचीनकाल से अर्चा विग्रह को भगवान् का भक्तसुलभस्वरूप ही माना जाता रहा है। मन्दिर की मूर्तिया की प्राणप्रतिष्ठा कर्मकाण्ड मे इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है। तर्क की दृष्टि से प्रत्यक्ष जड पत्थर को चेतना का साक्षात् स्वरूप मानना ठीक नही प्रतीत होता पर

भावनाजगत् में मानने वाले का, कोई विरोध कसे कर सकता है ? यह सिद्धांत कि साधना की प्रथमावस्था में मूर्तियाँ उपयोगी हैं, अपना बल नहीं रखता, सिद्धावस्था में मीरा गोर्नी,[9] शंकराचार्य रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य रामानन्द एवं तुलसी आदिक साधक अर्चाविग्रह की विधिवत् उपासना करते पाये जाते रहे हैं। आज भी कतिपय मुक्तभक्त नियमितरूप से मूर्ति की उपासना करते हैं। तिरुपति इत्यादिक मंदिरों में आधुनिक तार्किकों और पदार्थ विज्ञानियों की भीड़ मूर्ति की सजीवता स्वयं सिद्ध कर देती है।

शास्त्रकारों ने अर्चाविग्रह पर कई दृष्टियों से विचार किया है। सवनिष्ठ विभाजन स्वयम्भू और नरकृत है। स्वयम्भूविग्रह नदियों या पहाड़ आदि पर मिल जाते हैं शालिग्राम की शिला नामदलिंग तथा किसी किसी के मत से तिरुपति बालाजी आदिक विग्रह स्वयम्भू हैं। इन विग्रहों में प्राणप्रतिष्ठा नहीं होती। नरकृत मूर्तियाँ शिल्पी बनाते हैं जो पत्थर धातु रत्न काष्ठ या मृत्तिका की होती है। गोमय, भस्म बालुका आदिक पदार्थों द्वारा निर्मित वेदिका या शिवलिंग भी निर्मित या कृत्रिम ही हैं। तुलसीदास भी मूर्तिपूजा के प्रति पक्षपाती हैं। उनके राम[10] पार्थिव लिंग पूजते हैं। सीतादेवी की प्रतिमा की पूजा करती बताई गई हैं।

मूर्ति या अर्चाविग्रह से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना सरल है परन्तु निरालम्ब वस्तु पर मन टिकाना कठिन है। सवसामान्य में भगवान् के ऐश्वर्य को सरलतया समझाया जा सकता है। निराकार उपासकों को भी मजार स्तम्भ या पत्थरस्तूपों की आवश्यकता का अनुभव हुआ है जहाँ मूर्तिपूजा का अभाव है, वहाँ भक्तिसाधक कम हैं। प्रायः उग्र कुतर्की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के लोगों का जन्म होता है जैसे सन्तों के पथ पर चलनेवाले सामान्य लोगों में देखा जाता है। श्रीनाथ जी का आकर्षण उनका वैभव भी है। मूर्ति पर विश्वास रखकर मनुष्य साहसपूर्ण कार्य कर सकते हैं। सामान्य जनों में देवता प्रेम तथा त्याग भी भरना जगती है। मूर्ति और मन्दिरों से अतीत की घटनाओं का स्मरण होता है। शिल्पी साधक तथा विद्वानों को आश्रय मिलता है। विशेष प्रकार की मूर्तियाँ या मंदिर सांस्कृतिक आदान प्रदान में सहायक होती हैं, जैसे चारों धामों की मूर्तियाँ ज्योतिर्लिंग दिव्यदेश के विष्णुमन्दिर इत्यादि। यद्यपि मूर्ति की उपयोगिता लौकिक दृष्टि से भी है तथापि उसकी उपयोगिता आध्यात्मिक और आधिदैविक ही है।

आचार्य वेदान्तदेशिक और गोस्वामी तुलसीदास दोनों ही भक्तराट् अर्चाविग्रह और भगवान् के अप्राकृतमंगलविग्रह में अभेद देखते हैं। वेदान्तदेशिक के स्तोत्र तो दक्षिण की पाषाणमूर्तियों पर[11] ही हैं। गो० तुलसीदास जी ने भी बिन्दुमाधव और श्रीरंग के स्तव में अपनी अर्चाविग्रह पर घोर आस्था व्यक्त की है। दोनों साधकों ने सिद्धि के पश्चात् भी अपने इष्ट की प्रतिमाओं की सेवा आजीवन की।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्तदेशिक और तुलसी दोनों ही तात्त्विक दृष्टि से एक ही प्रकार के ब्रह्म का समर्थन करते हैं जो सगुण[42] है और निर्गुण भी है। दोनों नारायण के पर, व्यूह विभव और अर्चाविग्रह पर समान भाव से आस्था रखते हैं। सीता और प्रकृति के विषय में दोनों महान् विभूतियों की मान्यता समान है। दोनों ही सीता को स्वतन्त्र व्यापक, ब्रह्म के समान गुणवाली मानते हैं और प्रकृति का जड मोहोत्पादिका बन्धन का कारण। वेदान्तदेशिक तुलसी के पूर्ववर्ती हैं गुरु परम्परा के आचार्य हैं इसलिए स्वा० रामानन्द की अपेक्षा सीता के विषय में प्रभाव देशिक का ही दिखाई देता है।

डाक्टर उदयभानु सिंह का कथन है कि 'तुलसीदास प्रचार कर यह देना चाहते हैं कि परब्रह्म निर्गुण निराकार राम में और दशरथ के सगुण, साकार राम में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। यदि उनका अभिप्रेतार्थ उसे राम की ओर हैं, जो उपाधिरहित, शुद्ध बुद्ध मुक्त ईश्वर निर्गुण निरंजन निराकार, सकलशुभगुणनिधान दिव्यमंगलविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप हैं तो तात्त्विक शब्द का समीचीन प्रयोग माना जा सकता है। यदि उक्त मत विसंवादी है तो वह तुलसी का समुचित सिद्धान्त निरूपण नहीं कर पाता, क्योंकि सगुण राम को उपाधि सहित और निर्गुण राम को निरुपाधिक मानने पर तुलसीदास के ही वचनों में परस्पर विरोध होने लगेगा। ऐसा न केवल विनयपत्रिका या मानस में होगा अपितु उनके सभी साहित्य में देखा जाएगा। मानस में तुलसीदास का मत है—"

राम सच्चिदानन्द दिनेशा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना ॥

रा मा बा ११५।१ ८।

उपर्युक्त कथन में स्पष्ट है कि राम सच्चिदानन्द है, सूर्य की तरह तेज और प्रकाश (ज्ञान) से युक्त हैं। वहाँ अज्ञान रूपी मोह निशा का अंश भी नहीं है सदा विज्ञान का प्रकाश रहता है। अज्ञानी लोग अपना भ्रम तो समझते नहीं, प्रभु को ही माया से आच्छन्न बताते हैं। वह भवधपति (राम) उपाधिसहित होकर अवतार नहीं लिये हैं वे सबको परमज्ञान दान करनेवाले हैं।"

डा० श्रीनकुमार के मत से— व्याप्य और व्याप्य द्वारा ब्रह्म का विवर्ताश्रय रूप अधिष्ठानत्व, सगुण और निर्गुण द्वारा माया का अधिष्ठानत्व, सगुण और निर्गुण द्वारा माया की उपाधि का क्षय और एक अनेक द्वारा भोक्ता भोग्य आदि प्रपंच को ब्रह्म से अभिन्नता सूचित की गयी है। इसी प्रकार तथा कथित विरोधीगुणों के परिहार की-पद्धति भिन्न भिन्न है। तुलसी का दार्शनिक मतवाद शंकर के मत से अत्यधिक आसन्नता रखता है। मानस का दर्शन मूलत अद्वैत परक है। तुलसी तत्त्वत अद्वैतवादी ही हैं। जहाँ उनके काव्य में परस्पर विरोधी भी दीख पड़ने वाली उक्तियाँ

'तुलसीसाहित्य की दार्शनिकपीठिका']

मिले उनमें इस प्रकार सवाद स्थापित किया जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतपरक वचन तो व्यवहार दशा के अनुरोध से हैं और अद्वैतपरक वचन तात्त्विक सिद्धान्त व उपन्यास की दृष्टि से हैं।–मामुख

'ईश्वर के लिये मायावी का उपमान शकराचार्य की रचनाओ मे बहुधा मिलता है तुलसीदास भी इसी अभिप्राय से कहते है। –विवर्तवाद का सिद्धान्त तुलसी को मान्य है। शिव पार्वती सवाद मे तुलसी न विवर्तवाद के अनेक उदाहरण दिये हैं। यह स्मरण रखना होगा कि विवर्तवाद का सिद्धान्त शकरेतर किसी वेदान्त सम्प्रदाय म मान्य नही है। मतान्तरवादी तो इस दृष्टात से खीझ उठते है। पृ ३३,

डा० श्रीशकुमार के मत से असहमति प्रकट करना अधिक उपयुक्त है, क्योकि तुलसीदास जी अन्यथाख्याति या विवेकख्याति को मानते हैं अनिर्वचनीयख्याति को नही। अजातिवाद या विवर्तवाद की उपयोगिता तभी होगी जब उनकी परपरा का तात्त्विकचिन्तन अपूर्ण एव असगत होगा। अपने समस्त ग्रन्थो म वे ईश्वर जीव और प्रकृति को नित्य मानते हैं व्यावहारिक नही। उनके आदि आचार्य तथा दीक्षा गुरु को तत्त्वत्रय पर विश्वास नही था, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। गोस्वामी तुलसी दास जी ने कही सकेत नही किया कि अद्वैतवाद पारमार्थिक दृष्टि स मान्य है विशिष्टाद्वैत व्यावहारिक दृष्टि से। यदि तुलसीदास को अद्वैतमत पर श्रद्धा होती तो दण्डी सन्यासी उदासिया तथा नाथो को व्यग्य उन्होंने किया है (इन लोगो म अभेदवाद के सामाजिक कुपरिणामो की ओर कवि न सकेत किया है– तु० चिन्तन और कला– पृष्ठ ६३८। वाराणसीवाद) वर्णाश्रम को नही। मतान्तर मानकर अद्वैतवाद की तरह विरोधपरिहार करना कठिन कल्पना है तत्त्वत्रय म नहीं। अद्वैतवाद सब सामान्य की पहुँच से दूर है विशिष्टाद्वैत सहज एव स्वाभाविक होने से अति निकट। तुलसी दास ने जनता के लिये साहित्यसृजन किया था इसलिये ऋजु मार्ग का अपनाने की चेष्टा की होगी। उन्होने स्वय अद्वैतज्ञान को कहा साधते कठिन बताकर अनेक प्रत्यूहो से भरा हुआ बताया है। जनता ईश्वर को ही पारमार्थिक तत्त्व मानती है ब्रह्म को नहीं। ईश्वर मे सर्वसामान्य जनता उपाधि नहीं देखती जो अजातिवाद विवर्तवाद तथा मायावाद को अभीष्ट है। तुलसी केवल जीव म ही उपाधि मानते हैं जो उसे सकुचित करती है। ईश्वर म नाम और रूप की उपाधि उनके मत म विशिष्ट गुण मानकर करते हैं। विशिष्टाद्वैत केवल सगुण साकार ब्रह्म ही नहीं मानता, निगुण, निराकार निरजन, केवल, अनीह अज और अन्त आदि भी मानता है, इसलिए यह तक निबल है कि व्यवहारदशा में विशिष्टाद्वैत है और परमार्थदशा मे केवलाद्वैत। यदि परमार्थ म अद्वैत है तो व्यवहार म भी मानना उचित है। विशिष्टाद्वैत व्यवहार और परमार्थ म तात्त्विक भेद नहीं मानता, इसलिए वहाँ ब्रह्म

और ईश्वर ब्रह्म और जगत् तथा ब्रह्म और जीव की कठिनाई नहीं है। सापेक्षवाद विशिष्टाद्वैत में भी है। देशकाल की सत्ता सापेक्ष होते हुए भी नित्य है अद्वैतवाद में अनित्य। तुलसी परमपद निजधाम को नित्य मानते हैं इसलिए उनके यहाँ देश नित्य है। देश की नित्यता काल की अपेक्षा से है, इसलिए काल भी नित्य है।

तुलसी की माया आवरणविक्षेपरूपा नहीं जसी, की उनकी मान्यता है, अपितु केवल विक्षेपरूपा है। विनयपत्रिका में प्रकृति को राम का शरीर (सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमणि, व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो। वि प पद ५४) बताया गया है, इसलिय शरीरशारीरभाव की तरफ स्पष्ठ संकेत है किन्तु आवरणशक्ति की दिशा में कहीं भी संकेत नहीं मिला। ऊह के द्वारा आवरणशक्ति मानने पर नित्यजीववाद की सिद्धि असंभव हो जायगी। तुलसी ब्रह्म और जीव को समानान्तर और नित्य मानते हैं। शंकराचार्य के अजातिवाद में अद्वैत की सभी कोटियाँ (स्वगत या परगत) अस्वीकृत होने से उपहितचैतन्य ईश्वर और जीव तो साथ रह सकते हैं ब्रह्म और शुद्धजीव नहीं। अद्वैतवाद में जीव आत्मा न होकर उसका प्रतिबिंब मात्र है इसलिय ज्ञान के पश्चात् प्रतिबिंब भी नहीं रहता क्योंकि उसका कारण माया का नाश हो जाता है। शिवपार्वतीसंवाद तथा विनयपत्रिका के 'केशव कहि न जाय का कहिये,' में विवर्तवाद नहीं है क्योंकि अनिर्वचनीयता की स्थापना नहीं है। युगल प्रबल शब्द का अर्थ सदसत्ख्याति है जो जैन लोगों की है सदसद्विलक्षण ही अनिर्वचनीय है क्योंकि अद्वैतवादी व्याघातदोष तम प्रकाशवत् मानता है। एक अधिष्ठान में विरोधी धर्म नहीं माना जा सकता। इस पद में स्पष्टतः तीन का भ्रम बताया गया है जो त्रिगुणात्मप्रकृति जन्य है। इसे कारणदृष्टि से सत्य कार्य दृष्टि से असत्य तथा दोनों दृष्टियों से सदसत् माना जा सकता है। ख्यातिवाद के अनुसार सत्ख्याति, असत्-ख्याति तथा सत्सत्ख्याति कहा जा सकता है वेदान्तदेशिक के तत्त्वमुक्ताकलाप के अनुसार तान्त्रिकों की असत्ख्याति और मीमांसकों की अख्याति में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। तीन प्रकार की ख्यातियों में ही जगत् का स्पष्टीकरण करनेवाली भावात्मक सभी ख्यातियाँ आजाती हैं। बौद्धों की असत्ख्याति तथा अद्वैत की अनिर्वचनीयख्याति का अवकाश इसमें नहीं है।

महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी 'यन्मायावशवर्ति' से आरम्भ होनेवाले मानस के श्लोक का उद्धरण देकर स्वाभिमत स्पष्ट करते हैं- 'इस श्लोक में स्पष्ट ही श्रीशंकराचार्य का अद्वैतवाद न केवल अद्वैतवाद ही, किन्तु मायावाद भी उल्लिखित हुआ है। जगत् मायाजनितअसत्य है। यह ब्रह्म की सत्ता से सत्तावान् प्रतीत होता है, यही शांकरसिद्धान्त है। वैष्णवाचार्यों ने जगत् को मायिक एवं असत्य स्वीकार नहीं किया। यद्यपि पूर्वोक्त श्लोक में कहीं-कहीं अमृषेव पाठ मिलता है जिससे जगत् सत्य ही प्रतीत होता है ऐसा कुछ विपरीत अर्थ होजाने की सम्भावना

हो सकती है, किन्तु यत् सत्त्वाद् और 'रज्जौ यथाऽहे भ्रम,' इन पदो का इस पक्ष में कुछ भी स्वारस्य नही रहता। क्योंकि जगत् सत्य मान लेने पर वह ब्रह्म की सत्ता से भासित नहीं हो सकता, किन्तु अपनी ही सत्ता से भासित होगा। और इस पक्ष मे रज्जु सपवाला दृष्टान्त भी नही घटता, क्योंकि जगत् को भ्रम का विषय मायावादी ही बताते हैं दूसरे नही। अत इस श्लोक का तात्पय मायावाद म ही है।' द अनु पृ ८३

उपयु क्त निष्कष अप्रामाणिकता की श्रेणी मे है क्योंकि (डा० श्रीशकुमार के प्रसगो मे) पहले बताया गया है कि तुलसीदास मूलत विशिष्टाद्वतवादी है जो अख्याति या असत्ख्याति को मानते हैं। अख्यातिवादी भी भ्राति मानता है। उसके यहा जगत् मिथ्या बताया गया है। कारणदृष्टि से भले ही जगत् सत्य माना जाता हो किन्तु कायदृष्टि से प्राय सभी वैष्णव जगत् को असत् मानते है क्योंकि वह उत्पत्तिविनाशधर्मा है। वैष्णवों के यहां गगनकुसुम की तरह असत् न तो जगत् है न उसका कारण माया। रज्जु मे अहि की भ्राति का निरूपण वेदातदेशिक ने जगत् के प्रसग मे किया है। उन्हे असत्ख्याति मान्य है जो साधिष्ठान है। जगत् को भ्रम का विषय मायावादी ही नही बताते सभी दाशनिक मानते हैं उनकी व्याख्याएँ पृथक है। वेदातदेशिक के सिद्धातनिरूपण मे इसका विस्ततविवेचन है। *विशेषरूप से ख्यातिवाद पठनीय है। अपृथक्सिद्धसम्बन्ध मान लेने पर ब्रह्म की सत्ता* ही एकरस सिद्ध होगी, जगत् उसका परिवतनशील अग। ब्रह्म की सत्ता अस्वीकार कर जगत् की सत्ता नहा मानी जा सकती जगत् की सत्ता अस्वीकार कर ब्रह्म की सत्ता सिद्ध हो सकती है। मुक्तजीव केलिए जगत् का कोई प्रयाजन ही नही। आत्मतया या व्यापकतया वस्तुत ब्रह्म ही जगत् का आभासित या प्रकाशित करता है। इसके विपरीत अद्वतजगत् की सत्ता माया से भासित है वह बाजीगर की लीला है। ब्रह्म का प्रकाश भी उसकी सत्ता का बाध हाने पर जगत् अस्तित्वहीन हो जाता है। अद्वतवाद म जगत् असत् नही है अनिवचनीय उसकी वस्तुस्थिति है। परन्तु वह ब्रह्म का काय नही, क्याकि जगत् भ परिणाम है ब्रह्म मे विवत।

गगनकुसुम की प्रतीति अद्वतवाद को अमान्य है, इसलिए जगत वसा उनके यहा भी नही है। अद्वतवाद की बारीकी रस्सी म अनिवचनीय सप की नयी सृष्टि म है। यह अनिवचनीय जगत प्रतीत हो रहा है जिसे भासित कहा जाता है। परतु अद्वैतवादी सत्ता विहीन माया को अस्तित्ववान् मान ही कैसे सकते हैं जबकि सत्ता की चौथी कोटि ही नही है ? कारण के अभाव मे अद्वतवाद के मत स ही काय रूपजगत भी नही ह। इसलिए इह इसकी प्रतीति भी नही होनी चाहिए। विशिष्टाद्वत कारण की सत्ता प्रकृतिरूप म मानता ह तुलसीदास भी नित्यप्रकृति मानते हैं। इसलिये असत का तात्पय उत्पत्तिविनाशधर्मा या परिवतनशील ही है। मय का अथ

स्पष्ट है कि ब्रह्म की सत्ता से जगत् जो असत् है (विनाशवान होने से) प्रवाहरूप मे सत्य प्रतीत हो रहा है, अथवा ईश्वर के सत्व अर्थात् पराक्रम से व्याप्त तुच्छजगत् भी भ्रान्तिवशात् ब्रह्म की तरह सुखमूलक प्रतीत हो रहा है। 'भा' का अर्थ प्रतीतिमान और प्रकाश भी है।

डा० राजपति दीक्षित के अनुसार— विशिष्टाद्वैतवादी जगत को ब्रह्म का अंश मानते हैं परन्तु बाबा जी के विचार से जगत साक्षात् रघुवंशमणिस्वरूप ही है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत की ओर भी कितनी बातें हैं जो तुलसी के मत मे नही हैं।[1] इसी प्रकार म० म० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी का अभिमत है— "यद्यपि सभी मतों में ईश्वर को व्यापक माना जाता है और ईश्वरबुद्धि से सब जडचेतन की पूजा उपयुक्त समझी जाती है, किन्तु राममय जगत देखना, राम के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद की पराकाष्ठा है।"—दर्शन अनुचिन्तन।

डा० राजपति दीक्षित की मान्यता सदोष है सियाराममय का अर्थ सियाराम का विकार या परिणाम जगत है। मयट प्रत्यय विकारार्थक और प्रकृतार्थक दोनों मे होता है। ब्रह्म अपनी शक्ति सहित जगत का उपादान कारण है, सभी वैदिक-सम्प्रदाय मानते हैं। रामानुज, शंकर, निंबार्क श्रीपति, भास्कर वल्लभ आदि सभी मतो से सियाराममय की संगति इस अर्थ से बैठ जाती है। त्रिपाद्विभूति जगत् से पृथक मानी जाती है, जो परमपद वैकुण्ठ साकेत और गोलोकसंज्ञक है। तुलसीदास की कृतियों मे भगवान् राम अनेक जीवों को निजधाम इसलिए भेजते हैं कि जगत से वह पृथक हैं। कठिनकल्पना कर प्राचुर्यार्थ मे भी मयट को समझा जा सकता है— 'अखिल जगत् मे सीता राम का ही आधिक्य है अन्य कोई इनसे पृथक पदार्थ नहीं जो स्वगत से इतर भेदवाला हो।' रामानुज की बहुत सी बातें, जो रामानन्द और लोकाचार्य द्वारा स्वीकृत हैं अवश्य तुलसी मे नही मिलती जो शक्ति सीता और प्रपत्ति को लेकर है, परन्तु वैसा तदेशिकद्वारा व्याख्यात उनकी ऐसी कोई भी बात नहीं जो तुलसी के मत से पृथक हो। म० म० गिरिधर शर्मा का कथन ठीक है कि 'राम के अतिरिक्त और कोइ वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद की ही पराकाष्ठा है' परन्तु यह पराकाष्ठा तुलसी को अस्वीकार्य है क्योंकि वे ब्रह्म और जीव को सहज सँघाती स्वीकार करते है।

म० म० गिरिधर शर्मा भेदाभेद से अनिर्वचनीय की ओर तुलसी को जाते हुए देख इस परिणाम पर पहुँचते हैं—"ब्रह्म सदा, निर्विकार एकरस है, जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय मे सब तरंगमात्र है। अतएव माया की सत्ता स्वतंत्र न होने से या माया मे ब्रह्मस्वरूप प्रविष्ट न होने से माया और मायिक जगत को वेदान्ती मिथ्या कहते हैं। गोस्वामी जी ने भी ब्रह्म और माया का जराबीची की तरह सम्बन्ध मानकर और भेदाभेद के द्वारा अनिर्वचनीयता मानकर इस सिद्धान्त को स्वीकार

1. तुलसीसाहित्य की दार्शनिकपीठिका',]

किया। अत श्रीगोस्वामी जी का यह दोहा स्पष्ट ही शंकरवेदान्त का अनुयायी है, इसमे कोई सन्देह नही रह जाता। द ग्र पृ ७७ ८८

तथ्यत भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत समानतन्त्री है, इसलिए उक्त दोहा विशिष्टाद्वैत की बात ही भेदाभेद की भाषा म स्पष्ट करता है। मायिक जगत् को केवलाद्वैतवेदान्ती ही मिथ्या नही कहते, अधिकाश वेदान्ती ऐसा मानते हैं। ब्रह्म को निर्विकार एकरस, शुद्ध अद्वैत और अप्राकृत मानकर, सकलशुभगुणनिधान, शैव और वैष्णव वेदान्ती दोनो मानते हैं। अद्वैतवादी जहाँ ब्रह्म को प्रकृति से अशुद्ध बनाकर सगुण मानता है अन्य प्रकृति से असपृक्त मानकर सगुण सिद्ध करते हैं। तुलसीदास जहाँ ब्रह्म को निर्गुण, निराकार मानते हैं वही उसे सगुण बताकर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते है। साकार और निराकार की उनकी मान्यता विशिष्टाद्वैत की ही है। (निराकार अन्तर्यामी है साकार चतुर्भुज विष्णु या द्विभुज राम है) इसके लिये व अग्नि का उदाहरण देते हैं– 'जिस प्रकार अरणी की अग्निमन्थन के बिना प्रत्यक्ष नहीं उसी प्रकार साधना के बिना अन्तर्यामिभगवान्। यथा अरणी मे व्याप्त अग्नि ही साकार बनती है उसी प्रकार अन्तर्यामी भी साकार हो जाते हैं। तुलसी के सामने अनिर्वचनीयता मानने की न तो कोई उपयोगिता है, और न जगत् को समझने समझाने की कोई समस्या। तरग जल से स्वतन्त्र न होकर भी उत्पत्ति विनाश की दृष्टि से वह पृथक अस्तित्व रखती है। जल को तरग कहना ठीक है किन्तु जल को तरग नही माना जा सकता, कारण से कार्य की एकता तत्त्वत होती है। स्वभावत नहीं। दूध ही जैसी दही नही कहा जा सकता, उसी प्रकार माया जगद् नही कही जा सकती। ब्रह्म के अन्दर सभी धम नित्य हैं आगन्तुक नही। आरोपित धम भी कही अस्तित्व अवश्य रखते हैं। माया के सम्बन्ध से निर्गुण सगुण बन सकता है परन्तु उसे माया विशिष्ट मानना पडता है शुद्ध बुद्ध, मुक्त नही। अद्वैतवाद की इस कठिनाई को गो० तुलसीदास पहचानते थे, इसलिये विशिष्टाद्वैत की तरह जीव को तो' मायावश परिच्छिन्न कहते हैं, किन्तु ब्रह्म या ईश्वर को माया से अपरिच्छिन्न' कहते हैं, और ईश या ईश्वर को माया से अपरिच्छिन्न मानकर उसे भिन्न देखते हैं–

मायावस परिच्छिन्न जड, जीव की ईश समान।

आगे शर्मा जी लिखते हैं कि—

नाम रूप दुइ ईस उपाधि। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।

यहाँ नाम और रूप को ईश्वर की उपाधि बताया है। वेदान्तदर्शन भी यही निरूपण करता है कि प्रत्येक वस्तु में पाच भाव प्रतीत होते हैं– सत्ता, चेतना आनद, नाम और रूप। इसमें सत्ता, चेतना और आनन्द ब्रह्म के रूप हैं और नाम तथा रूप ये दोनों मायिक हैं। 'वास्तव में पाँच भाव की मान्यता अद्वैत वेदान्त की है,

म कि बादरायण के वेदान्तसूत्र अथवा वैदिक वाङमय की। प्रत्येक आस्तित्ववान् अपना नाम और रूप रखता है यह वेदान्त की मान्यता है। प्रत्येक तत्त्व गुणवान् भी है। जडपदार्थ म परिवतन होता है, इसलिए उसके नाम और रूप अनित्य हैं, किन्तु ब्रह्म एकरस और नित्य है, उसके नाम और रूप मे कोई परिवतन नही हाता। नाम उसके गुणा के कारण माना जाता है और रूप प्रतीत का विषय है, इसलिये ब्रह्म में भी अवश्य दोनो तत्त्व रहने हैं। तुलसी तो ब्रह्म की सत्ता की अपेक्षा नाम बडा मानत हैं जो वास्तव म उसके गुणों के अनुसार अनत हैं, जिनकी गणना वद भी नही कर सक्ते, इसलिए नेतिनति कह कर मौनाकलन कर लेते हैं। उपाधि शब्द विशिष्टगुण के अथ म हैं माया के अथ म नही। तुलसी अतवादी अद्वैत मानते हैं। उनके यहां मायिक उपाधि निरथक है। वठत वे कहते हैं– सहज प्रकाश रूप भगवान अर्थात् भगवान् का रूप भास्वर शुक्ल है। वह रूप ही मेघवण ब ता है। युग के अनुसार रक्त पीत और श्याम भी हो जाता है। यदि रूप प्राकृत माना जाय ता विष्णु का श्यामवण तमोगुण के अतिरेक से ही सिद्ध किया जा सकता है किन्तु वे सतोगुणी माने जाते हैं। भगवान् का रूप वास्तव म चमचक्षु से परे है और प्रकृति के गुण विकार से रहित है। शुद्ध निरुपाधि ईश्वर ही ब्रह्म है जो सच्चिदानन्द तो जीव की तरह है ही, नाम और रूप उसके विशेष हैं। वे नाम अनादि हैं, मायिक ही। माया से असंस्पृष्ट होने के कारण ही अवाङमनस गोचर (इयत्ता की दृष्टि से) हैं। 'नेति-नेति' वेद गुणाभाव म नही कहते, अपितु सीमा का पार न कर पाने के कारण कहत हैं इसीलिए वे अकथ हैं अर्थात वाणी के विषय नही हैं। नाम नामी का नित्य सम्बन्ध लाक की तरह ही है तभी सगुणनिगुण (साकार निराकार) दोना विग्रहा को वश म कर लेने हैं। नाम से ही दोनो प्रकार के साकार निराकार विग्रहधारी ब्रह्म राम अगम हाकर भी सुगम ब ते हैं। तुलसीदास सगुण और निर्गुण का ब्रह्म कहते हैं ईश्वर और ब्रह्म नही, जसा कि अद्वतवाद की मान्यता है। वे भगवान् के शरीर को चिदानन्दमय बताकर सगुणरूप को स्वीकार करते हुए अप्राकृत भी सिद्ध करते हैं। तुलसीदास नाम को राम से बडा मा ते ह, तुच्छ नही।

लक्ष्मण की यह उक्ति–

'धरम धामु धन पुर परिवारु। सरग नरकु जँह लगि व्यवहारु।
देखिय सुनिय गुनिय मन माही। मोह मूल परमारथ नाही।
सपने हाइ भिखारि नप, रक नाक पति होई।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपच जिय जोइ॥'

–भी अद्वतवादी तत्त्व निरूपण की भ्रांति उत्पन्न कर सकती है क्योंकि यहं 'परमारथ' तथा व्यवहार' शब्द युक्त है। वास्तव मे परमार्थ और व्यवहार शब्दो का प्रयोग सनातन काल से तत्त्व और जगत के लिए है। साख्य भी मानता है कि

जीवात्मा में अज्ञान होने से ही प्रकृति विक्षेप पैदा करती है, जो वास्तव में जीव को श्रेयस्कर नहीं है। जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत के परिभाषित शब्दों को तुलसीदास प्रयोग में लेते हैं अद्वैतवाद के शब्द नहीं लेते। विशिष्टाद्वैत और अद्वैत की शब्दावली में बहुत दूर तक साम्य है, केवल मोक्ष, धर्म, वेद, और तत्त्वनिरूपण में ही मौलिक भेद है। इन स्थलों पर तुलसीदास अद्वैत से पृथक होकर अपने विचार रखते हैं। माया के विषय में अद्वैत विशिष्टाद्वैत से इसलिये पृथक है कि वह माया और विद्या को दो पदार्थ मानता है विशिष्टाद्वैत तथा तुलसी माया के ही दो भेद विद्या और अविद्या बताते हैं। इस कठिनाई को समझकर म० म० गिरिधर शर्मा ने शुद्धाद्वैत की माया का अभाव तुलसीदास पर सिद्ध किया है परन्तु शुद्धाद्वैत की माया वेदान्तदेशिक के ही निकट है शंकराचार्य के निकट नहीं ऐसा वल्लभसम्प्रदाय के विद्वान् अपने ग्रन्थों में स्वीकार करते हैं। जीव और ब्रह्मविषयक मान्यता भी सभी वैष्णवों की समान हैं अद्वैतवाद से सभी विपरीत विचार वाले हैं। स्वप्न के दृष्टान्त में यह बताने की चेष्टा की गयी है कि जिस प्रकार स्मृति वशात् जीव स्वप्न में अनेक वस्तुओं को अपना सम्बन्ध जोडकर देखता है सुखी दुखी होता है वह स्वप्न सत्य हो या असत्य जानने पर स्वप्न नहीं रहता सम्बन्ध भी नहीं रहता केवल स्मृति रहती है स्वप्न जनितलाभहानि भी नहीं रहते उसी प्रकार जीव मोह निद्रा में पडकर प्रकृति के विकारों से अपना सम्बन्ध जोड लेता है। मैं सुखी हूँ दुखी हूँ, ऐसा अनुभव वह करता है। ज्ञान और विवेक होने पर प्रकृति का बन्धन छूट जाता है वह जगत् में सुख दुख को नहीं देखता।' यहाँ प्रपंच की सत्ता परिवर्तन वाली मानी गयी है। अद्वैतवाद में प्रपंच का कारण माया भी पारमार्थिक सत्ता शून्य है। व्यवहार में भले ही माया है किन्तु परमार्थ में माया स्वीकार करने पर अद्वैत हानि का भय है। तुलसी के ब्रह्म सभी का बचाते हैं। उनके भ्रूविलास से माया इस कार्य का संपादन करती है।

अन्यत्र उन्होंने लिखा है– 'यही अविद्या का मुख्य कार्य है। जबतक यह निवृत्त न हो भेदवासना कैसे मिट सकती है? और इसके निवृत्त हो जाने पर जीव दशा ही नहीं रहती। इसीलिए जीवदशा में ईश्वर की समानता का गोस्वामी जी अन्यत्र भी निषेध करते हैं—

जो अस हिसिषा करहिं नर, जड विवेक अभिमान।
परहिं कल्प भर नरक महँ जीव कि ईस समान॥

अर्थात् ईश्वर शिव, विष्णु आदि के से ईश्वर विभूति सूर्य अग्नि आदि के से ईश्वर विभूति, सूर्य अग्नि आदि के से चरित जीवदशा में नहीं हो सकते। जो जीव दशा में वैसे चरित चाहते हुए इस प्रकार ईर्ष्या करते हैं वे नरक में जाते हैं। ठीक ही है। इस प्रकार भेद सभी वेदान्ती स्पष्ट रूप में स्वीकार करते हैं।

अतः गो० तुलसीदास जी का मत यहाँ अद्वैतवाद के कुछ भी विरुद्ध नहीं है।'

परन्तु आत्मा की जीवदशा और ब्रह्मदशा एक मात्र अद्वैत मे स्वीकृत है, तुलसीदास का अभिमत ऐसा नही है। वे कैवल्य को हीन बताते हैं जो ब्राह्मीस्थिति नहीं है। अद्वैतवाद कैवल्य को ही ब्राह्मीस्थिति मानता है तुलसीदास जहाँ ब्राह्मीस्थिति मानते हैं वहाँ पराभक्ति भी स्वीकार करते हैं जो अद्वैतवाद के अनुसार शुद्धब्रह्म और जीव मे असम्भव है। मधुसूदन सरस्वती ने ईश्वर जो सगुण हैं, माया संस्पृष्ट ब्रह्म है, को पराभक्ति का आलम्बन बताया है। निर्गुण ब्रह्म मे पराभक्ति वे नही मानते। तुलसीदास परमपद मे सायुज्य मोक्ष मानते हैं जो वैष्णवो, शैवो का स्वीकार्य है अद्वैतवादी का नही। 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' में भी तुलसी जीवत्व स्वीकार करते हैं क्योंकि वहाँ भी नित्यभक्ति वतमान रहती है अद्वैतवाद म दा सत्या के अभाव मे भक्ति और भगवान् भी मोक्ष म नही रहते। ईश्वर और जीव माया के कारण ही अंगागी भाव स रहते हैं। वास्तव मे जीव भी जडपदार्थ माया ही मानना चाहिए, क्योंकि वह बुद्धिमनअहंकार का समूह मात्र ही स्वीकृत है। तुलसी के यहाँ जीव स्वरूपतया, 'चेतन अमल सहज सुख राशि' अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप है। दोनो में आंशिक समानता तो है, परन्तु जीव क्षुद्र है माया म पडकर अशुद्ध भी हो चुका है ब्रह्म बृहत् है माया के प्रभाव से रहित शुद्ध स्वतन्त्र सच्चिदानन्द है वह जीव का अंशी है शेषी है। ईश्वर से जीव की समानता सर्वांश म नहीं है जो जीव ब्रह्म को अपनी पूज्य बुद्धि का त्यागकर अपने समान समझता है निश्चय कल्पभर नरक मे पडता है। क्षुद्र, मलिनसत्त्वप्रधान जीव ही ऐसा अपराध कर सकता है। तुलसीदास के अनुसार मुक्तजीव भगवान्कीपराभक्ति से ही कृतकृत्य होता है जहाँ शेषशेषी या अंश-अंशी की मर्यादा वतमान रहती है। अद्वैतवाद के अनुसार अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति ही परमार्थ मानी जाती है जबकि विशिष्टाद्वैत म ब्रह्म मेरी आत्मा है मैं उसका शरीर हूँ यह अनुभूति। विशिष्टाद्वैत जीव जीव का भेद मोक्ष म मानता है जीव-ईश्वर का भेद भले ही न मानता हो, पर तु मोक्षावस्था म अद्वैतवादी जीव को ही नही मानता। शिव गणेश ब्रह्मा आदिक का तुलसी जीव मानते हैं।

डा० उदयभानुसिंह लिखते हैं– 'तुलसीदास का रामभक्ति दर्शन नही है पुराणों की प्रतिपाद्यवस्तु मन्तव्य और शैली का इतना अधिक अनुसरण इस स्थापना का अकाट्य प्रमाण है कि उनकी विचारधारा पौराणिक विचारधारा है।'

डा० उदयभानुसिंह की उक्त स्थापना एक देशी है। तुलसीदास निगमागम के साथ पुराणो का नाम लेकर अन्यत्र भी संकेत करते हैं। अन्यत्र व्यापक है जो महाकाव्यों और प्रबन्धो को ही नही कामशास्त्र, अर्थशास्त्रादिक ग्रन्थों की दिशा म विस्तृत हो जाता है। उनकी शैली पर संस्कृतमहाकाव्यो का प्रभाव है न कि पुराणो

तुलसीसाहित्य की वचारिकपीठिका']

की शैली का। पुराणो मे सृष्टि के प्रकारो का वर्णन मिलता है मानस मे कही नही है। वहा मन्वन्तरादिको का वर्णन भी नही मिलता। अन्य बातें जो पुराणो मे हैं वे महाकाव्यो और वेदो मे भी मिलती हैं इसलिए मानस पर वेदादिक के सहित पुराणो का प्रभाव मानना समुचित है, परन्तु पुराणो का ही प्रभाव देखना, दृष्टि की व्यापकता का अभाव है।

गो० तुलसीदास ने सीता को ब्रह्मा की शक्ति, राम की प्रिया, उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करनेवाली, क्लेशहरण करनेवाली, माया की यवनिका धारण करनेवाली, ब्रह्म की अभिन्नशक्ति, बल, वीर्य तेजादिक गुणो मे ब्रह्म के ही समान माना है। वेदान्तदेशिक भी सीता या लक्ष्मी को उपयुक्त विशेषणो से युक्त मानते है। उनके समान धर्मी लोकाचार्य तथा उनके अनुयायी रामानन्द, सीता को नित्य मुक्तजीव मानते हैं। उनके यहाँ सीता शक्ति न होकर दासी है शक्ति जडप्रकृति या माया है।

डा० बलदेवप्रसाद मिश्र तुलसीदर्शन मे सीता को जीव और शक्ति दोनो मानते हैं। उनके अविकल शब्द है– भगवान् से अभिन्न हैं परन्तु फिर भी भगवान् की *लीला मे इनका प्रत्यक्ष भेद देखा जाता है, इसलिए हमने भी जीवकोटि मे रखा है।*" पृ १२१– 'उद्भवस्थिति सहार कारिणी' कह कर विद्यामाया का ही अवतार बताते हैं वरन् क्लेशहारिणी सर्वश्रेयस्करी और रामवल्लभा कह कर शक्ति का प्रतिरूप भी कह देते है। सीता जी भगवान् की परमशक्ति है, क्योकि भगवान् ने– परम शक्ति समेत अवतरिऊँ 'कहा है।' (पृष्ठ १२६)।

उपयुक्तमत से इस अश मे सहमति रखी जा सकती है कि सीता भगवान् की परमशक्ति है और भक्ति का प्रतिरूप भी हैं, किन्तु शक्ति मानकर उन्हे जीव मानना तात्विक दृष्टि से असगत है। ब्रह्म की तरह विभु उनकी प्रिया भी अवतार लेकर, लीला मे भाग ले सकती हैं। पत्नी आश्रित होकर भी पुरुष से बडी मानी गयी है। शक्ति की कल्पना पल्लवित है। सीता को माया लक्षणा स किसी पद मे कहा गया है। जडमाया सर्वश्रेयसविधायिनी नही हो सकती। उन्हे विनयपत्रिका मे *आनन्द घनरूप घन विग्रह कहा गया है।*

डा० माताप्रसाद गुप्त सीता को जडप्रकृति या माया मानकर लक्ष्मी से उत्कृष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न करते हुए लिखते हैं– सीता-ही ब्रह्म की वह माया या मूला प्रकृति है जिससे जगत् का उद्भव उसकी स्थिति और सहार हुआ करते हैं। 'विष्णु को राम की तुलना मे और लक्ष्मी को सीता की तुलना मे जो स्थान देते हैं वैसा कोई भी वैष्णव नही दे सकता–। पृ २६८, ४६६।

यह मत अपूर्ण एव सदोष है क्योकि माया से उद्भव स्थिति और सहार मानना तो उचित है किन्तु माया को कर्त्री नही माना जा सकता, वह जड है।

राम की पत्नी या बल्लभा सीता आह्लादकारिणीशक्ति हैं, वह यवनिका की भूमिका निभानेवाली जडमाया नही हैं। शक्तिशक्तिमान को पृथक पृथक् नही सोचा जा सकता, यवनिका से जीव या ब्रह्म का भेद देखा जा सकता है। वैष्णवो के यहाँ शक्ति और माया म भेद मिलता है, जबकि अद्वतवेदात में शक्ति और माया में तादात्म्य। तुलसी को समझने में यह भूल दुहरायी गयी है कि वे वष्णव नही हैं जबकि अन्तबहिस्साक्ष्य से वे साम्प्रदायिक वैष्णव सिद्ध होते हैं। सीता के आदेश से प्रकृति जगत् का सहार या सृष्टि करती है न कि सीता स्वय प्रकृतिरूपिणी होकर सृष्टि सहार करती हैं। सीता और राम म भेद है ही नही, प्रकृति से स्वगत भेद है। सीता राम के साथ एकरस हैं प्रकृति क्षण क्षण बदलने वाली है। लक्ष्मी त्रिदेवियो के साथ सकुचित एश्वय से सवत्र गिनी जाती हैं। इनसे पृथक पूर्णशक्ति। सीता तीनों से पृथक ही पूर्ण हैं जिसे तुलसी और देनिक दोनों मानते हैं।

पद-टिप्पणी

१-त मु क ३।८, २-वही ३।६, ३-देवना श्लो १, ४-त मु क ३।६, ५-र गद्य, ६-पा स १४।१, ७-वही १५।३० ८-रा मा मु ३८।२, ९-वही बा श्लोक ५ १०-वि प प ५० ११-रा मा किष्कि १२-वि प प ६१।६७ १३-वही पद ६१ १४-रा मा किष्कि १६।७ १५-वि प प ५७ ६१,६३, १६-रा मा किष्कि ११।१, १७-वि प प ५६ १८-रा मा ल १४।२ १९-वही बा १८४।५, २०-वही अयो २१-वि प प ५४, २२-रा मा ल १४, २३-त मु क ३।२५, २४-रा मा अरण्य ३।१८ २५-वही १०।११, २६-वही १५।७ व छ ६ २७-वही १।७।२, २८-वही अरण्य ३।१०, २९-वही छद २, ३०-वही उत्तर ३।१७ ३१-वही बा १४८।७ ३२-वही बा १२।३ ३३-वही अरण्य छ ३।५ ३४-वही बा ११५।५ ११६।६, ३५ वही १४७।५ तथा वि प प ३६-रा मा का क पृ १७७, ३७-रा मा बा १८७, ३८-वही अयो १२६ ३९-वेदान्त सार, ४०-तिरुपावै, ४१-रा मा अयो १०२।१, ४२-पा सहस्र, ४३-रा मा बा ११५।१ ८

— ० —

श्री ।

चतुर्थ सोपान

आचार्य वेदान्तदेशिक और तुलसी का

जीवात्म विचार

आत्मा संसार के दार्शनिकों के लिए रहस्य का विषय रहा है। भारत में त्रिकालदर्शी ऋषियों ने आत्मसाक्षात्कार, इसका स्वरूप- निरूपण रहस्यात्मक भाषा में किया, अतः द्वैत अद्वैत और द्वैताद्वैत की मान्यताएँ आत्मा के विषय में आयीं। अद्वैत के अनुसार आत्मा एक ही है माया के कारण अनेक आत्माओं के रूप में वह भासित हो रहा है। इसलिए जीवात्मा प्राज्ञ,[1] चिदाभास, चित् प्रतिबिंब,[2] संवित् विज्ञानमयकोश प्रमातधर्मविच्छिन्नचैतन्य आदि नामों से कहा जाता है। परन्तु जहाँ अद्वैतमत की उपेक्षा हुई वहाँ अनेक आत्माएँ मानी गयीं और वहाँ जीवात्मा,परमात्मा में स्वगतभेद या स्वरूपतः भेद भी स्वीकृत हुआ। परमात्मा को ईश्वर विभु शासक कल्याणविधायक और ब्रह्म सभी ने माना, परन्तु जीवात्मा के स्वभाव के विषय में मतैक्य का अभाव रहा। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि दर्शन जीवात्मा को भी विभु मानते थे परन्तु वेदान्तियों ने सर्वसम्मति से इसे अणुपरिमाणी[3] स्वीकार किया। प्रश्न उठता है केवल वेदान्तियों ने ही जीव को अणु क्यों माना ? उत्तर में कहा जाता है कि वेदान्ती श्रुतिप्रमाण पर विशेष बल देते हैं। प्रत्यक्ष (संहिता) और परोक्ष (ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद्) श्रुतियों में इसे अणु ही बताया गया है इसलिए ऐसा करना उचित है। अन्य तान्त्रिक आगमों पुराणों धर्मशास्त्रों तथा महाकाव्यों में भी श्रुतियों की तरह जीव को अणु बताया गया है।

यह जीवात्मा आराग्रमात्र-परिमाण पुरीतत नाड़ी में शयनवर्ती महत् परिमाण से सर्वथा भिन्न स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्द स्वरूप[4] ही है। कुछ दर्शनों में अणु को प्रत्यक्ष का विषय नहीं माना गया। परन्तु वेदान्तशास्त्र अणु को प्रत्यक्ष मानता है। इसे बाह्य इन्द्रियों से भिन्न माना जाता है। क्योंकि वे (इन्द्रियाँ) अनेक हैं जीवात्मा प्रत्येक शरीर में एक एक है। ज्ञानेन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता क्योंकि उनका विषय नियत है। मन भी इसे नहीं माना जा सकता अतः मन श्रुतियों में करण बताया गया है आत्मा ज्ञान का कर्त्ता है। इसे बुद्धि भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह नश्वर है इसलिए प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा। आत्मा माया का विकार या भ्रान्ति भी नहीं है कारण की माया का बाध होता है, जीवात्मा का नहीं।

यह परमात्मा का अंश है जो नित्य है। इसे सुख दुःख का भोक्ता बन्ध मोक्ष का विषयी तथा गतिमान माना जाता है। इसकी व्यावर्तक जाति है क्योंकि जीव अनेक हैं। प्रत्येक जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। आत्मा स्वतः सुखी है जागतिक दुःख उपाधिवशात् अनुभव करता है शरीरादि का अनुभव यह स्वभावतः करता है

किन्तु अनानवशात् प्रकृति के सम्पर्क में पडकर ब्रह्मानन्द या ईश्वरानन्द को भूल जाता है। जीवो को दो भागों में विभक्त किया जाता है— ससारी और असंसारी। सुख-दुःख का भोक्ता, पापपुण्य का कर्त्ता, ससारी जीव होता है। असंसारीजीव कैवल्य या ब्रह्मसुख का भोक्ता, ससारी से सर्वथा भिन्न माना जाता है। ससारी के भी दो भेद होते हैं— नित्यससारी और भाविससारविरही। असंसारी जीवो की भी दो कोटियाँ हैं— नित्यमुक्त तथा बन्धनमुक्त। नित्यमुक्त सूरि लोग हैं, जो कभी भी बन्धन में नहीं पडते। बन्धन में पडे हुए जब मुक्त होते हैं, तब बन्धन मुक्त कहे जाते हैं। ससारी जीवो की भी अवान्तर कोटियाँ हो सकती हैं, बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु भी स्वर्गेच्छा वाले तथा तद्भिन्न हैं। मुमुक्षु की कोटियाँ भी साधकसिद्धभेद से दो हो सकती हैं। अन्य भी कोटियाँ सम्भव हैं अनवस्थादोष के कारण वेदान्तदेशिक ने छोड दिया है।

गो० तुलसीदास ने भी जीव को शरीर, इन्द्रिय[5] मन[6] प्राण, बुद्धि[7] आदि से परे भगवान् का अंश या अंश सच्चिदानन्दस्वरूप माना है। वह जीव उपाधिकाल-मर्यादातक ही नहीं है, उपाधि के नष्ट होने के बाद भी अंशरूप से ब्रह्म के साथ[8] भासित रहने वाला है। जबतक ब्रह्म की सत्ता है, तभीतक जीव की भी सत्ता है यदि ब्रह्म अनादि अनन्त है, त्रिकालसत्य है, तो जीव भी वैसा ही है। तुलसीदास जी ने साफ शब्दों में कहा है— 'ब्रह्मजीव इव सहजसघाती' अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म और जीव सदा साथ रहने वाले हैं वैसे ही प्रेमी हैं। प्रेम भी जीव की तरह सहज सुख का अधिकारी है। जैसे ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप हैं वैसे ही जीव भी सच्चिदानन्दरूप है। गो० तुलसीदास जी बडे सशक्त शब्दों में अपनी बात पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं—

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतनअमल सहज सुख राशी॥
सो माया बस भयो गोसाईं।[1] बध्यो कीट मरकट की नाईं॥'

ईश्वर का अंश या अंश जीव है। वह सहजरूप में चेतन है शुद्ध है आनन्द-मय है। माया अर्थात् मूला प्रकृति के वशीभूत होकर मर्कट और कीट की तरह बन्धन में पड गया है। वह बन्धन भ्रान्तिजन्य है। जब जीव अतत्त्व में तत्त्व देखना बन्द करेगा, तब उसकी भ्रान्ति दूर होगी। तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में भी कहा है—

(१) दोष दुःख रजनी के जागे ही पे जाहिरे।
(२) तुलसी जो परिहरे तीन भ्रम—सो आतम पहिचाने।[2]

अज्ञानरूपी निशा का प्रभाव स्वप्न से जगने पर ही हटेगा। जो त्रिगुणात्मिकाप्रकृति के भ्रम को छोडेगा वही आत्मा परमात्मा की पहचान करेगा, दूसरा नहीं।'

जीव पर माया का प्रभाव होता है। माया का बन्धन भगवान् की कृपा

होने पर (जीव से) छूटता है। भगवान् मायापति हैं जीव मायाबद्ध होता है। माया से मुक्त होकर ही शुद्ध कहलाता है सभी जीवों पर माया का प्रभाव नहीं है। नित्यमुक्तजीव हनुमानादिक हैं। वे लीला म भाग लेते है। तुलसीदास जी कहते हैं—

नाथ जीव सब माया मोहा, सा निस्तरइ तुम्हारे छोहा।
अतिशय देव तुम्हारेइ माया, छूटइ राम करहि जो दाया॥

हे नाथ जीव तुम्हारी म या से मोहित होता है, वह तुम्हारी कृपा से माया से मुक्त हो पाता है।

शिव विरंचि कह माहई को है बपुरा आन।

यह माया शिव विरंचि जैसे देवताओं को भी मोहित करती है। अन्य कौन है, जो माया से बच पायेगा।

जीवों को मानस रोग होता है जिससे सभी दुखी होते हैं। यह मानस रोग तुम्हारे भक्तों का नहीं होता।

व्यापहिं मानस–रोग न भारी।
जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥ उत्तरकाण्ड।

जीव को इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण और शरीर मिलकर बन्धन म रखते हैं। उसे अस्वरूपानुभूति म बाँध डालते हैं। विषयों की तरफ आकृष्ट करते हैं —

छोरत ग्रंथि जानि खग राया विघ्न अनेक करइ तव माया।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
विषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥
रा म उत्तरकाण्ड ११७।५।

जीव जब ज्ञान के द्वारा बन्धनमोचन करना चाहता है तब माया के कारण अनेक विघ्न होते हैं। देवता भी जीव का मोक्ष पसंद नहीं करते। वे ऋद्धियाँ सिद्धियाँ देते हैं, इन्द्रियों को हठात् विषयों की ओर प्रेरित करते हैं ज्ञान के दीप को बुझाने की चेष्टा करते हैं। ज्ञान का दीपक किसी प्रकार बुझाकर ही सन्तुष्ट होते हैं। विज्ञान के नष्ट हो जाने पर मोह नहीं कटता बुद्धि विषयों के कारण व्याकुल या चचल हो जाती है। जीव को विषयासक्त बनाकर सत्य के लिए ज्ञानविमुख बना देते हैं। पुन उस स्थिति मे जाना कठिन होता है। जीव हरि की माया म पड़कर विविध कष्ट भोगता है।

जीव अनेक हैं ईश्वर एक है। जीव और ईश्वर म स्वरूपत साम्य है तादात्म्य नहीं है। दोनों म स्वाभाविक भेद है—

जीव अनेक एक श्री कन्ता[10]।
और
माया बस परिच्छिन्न जड। जीव की ईस समान॥

भगवान् एक हैं (अंशी है) उनके अंश ही जीव सत्ता में अनेक हैं जो ईश्वर के समान इसलिए नहीं है कि उनमें माया व्याप्त है। अशुद्ध जीव ईश्वर की तरह सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं है। माया का त्याग कर ही जीव सच्चिदानन्दस्वरूप हो सकता है—

जानत तुम्हइ तुम्हइ होइ जाई।

हे भगवान् तुम्हें जानकर जीव भी तुम्हीं में लीन हो जाता है। आनन्दप्राचुर्य का अनुभव करने लगता है। ब्रह्म में लीन होकर भी जीव जगत् का कर्ता नहीं होता, वह भोगमात्र में भगवान् के तुल्य होता है। ईश्वर और जीव में अंश अंशी भाव बना रहता है।

डा० मानाप्रसाद लिखते हैं— जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर भेदभ्रम और तज्जनित (समृति) दोनों नष्ट हो जाते हैं—

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥ ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर जीव स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[11]

डा० गुप्त वास्तव में गो० तुलसीदास जी की उक्तियों का ध्यान न रखकर अद्वैतवादी उपमाओं के बल पर ब्रह्म और जीव में अभेद देखते हैं। माया या प्रकृति के व्याख्यान में बताया जायेगा कि जगत् को सत्य बतानेवाले भी उसी प्रकार की उपमाएँ सनातनकाल से व्यवहृत करते आ रहे हैं, जैसे अद्वैतवादी। पदार्थविभाजन में भी मौलिक भेद तत्त्व का है, पदार्थों का नहीं है। यदि ब्रह्म ही जीव है और माया के कारण जीव बना है या जीव शुद्ध होकर ब्रह्म हो जाता है तो तुलसीदास जी की उक्तियाँ—

(१) जीव की ईश समान— रा मा उ० ११९।ख।
(२) ईश्वर अंश जीव अविनाशी— रा मा उ० ११६।२।
(३) ब्रह्म जीव इव सहज सघाती। रा मा बा० १९।४।
(४) प्रिय लागहु मोहि राम— रा मा उ०— १३०।क।

—व्यर्थ हो जाएँगी। तुलसीदास जी त्रिकालदर्शी सिद्ध थे, प्रकाण्ड पण्डित एवं शुद्ध विवेकी थे उनमें विरोध या विरोधाभास पैदा करना किसी के लिए उचित नहीं है। तुलसीदास जी आगे कहते हैं—

तजि माया सइअ परलोका। मिटहिं सकल भव सम्भव सोका॥ रा मा कि काण्ड २२।२

माया का त्याग कर परलोक का सेवन करने पर भी सांसारिक शोक समाप्त हो जाते हैं।

गो० तुलसीदास अद्वैतवाद की मुक्ति की उपेक्षाकर परलोक शब्द प्रयोग में लाते हैं। परलोक में भी सेवा शब्द की उपयोगिता बताते हैं, और निश्चयत कहते हैं कि संसार का शोक नहीं रहेगा। शोक दुःख के प्रध्वंसाभाव में सुख का भाव स्वतः

[11] तुलसीसाहित्य की वैचारिकपीठिका ']

सिद्ध होगा। अह ब्रह्मास्मि मे ही ब्रह्म हू की अनुभूति अशाशी भाव मे रहनेवाला जीव भी करेगा—मैं पूरा का ही अश हू, इसलिए मैं भी पूरा या ही हूँ औपचारिक रूप से पूरा हूँ। वेदो म स्पष्ट कहा गया है मोक्ष ज्ञान के बिना नहीं हो सकता ज्ञान होने पर ही ईश्वर में विश्वास बढता है। भक्ति दृढ होती है। गो० तुलसीदास भी वेदान्तदेशिक की ही तरह कहते हैं —

धम ते विरति योग ते ग्याना। ग्यान मोक्षप्रद वेद बखाना ॥

धम से वैराग्य होता है वराग्य से ज्ञान ज्ञान योग स होता है ज्ञान होने पर मोक्ष और भक्ति दोनो मिलते हैं। भक्ति से पराभक्ति समझना चाहिए। भक्ति ज्ञानका साधन और उनके साध्य दोनो है। इसीलिए मुनि लोग योग का भरोसा छोड कर भक्ति पर आश्रित रहते हैं।

जीव की कोटियाँ

गो० तुलसीदास भी वेदान्तदेशिक की तरह मुख्य दो कोटिया से सहमत है—ससारी और असंसारी। असंसारी जीवो मे नित्यमुक्त हनुमान् शेष आदि जीव, सूरिगण हैं जो भगवान् की लीला म सदा साथ रहते हैं दूसरे वे जीव है, जो ससार से मुक्त हुए हैं उन्हे तुलसीदास जो सिद्ध कहते हैं। ससारी जीवो की भी श्रेणियाँ—बुभुक्षु और मुमुक्षु बताते हैं। मुमुक्षु जीव साधक हैं बुभुक्षु जीव विषयी हैं। साधक भी कई प्रकार के है कवल्यसाधक और मुक्तिसाधक प्रधान रूप से हैं। कवल्यसाधक से भक्तिसाधक उत्कृष्ट हैं। ससारी जीवो मे भी स्वग सुखाभिमानी पुण्यकमपरायण तथा नक दु ख परायण अशुभकम करनेवाले जीव है। नारकीयजीव हेय हैं। जायस्व म्रियस्व, भोगपरायण मृत्युलोक के जीव मध्यम और स्वग-सुख का अनुभव करनेवाले ससारी जीवो म उत्तम हैं। गोस्वामी जी के ही शब्दो मे—

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने ॥

त्रिविध जीवो म ही चतुर्विध जीवो का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि अन्तर्भाव न भी मानें तो भी ससारी असंसारी-की कोटि म कोई भेद नहीं है।

जीव की अवस्थाएँ

वदिक साहित्य मे जीव की तीन अवस्थाएँ बतायी गयी है जो सामान्य हैं चौथी अवस्था को तुरीया या ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। जाग्रतावस्था म जीव विश्व कहलाता है। इस अवस्था मे वह शरीर के विभिन्न कंचुको के साथ रहकर ससार के विषयो व्यवहारो और कार्यों का अनुभव करता है। इसे बहिष्प्रज्ञ इसलिए कहा जाता है कि उसकी बुद्धि बहिर्मुखी हो जाती है। स्वप्नावस्था दूसरी है जिसम जीव बहिर्विषयो से सम्पक शून्य हो जाता है। अनुभवकर्ता होने के कारण इस अवस्था म पडे जीव को तजस कहा जाता है। जाग्रतकाल मे देखे गये विषयो के द्वारा उत्पन्न वासना से निद्राकाल मे, जो प्रपच प्रतीत होता है वह स्वप्नावस्था है। सुषुप्तावस्था

मे पडा जीव प्राज्ञ कहलाता है । इसमे जीव बुद्धि से युक्त होता है । प्रकृति जो अव्यक्तावस्था मे है इसका शरीर है। इसके शरीर को कारण शरीर कहते हैं क्योंकि शरीर के शेष अगों का कारण यह शरीर है। प्राज्ञ का अर्थ इषत् अज्ञ अथवा अय बद्ध जावों की अपेक्षा प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। इस अवस्था मे जीव को ससार का भान नहीं होता। स्थूल सूक्ष्म प्रपच इसके विषय नहीं बनते। तुरीयावस्था में जीव ससार से मुक्त हो जाता है। ईश्वर म लीन होकर रमण करता है। वह इच्छा के अनुसार वकुण्ठ म या अतर्यामी के साथ नित्यानन्द का भोग करता है।

यह चार अवस्थाएँ जीव और ब्रह्म दानो की हैं। जिस प्रकार जीव जाग्रत स्वप्न सुषुप्त तथा तुरीयावस्थाओ म पाये जाते हैं ब्रह्म भी ऐश्वय सकोच से चतुर्व्यूह-रूप मे रहता है। वे जागृत म अनिरुद्ध स्वप्न म सकर्षण सुषुप्त म प्रद्युम्न तथा तुरीयावस्था मे वासुदेव रहते हैं। राम ब्रह्म हैं षडश्वययुक्त हैं, इसलिए तुरीयावस्था मे हैं। राम ही वासुदव हैं। राम ही प्रद्युम्न सकर्षण और अनिरुद्ध भी हैं रामानुजाचाय और वेदान्तदेशिक दोनो इसे स्वीकार करते हैं। तुलसी ने प्रसिद्ध दोहों म कहा था—

(१) तीन अवस्था तीन गुण तेहि कपास ते काढि।
तूल तुरीय सवारि पुनि बाती करइ सवारि ॥ रा मा उ० ११७

(२) जीव सीव समृद्ध सुख, शयन सपने कछु करतूति।
जगत् दीन मलीन सोइ बिन्न विषाद विभूति ॥ दोहावली—२४६।

गोस्वामी तुलसीदास ने चारो अवस्थाओ का वणन लक्षणसहित उक्त दोहा मे किया है। ब्रह्म को तुरीय ही कहा है। इसका कारण यह है कि पाठक को वे मायावाद की भ्राति से बचाना चाहते हैं। जो तत्त्व चार हैं उन्हें अद्वैतवादी व्यावहारिक या पारमार्थिकरूप म स्वीकार करते हैं वेदान्तदर्शिक दोनो को पारमार्थिक मानते हैं। यही दोनो सिद्धान्तो में मौलिक भेद है।

डा० उदयभानुसिंह के अनुसार उपनिषद् की उपयुक्त मान्यता तुलसी को अमान्य है क्योंकि ब्रह्म और जीवात्मा का सवथा अद्वैत उन्हें मान्य नहीं है। वे जीव की चार अवस्थाएँ तो मानते हैं परन्तु राम की नहीं, क्योंकि राम सभी आवरणों से परे हैं अत वे कोशावच्छिन्न नहीं हो सकते। तुरीयावस्था म जीव राम का स्वरूप तो पा लेता है किन्तु शक्ति नहीं। सोऽह बुद्धि और दासोऽह बुद्धि के अनुसार उसकी स्थिति म भेद भी हो सकता है।' तु० द० मी० पृ० १२८।

उपयुक्त डा० उदयभानुसिंह के मत को इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तुलसीदास श्रुतिपथ से स्वतत्र अपने को नहीं मानते। अमत मानने का अथ ही श्रुति की उपेक्षा है। अमत कबीर और महावीर स्वामी श्रुतिपथ को मानते हैं। तुलसी तो 'हरिसपनिषद तथा रामकथा' दोनों को श्रुतिसम्मत मानते हैं। राम आवरण से परे हैं, परन्तु शक्तिसकोच कर लीला करना उनका स्वभाव है। स्वभाव

का त्याग राम कैसे कर सकते हैं ? चतुर्व्यूह तुलसी को अमान्य है, सिद्ध नहीं किया जा सकता। वेदाव, सकपण, विश्वेश, मुरारी, वामन परशुधर वृष्णिकुलकुमुदराकेश, राधारमण, वामन, अव्यक्त आदि शब्दों का प्रयोग कर ऐश्वर्यवाद तथा व्यूहवाद का ही समर्थन करते हैं। उनके ग्रंथ काव्यग्रंथ हैं दर्शन के वादग्रंथ या सिद्धान्तग्रंथ नहीं जहाँ सभी बातें क्रमबद्ध मिलें। बहुत से तथ्य सर्वमान्य है जो छोड़ भी दिये गये हैं। कोश केवल जीव के ही हैं ईश्वर के नहीं। उपनिषदों मे कोश भगवान् के नहीं है। जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध अपृथक् सिद्ध है इसलिए उपचारत ईश्वर के भी कोश हैं। ब्रह्म का शरीर आत्मा कहा गया है और आत्मा के शरीर ही कोश हैं इसलिए आत्मा के कोश भी परम्परासम्बन्ध से हैं।

शरीर दो प्रकार के हैं– दिव्य और अदिव्य। अदिव्य–शरीर प्राकृत होता है कोश इसी शरीर मे होते हैं। कोशों की संख्या पाँच हैं। अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनन्दमय। स्थूलदेह अन्नमयकोश है। यह अन्न के कारण दुर्बल या पीन होता है। अन्नमयकोश से सूक्ष्म प्राणमयकोश है। यह अन्यतमकोश है। यह अन्नमय कोश को प्रेरित करता है। इसमे कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचो प्राण ही रहते हैं। प्राणमयकोश से सूक्ष्म मनोमयकोश है। इसका नियन्त्रण उस पर होता है। बुद्धि मन चित्त और अहंकार वृत्ति विशेष हैं। कारण की दृष्टि से ये बुद्धि के धर्म हैं परन्तु परिणाम की दृष्टि से ये पर्याय हैं। अद्वैतवेदान्त मन बुद्धि अहंकार तीनों के धर्म पृथक् मानता है *विशिष्टाद्वैत इसका विरोध करता है। संकल्प विकल्प* और अहंप्रत्यक्ष बुद्धि के ही धर्म हैं मन के नहीं। मन बुद्धि चित्त ज्ञान की दृष्टि से एक ही पर्याय है। ज्ञानेन्द्रिया सहित मन मनोमय कोश है। उसकी विशेष वृत्ति विज्ञान है। उस वृत्ति से युक्त को विज्ञानमयकोश कहा जाता है। इसमे प्रकृति सूक्ष्मतर स्थिति मे विद्यमान रहती है। इससे सूक्ष्म किन्तु ब्रह्मानन्द से अवर प्राकृत्यक तत्त्व आनन्दमयकोश है। उपनिषदों मे स्पष्ट उल्लेख होने के कारण ये अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों को मान्य हैं परन्तु विज्ञानमय और मनोमयकोश के विषय मे मतभेद है। तुलसीदास ने अपने ग्रंथों मे कोशों की संख्या नहीं गिनायी है इसलिए शांकरमत के कोशों की मान्यता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। बुद्धिवृत्ति को विज्ञानमय बताकर रामानुजी परम्परा की तरफ अपना झुकाव दिखाया है यह दार्शनिक दृष्टि से वेदान्त दर्शन के निकट है। इन्हें कोशों के विषय मे दो तीन स्थानों पर स्पष्ट उल्लेख करते देखा जा सकता है

विविध मार्गोध अतिरुचिर मन्दिर निकर।
सत्त्व गुण प्रमुख त्रय कटक कारी ॥ विनय पत्रिका ५२।२
एहि विधि लेस दीप तेज राशि विज्ञान मय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब ॥ रा मा उ० ११७।घ।

आतम अनुभव सुख सु प्रकाशा। तब भव भूत भेद भ्रम नाशा ॥

तुलसीदास जी कोशो की मान्यता स्वतन्त्र नही रखते। उनके तथा विशिष्टाद्वैतियों के कोशों की संख्या तीन ही स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय। मनोमय के ही अवान्तर भेद विज्ञानमय और आनन्दमय है। तुलसी साहित्य के मन्थन के पश्चात् डा० बलदेव प्रसाद मिश्र ने जो निष्कर्ष निकाला है—'सिद्ध लोग तो सिद्ध है ही उनके लिए भक्तिशास्त्र का प्रयोजन ही क्या ? साधक लोगों को ही तुलसीदास जी राम कथा का अधिकारी मानते हैं।'[12] निर्दोष नही कहा जा सकता। कारण कि पराभक्ति के साधक या सिद्ध रामकथा प्रीतिपूर्वक सुनकर श्रीमद्भागवत महापुराण और गीता के अनुसार प्रसन्न होते हैं और क्रीडा करते हैं। दूसरी बात है कि भक्तिशास्त्र केवल साधनभक्ति तक ही सीमित नही है। इसका विस्तार साध्यभक्ति तक हैं जो ज्ञानपूर्वक होती है। मधुसूदन सरस्वती भी इसे भक्तिरसायन मे स्वीकार करते है। वैष्णव भी एक मत होकर ज्ञानपूर्वक पराभक्ति मानते हैं।

उपर्युक्त जीवात्मविवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्तदेशिक और तुलसी दानो ही आचार्यों पर वेद, स्मृति पुराण, तन्त्र और आगमो का प्रभाव अधिक है। संयोग से दोनो समान तन्त्री विद्वानो मे इतना साम्य है कि यह मानना पडता है कि तुलसीदास वेदान्तदेशिक से जीवो के स्वरूप एव धर्म मे ही नही कार्यनिर्धारण मे भी प्रभावित जान पडते हैं। प्रभावित होने का अन्य कारण समानसाधनापद्धति और गुरुपरम्परा भी है। प्रभाव का भाव अन्धानुकरण न होकर विवेकसम्मतसहमति मात्र ही है।

पद-टिप्पणी

१-अविद्या वशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा, सा कारण शरीर स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमान वान्॥ पचदशी १ १७। २-वेदान्तपरिभाषा पृ १४२ १४५ ३-बालाग्रशत भागस्य० श्वेता ५।६ ४-न्या सि पृ २६१, ५-रा मा उत्तर १०८क ११ ६-वही ११६।१२, ७-वही११७ ८-ब्रह्मजीव इव सहज सघाती रा मा १।१६।४, ९-वि प प १११ १०-रा मा उत्तर ७७ ख ७ ११-तु दा पृ ४०३ १२-तु द पृ २३

— ० —

श्री।

पचम सोपान

आचार्य वेदान्तदेशिक और तुलसी का

प्रकृति एवं माया निरूपण

माया शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य म चिरतनकाल स अनेक अर्थों मे होता आ रहा है। उपनिषदो म ही प्रकृति[1] भ्राति तथा मिथ्या के अर्थों म माया का व्यवहार मिलता है। माया अज्ञान की जननी मानी जाती रही है। वह अद्वत वेदात के अतिरिक्त अन्य मतो म विद्या और अविद्या दोनो का मूल[3] समझी जाती है। शुद्धाद्वतवेदात शकराचाय की माया की तरह इसे जड मानता है परन्तु अद्वत की तरह सवथा असत्य न मानकर इसकी नित्यसत्ता स्वीकार करता है। अद्वतवेदात जगत् को व्यावहारिक सत्य (माया के काय की दृष्टि स सत्य) मानकर तात्त्विक दृष्टि से असत्य मानता है क्योकि वह रामानुज और निम्बाक की तरह स्वगत भेद भी नही अगीकार करता। काय की दृष्टि से उसके कारण का अनुमान कर तत्त्व की स्थिति म स्वीकार न कर उसके स्वरूप को अनिवचनीय[4] बताना अद्वतवाद का सद्धान्तिक पक्ष है। उसके यहाँ माया प्रकृति[5] और शक्ति पर्याय है। सीता अद्वतमत से माया हैं राम ब्रह्म। वह माया को अविद्या मानता है परन्तु विद्या को माया का परिणाम या भेद मानने को उद्यत नही है।

जगत् को मिथ्या सभी दार्शनिक बताते है क्योकि वह सतत परिवतनशील है परन्तु जगत् का कारण प्रकृति या माया मिथ्या नही है। वस्तुत प्रकृति की सत्ता तक और श्रुति दोनो प्रमाणो से सिद्ध है। वेदान्तदेशिक के अनुसार माया[6] को ही प्रकृति माना जाना चाहिए, क्योकि अथवणश्रुति का इसम विरोध नही है। माया और प्रकृति को पृथक मानना प्रमाणविरुद्ध है। इसे मान लेने पर वेद पुराण स्मृति आगम और साख्यशास्त्र की प्रामाणिकता की रक्षा होती है और तार्किक दृष्टि स पुद्गल वाद और परमाणुवाद की अपेक्षा इसम लाघव है। यह प्रकृति[7] साख्य के विकारो सहित, माय है परन्तु किंचित् सशोधन के साथ। यहाँ प्रकृति गुणस्वरूप[8] न होकर गुण अधिकरण है साख्य गुणस्वरूप मानता है। साख्य बुद्धि[9] अहकार और मन[10] पृथक पृथक वत्ति वाला मानता है। उसका भी त्याग कर मनकी वत्तियो में ही भेद को अन्तर्भूत कर लेना चाहिए। विकार की दृष्टि स कारण काय भाव के पूर्वापररूप मे वह मान लेना चाहिए। साख्य पचीकरण नहीं मानता है। वेदान्तदेशिक को भी यह स्वीकाय है। शकराचाय मन बुद्धि अहकार आदि के सघात को जीव[11] मानते है या परमात्मा के प्रतिबिम्ब को परन्तु वेदान्तदेशिक नित्यचेतन को जीव मानते हैं जो माया से भिन्न है। अद्वतवाद जडवस्तु को ही जीव मानता है क्योकि उनके यहाँ

तत्वत अद्वैत स्वीकृत है। उपाधि या जड एक वस्तु ही अद्वैत मे स्वीकृत है। वेदान्तदेशिक माया के दो भेद विद्या और अविद्या मानते है, शकर[12] नही मानते। वे व्यवहार म माया और विद्या को परस्पर विरोधी तत्त्व मानते हैं। वेदान्तदेशिक के मत से मिथ्याभूतजागतिकविहरणसामग्री तथा विहरण दोनो को सत्यरूप म दर्शन करती हुई अविद्या[13] भी माया है तथा उसका उच्छेद भी स्वय करानेवाली विद्या भी माया ही है। सुख जनकता अविद्या म भी विद्या की तरह ही है। वेदान्तदेशिक तथा निम्बार्क शक्ति और प्रकृति को पृथक् मानते हैं। शक्ति से तात्पर्य ब्रह्म के स्वरूप निरूपकधर्म से है, जो चेतना है, प्रकृति का अर्थ स्वभावनिरूपकतत्त्व से है जो जड पदार्थ है। शक्ति शक्तिमानभाव स्त्री पुरुष की तरह अविनाभावसबध या परस्पर उपकार्यउपकारकभाव से है परन्तु जड प्रकृति जीव और शक्तिशक्तिमान के बीच आवरण रूप म है। वेदान्तदर्शिक के यहा सीता शक्ति हैं परन्तु जडप्रकृति नही। शकर के यहा सीता ब्रह्म नही है, माया है, जो निर्वचनीय न होकर जगत् का कारण है। शुद्धाद्वैत[14] प्रकृतिमाया और अविद्या का प्रयोग सीमित अर्थ मे करता है—जीव से भिन्न जडपदार्थ का सम्बन्ध हो, वह प्रकृति अविद्या है अक्षर ब्रह्म का जिससे सम्बन्ध है वह अविद्या और कृष्ण की प्रकृति को माया कहता है। विशिष्टाद्वैत ऐसा कोई भेद नही मानता। ससार को मोहनेवाली मोहरूपा और मोहमयी ही माया है। माया और ब्रह्म का ज्ञान है। माया अपावृत्त होते ही स्वरूपत नष्ट नही होती, शकराचार्य के यहा नष्ट हो जाती है।

गो० तुलसीदास ने अपने ग्रथो म माया शब्द का प्रयोग पुष्कलरूप से किया है। माया शब्द का प्रयोग वदिककाल से ही होता आ रहा है केवल शैव, शाक्त और अद्वैतचिन्तक ही इसका प्रयोग नही करते। ससार की नश्वरता सवमान्य तथ्य है। उसकी तुच्छता म किसी भी दार्शनिक का सन्देह नही है। तुलसीदास जी माया को भगवान का उपकरण बताते हैं। उनकी जगत् लीला मे सहायिका होकर उनकी इच्छा से ही जीव को मुक्त करती हैं। विनयपत्रिका मे तुलसीदास जी स्पष्ट करते हैं—

'माधव अस तुम्हारि यह माया।

करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।' पद ११६

वह माया भ्रम[15] पैदा करती है। इससे असत्य का भान होता है जो सत्य प्रतीत होता है। जगत् परिवर्तनशील है जीव का उससे कोई सम्बन्ध नही है ब्रह्म का सम्बन्ध स्वस्वामिभाव से हैं परन्तु जीव इस अपना समझ लेता है। यही असत्य का भ्रम है। यह माया के कारण है। जब तक राम की कृपा नही होगी, ससार का भ्रम नही छूटेगा। इस माया की आसक्ति और सम्बन्ध सहज नही है, आगन्तुक हैं। ससार भी नश्वर है फिर भी यह भ्रम[16] की तरह सत्य प्रतीत हो रहा है। स्वप्न मे रोग हो जाने पर वैद्य की दवा काम नही करती। जागने पर वह रोग अपने

श्राप शान्त हो जाता है। जीव को जडचेतन का विवेक हो जाने पर (स्वरूप ज्ञान हो जाने पर) अर्थात् भगवान् की नित्य भक्ति हो जाने पर, पीडा जो भ्रान्ति जनित है (माया के प्रपंच जनित है) वह स्वत शान्त हो जाती है। माया को तुलसीदास जी ने कपटरचनापटीयसी[17] भी माना है। उसका यह कपट नहीं व्यापता, जो भगवान् के भरोसे रहता है।

यह माया जीव के साथ देहरूप मे है। जीव इससे बधा है। यह जब देह के विकारो से विरक्त होता है तभी स्वरूप मे अनुरक्त रहता है।

देहजन्य मोह लोभ काम क्रोध इत्यादि विकारो को छोडकर भी वह परमात्मा से अनुराग करता है। जीव का स्वरूप परमात्मा ही है जीवात्मा नही क्योकि वह गुणयुक्त में परमात्मा का जीव का स्वरूप बताया गया है। जीव म सन्तोष दम सम बुद्धि निर्मलता और एकत्मत्व मतिनावस्था म ही होते। भगवान् सगुणरूप[18] मे मायाविशिष्ट नही हैं मायापति और शुद्ध हैं [19] उनका अनुग्रह उसपर है। उनके सम्मुख माया की कुछ भी नही चलती —

सुनु अदभ्र करुणा वारिज लोचन मोचन भय भारी।
तुलसीदास प्रभु तव प्रकास बिनु संशय टरै न टारी॥

यह माया केशव[20] की इच्छा से सृष्टि करती है जो जीव म भ्रम पैदा भी करदेती है। इस जगत् की रचना का समुचित निरूपण कठिन है कारण कि चिर स्थायी नही है परिवर्तनशील है। शून्यभीति पर (आकाश मे) बिना रंग का (परिवर्तन के कारण स्थायीरूप प्रतीत न होने के कारण) चित्र अशरीरी चित्रकार ने लिखा है। यह चित्र है परन्तु किसी भी प्रयत्न से मिटता नहीं। और जीव को विविध प्रकार का भय और दुख देता है। मृगमरीचिका म जगत है। इसका वर्णन करना जाता है उसे काल या ज्ञान नष्ट कर देता है (जैसे बिजली सर्प) इसे कोई सत्य कहता है कोई झूठा कहता है कोई किसी दृष्टि से सत्य और असत्य दोनो मानता है। तुलसीदास जी के मतानुसार तीन का भ्रम अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया प्रकृति या अज्ञान का भ्रम तभी मिटेगा जब परमात्मा की पहचान हो जाएगी।

तुलसीदास जी माया के कार्य को मृषा, असत्य तुच्छ या हेय मानते हैं, माया को असत्य नही मानते —

जद्यपि मृषा सत्य भासै'

यह जगत् यद्यपि क्षणस्थायी है मृषा है फिर भी प्रवाहरूप मे सत्य ही प्रतीत हो रहा। [21] जगत् जो प्रकृति का कार्य है वह नश्वर है जैसे बादलो द्वारा बनाया गया बाग, बादलों[22] या धुवाँ द्वारा बनायी गयी मीनार, जैसे स्वप्न की सम्पत्ति स्वप्न का रोग। ये अज्ञानी को सत्य प्रतीत होते हैं विचारक को धूम या बादल।

। माया जीव को ही मोहनिद्रा मे रखती है। अज्ञान की नींद मे पडकर ही जीव जगत् की पीडा को भोगता है। यह पीडा शाश्वत नही है अस्वाभाविक है, जसे, रस्सी का साँप स्मृतिवशात् अभेदज्ञान से कष्ट देता है, या नींद के सपने जाग्रत काल की वस्तुओ की कल्पना से ही बनते है, परन्तु प्रबोध न होने से दुखद होते हैं। वास्तव में विषयों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह अस्वाभाविक (नश्वर, क्षणिक) दुख जागने पर ही जाएगा। यह दुख जीव का स्वरूपत नही है। वह आनन्द अधिकरणक है। माया और शक्ति मे भेद है। शक्ति[23] भगवान् की प्रिया[24] है। माया यवनिका।[25]

डा० माताप्रसाद जी लिखते हैं सीता ही ब्रह्म की वह माया या मूला प्रकृति है जिससे जगत् का उद्भव उसकी स्थिति और सहार हुआ करते हैं। वास्तव मे गो० तुलसीदास जी सीता और माया म उसी प्रकार भेद मानते हैं जिस प्रकार ब्रह्म और प्रकृति म मानते हैं। प्रकृति ही माया है जो सीता या राम की इच्छा से भृकुटि के सकेत से सक्रिय होकर जगत् की सृष्टि स्थिति, विनाश करती है। सीता सर्वश्रेयस्करी हैं प्रकृति की तरह बन्धन करी नही है। माया दासी है, सीता वल्लभा हैं। माया को नतकी कहकर तुलसीदास जी ने उसकी हीनता दिखायी है। सीता गृहिणी हैं। वह योगमाया नही है शक्ति हैं। योगमाया मूलाप्रकृति है मोह या तम। सीता तो ब्रह्म ही हैं जो शब्द और अथ की तरह अभिन्न हैं, व्यवहार म लोग उन्हें भिन्न कह देते हैं। जहाँ जानकी को जगदीश[26] की माया कहा गया है वहाँ माया का योगज या योगरूढ अथ शक्ति लेना चाहिए या मायाशरीरकब्रह्मशक्ति। सीता जड नहीं है आह्लादमयी साररूपब्रह्म है।

डा० मल्लिकमुहम्मद सीता जी को नारायण से अभिन्न मानकर और शक्ति मानकर भी अणु जीव मानते हैं— यद्यपि श्री जीवकोटि म हैं तो भी वे नित्य हैं मुक्तजीव हैं। उनको नारायण के साथ विभवावतार म अवतरित होना पडता है। यह श्रीराम के साथ विभवावतार मे भी सीता (हैं)। वैं भ आ अ पृ ४२९

डा० साहब के मत का विस्तृत विवचन हो चुका है। वास्तव म यह लोकाचाय के मत का अनुवाद है। अणुजीव (श्री) विभुशक्ति नही हो सकता। गो० तुलसी और श्री वेदान्तदेशिक दोनो ही शक्ति मानकर अभिन्न और सम अर्थात् दोनों को ब्रह्म मानते है।

यह माया असत्य नही है यह भगवान् का अश है भगवान् के अलकरणरूप म है इसीलिए गोस्वामी जी विनयपत्रिका मे लिखते हैं—

प्रकृति महत्त्व, शब्दादिगुण, देवता व्योम मरुदग्नि, अमलाबु उर्वी।
बुद्धि, मन इन्द्रिय प्राण चित्तात्मा, काल परमाणु चिच्छक्ति गुर्वी॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपालमणि, व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदश, कामारि वन्दित, पदद्वन्द्व मंदाकिनी-जनक विष्णो॥

आदिमध्यात, भगवत ! त्व सवगतमीश, पश्यति ये ब्रह्मवादी ।
यथा पट-तन्तु घट मृत्तिका, सप स्रग, दारु करि, कनक कटकांगदादी ॥ पद ५४

हे विष्णो (राम) प्रकृति का व्यक्त अव्यक्तरूप तथा चेतना तुम्हीं हो, अव्यक्त, मूला प्रकृति है। व्यक्तरूप महत् अहकार तन्मात्राएँ इन्द्रियाँ मन, और महाभूत हैं, जो प्रकृति सहित चौबीस हैं तथा काल प्राण और परमाणुओं के रूप म अनेक हैं।

यह माया या प्रकृति ही इन्द्रियों का विषय है। जहाँ तक इन्द्रियो से विषय प्रतीत हो रहे हैं सब माया या प्रकृति ही हैं। यह प्रकृति ही ममता की जननी ह। अहकार इसी प्रकृति की प्रसूता है। इसी अहवृत्ति से जो मन म होती है, मैं मेरा तू तेरा का भाव जाग्रत होता है। इस प्रकृति का ही भेद विद्या और अविद्या दो तत्त्व हैं। श्रीरामचन्द्र जी उपदेश देते हुए स्पष्ट करते हैं—

मैं अरु मोर तोर तें माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ।
गो गोचर जह लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥
ग्यान मान जह एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माही ॥
कहिअ तात सो परम बिरागी । तन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी ॥
दो० माया ईस न आपु कहुँ, जान कहिअ सो जीव ।
बध मोच्छ प्रद सवपर, माया प्रेरक सीव ॥ रा मा अर १४,१५

यह माया जीव पर अपना प्रभाव दिखाती है जिससे वह अपने स्वरूप, प्रकृति तथा ईश्वर तीनो तत्त्वो का यथार्थज्ञान नहीं प्राप्त करता। यह प्रकृति ही तीनो गुणो की सहायता से ईश्वर की प्रेरणा पाकर जगत् की रचना करती हैं। वह स्वय स्वतत्र नही है प्रभु के शासन म है। जितनी भी सिद्धियाँ है सब म तीन गुणो की ही रचना है। माया का चक्कर लगने पर जीव का ज्ञान समाप्त हो जाता है। वह सब को ब्रह्म के समान समझने लगता है। ईश्वर माया के सकट म कभी भी नहीं पडता। माया ईश्वर के इशारे पर सृष्टि और विनाश कर देती है—

भृकुटि विलास सृष्टिलय होई । सपनेहुँ सकट परइ की साईं ॥
मरम वचन जब सीता बोला । हरि प्रेरित लछमन मन डोला ॥ वही २७।४

लक्ष्मण जसे तपस्वी और भगवान् क सहचर भी ईश्वर की माया स भ्रमित हो जाते हैं। सीता के ममवचन से आहत होकर अपना कर्तव्य भूल जाते हैं। माया भक्तो पर नहीं रहती। यदि कोई कपटप्रबन्ध भक्त पर किया जाता है तो वह उलट कर करनेवाले पर ही प्रभाव दिखाता है—

माया-पति-सेवक सन माया । करइ न उलटि परइ सुर-राया ॥

काम क्रोध, मोह, मान मद, ममता, मत्सर, शोक, चिन्ता, मन कामना, एषणा, ये सब माया के परिवार हैं। इसके भय से शिव और ब्रह्मा जैसे ज्ञानी जीव भी डरते हैं, अन्य जीवों की क्या स्थिति है—

यह सब माया कर परिवार। प्रबल अमिति को बरनै पारा।
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥ ७०। रा मा उ

अपनी प्रचण्ड सेना के बल पर यह माया संसार में फली हुई है। काम, क्रोध आदि उसके सेनापति हैं और दम्भ, कपट और पाखण्ड बड़े-बड़े भट्ट हैं। यह रघुवीर की दासी है। यह मिथ्या है (तुच्छ है) राम की कृपा के बिना जीव को छोड़ नहीं सकती—

व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥१७२।
सो माया रघुवीर के सम्मुखें मिथ्या सापि। छूट न राम कृपा बिनु, नाथ कहेऊ पद रोपि॥
७१ ख। रा मा उ०।

जो माया सब जग को नचाती है जिसका कपट चरित्र का कोई जीव पार नहीं पाता वह भगवान् के भ्रूसंकेत से अपने समाजसहित नटी की तरह नाचती है। प्रभु रामचन्द्र पर मोह का कारणत्व ही है। वह प्रकृति से परे हैं, सूर्य की तरह है। वहाँ मोहरूपी अंधकार अपना प्रभाव नहीं दिखा सकता।

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ रा मा उ ७१।१

माया का प्रथम कार्य भ्रम पैदा करना है। इसी के कारण जीवात्मा असत् में सत् पदार्थ को देखता है इसका कारण अविवेक है। सत् असत् का विवेक होने पर भ्रम नष्ट हो जाता है। माया विवेक पर इसी लिए आक्रमण करती है कि उसका मिथ्याचार पहचान में न आवे। जिस प्रकार लोक में भ्रम उत्पन्न होते ही दिशा वरण, गति, संख्या इत्यादि की मिथ्या प्रतीति होती है एक चन्द्र दो दिखाई देता है पूरब दिशा पश्चिम मालूम पड़ती है सफेद पदार्थ भी हरा या पीला दिखाई देता है नौका चलने पर भी आरूढ को अचल दिखाई देती है तथा किनारा चलता दिखाई देता है बालक के घूमने पर उन्हें गृह भ्रान्ति घूमते प्रतीत होते हैं वास्तव में नहीं घूमते, उसी प्रकार माया के कारण जो अपना शरीर आदि है अपना ही स्वरूप मालूम पड़ता है। वे भ्रमित लोग आपस में गृह दिक को घूमते बताते हैं जो वास्तव में असत् है।

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥ ७२ ६। रा मा उ

ईश्वर को यह मोह कभी भी नहीं होता। मायावश जो मायावादी जन, बौध कबीरपंथी और अद्वैतवादी हैं जिन्हें स्वतः विवेक नहीं हैं जिनका भाग्य खोटा है जिनके विवेक पर मायारूपी जवनिका लगी है जो स्वभाव से दुष्ट हैं, ये राम के

शुद्ध होने पर संशय करते हैं। वे राम को माया उपहित चैतन्य बताते हैं—

हरि विषयिक असमोह विहगा। सपनेहु नही अज्ञान प्रसगा॥
माया वस मति मद अभागी। हृदय जमनिका बहु विधि लागी॥
ते सठ हठ करि ससय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरही॥ रा मा उ ७२।७ ६

उपर्युक्त पद्य में गोस्वामी जी ने माया को जवनिका बताया है, वरदवल्लभा-स्तोत्र में यामुनदेशिक ने भी ऐसा ही माना है—

वदात्मा विहगेश्वरो यवनिका माया, जगन्मोहिनी।

गरुड वेद स्वरूप है, माया यवनिका है, जो सम्पूर्ण ससार को मोहित करती है। मुक्त या ज्ञानी जीव को माया का कपट प्रभावित नही करता। तुलसीदास जी काकभुशुण्डी जी के मुख से कहला रहे हैं—

सो माया न दुखद मोहि काही। आन जीव इव ससृति नाही॥ रा मा उ ७२।२

ईश्वर और जीव सच्चिदानन्द ही हैं परन्तु जीव अश है, अज्ञानी भी है इसलिए दोनों मे भेद है। यदि जीव को अज्ञान नहीं होता तो स्वरूपत दानो एक जसे ही हैं, केवल अशाशी का भेद है जो नगण्य है। जीव कभी माया के वश म भी रहता है। वह सदा भगवान् के वश मे रहता है परन्तु भगवान् अपने वश म रहते हैं और माया पर भी शासन करते है। वे एक हैं और जीव अनेक हैं। जितने भी भेद हैं— जीव जीव में भेद, ईश्वर जीव म भेद प्रकृति जीव मे भेद प्रकृति के परस्पर विकारों मे भेद और प्रकृति और ईश्वर में भेद (अद्वैतवाद की दृष्टि से भी) वे माया के कारण से ही भ्रान्तिवशात् प्रतीत हो रहे हैं। वस्तुत अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध से शरीर आत्मा-सम्बन्ध से वे सूत्र और मणिमाला की तरह अभिन्न हैं। यह भेद भगवान् की कृपा के बिना जानेवाला नही हैं—

माया वस्य जीव अभिमानी। ईशवस्य माया गुनखानी।
परवश जीव स्ववश भगवता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
मुधा भेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइन कोटि उपाया॥ ७७॥रा मा उ

माया के दो भेद हैं— विद्या और अविद्या। प्रकृति जब तमोगुण प्रधाना होती है तब ज्ञान विरोधिनी व घनदायिनी अविद्या कहलाती है। यही प्रकृति तमोगुण प्रधाना तमोरजोभिभूता होकर ना म सहायिका होती है तब अविद्या कहलाती है। विद्या तत्त्व माया से पृथक नही है जैसा कि अद्वैतवादी दार्शनिक मानते हैं तुलसीदास जी भी इस तथ्य को स्वीकार करते ह। ईश्वर की ईच्छा से अविद्या और विद्या दोनों प्रेरित होती हैं दोनो माया हैं—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या प्रभु प्रेरित व्यापई तहि विद्या॥८२॥ उत्तर

गो० तुलसीदास ने वेदान्तदेशिक की तरह मनको ही बुद्धि, अहकार और चित, माना है। उनके अनुसार बुद्धि, अहकार, सुख, दुखादि मन के अन्दर वत्तिरूप है,

पृथक् पृथक अन्तःकरण नही हैं। वे रामचरितमानस मे उसी प्रकार मनका प्रयोग हृदय मन, उभय शब्दरूप मे करते हैं जसे वदान्तदेशिक करते हैं। साम्य योग और अद्वतवेदान्त से तात्त्विक भेद यही है। स्मृतिनामक बुद्धि की वत्ति भी मन म ही होती है बुद्धि या अन्तःकरण मे नही—

१ निरखि राम मन भवरन भूना /२४।रा मा जयम

२ ०स मग गु त चल मग जाता।

३ भरत सुभाव नमुझि मन माहा।

अहकार का आश्रय भी मन ही है—

जो परि हरहिं मलिन मनि जानी।

चित क रूप म—

साधक मन जस मिले विवेका- रा मा किस० १४।२

गा थिर वरहु दव डर नाहो।

हृदय हरि हारेउ सब आरा।

सुख दुख की वत्ति का अधिकरण मन—

मन प्रसन्न तन तेज विराजा। राम हृदय आनन्द विसेखी॥

मनमें ही प्रेम (भक्ति) का उदय होता है अन्तःकरण मन ही है—

हृदय असीसहिं प्रेम वस॥२॥ सरल सुभाव भगति मति भेई॥

सकल्प विकल्प भी मन म ही होते हैं-

भोरे भरत न पेलि हहिं मनसहु राम रजाई॥

निष्कपत गा० तुलसीदास जी न वद पुराणो और आगमा की माया का ही अपन मानस म स्थान दिया है जो प्रकृति, अक्षर अव्यक्त और अजा इत्यादि नामा स जानी जाती है। प्रकृति और काल भिन्न भिन्न पदाथ हैं। प्रकृति ही गुणात्मक से विद्या और अविद्यारूपा है। विद्यातत्त्व माया स पृथक नहीं है। अद्वैतवाद इसे पृथक् मानता है। प्रकृति के २४ (चौबीस) विकृतरूप हैं जो जगत् का निर्माण करते हैं। पचमहाभूत पचीकृत होकर ही स्थूल सृष्टि के उपादान होते हैं। मन ही विभिन्न वत्तिया के कारण बुद्धि, अहकार, चित्त, और हृदय नामो से जाना जाता है। महद् या बुद्धि तत्त्व अन्तःकरण नहीं है वह सृष्टि का कारणमात्र है उसी प्रकार अहकार तत्त्व भी कारण है। सीता स्वरूपत माया या प्रकृति नही हैं ब्रह्म हैं। अपृथक्सिद्ध विशेषण से या शक्तिरूप म ही वह माया या जड प्रकृति हैं। माया का काय जगत् है, जो क्षण क्षण परिवतन के कारण मिथ्या हेय या तुच्छ है। कारणदृष्टि से सत्य है। कायदृष्टि से भी जगत् स्वप्नवत धूवा का धरोहर जेवरी का साँप है। वदान्तदेशिक का भी इसी प्रकार का विचार है। दोनो के प्रकृति या माया की तत्त्वनिरूपणशली एक ही प्रकार की है। पदाथ भी एक जस ही हैं। इससे सिद्ध होता है कि वदान्तदेशिक का प्रभाव माया निरूपण म तुलसी पर है।

पद-टिप्पणी

१–माया तु प्रकृति विद्यात्० श्वेता उप ४।१०, २–पंचदशी ६।१५, ३–तत्त्वदीपनिबंध सर्वनिर्णय प्रकरण, ४–महाद्भुतानिवचनीयमाया वि चू म श्लो १११, ५–वही, ६–त मु क प्रक्र १, ७–मूला प्रकृति विकृति० सा का ६, ८–वही ११,२७, ९–वही २४,१, १०–वही, ११–कार्योपाधि जीव करणोपाधि ईश्वर। 'अनुभूतिप्रकाश' १०।६१ १२पंचदशी १।१६, १३–त मु क १।१ सर्वार्थसिद्धि पृ १५,१२, १४–अविद्या जीवस्य, प्रकृति अक्षरस्य, माया कृष्णस्य अणुभाष्य १।१।१ १५ रा मा अर १४।५ उत्त ७१, ७२।१, १६–वि प प १२०, १७–वही १८८ १८–रा मा उत्त ७२।६ १९–वही ७२।७ ६, २०–वही अर १४।६ ८, २१–रा मा उ० ८५।३, २२–वि प प ६६ रा मा अर, ६१।३ ८, २३–शक्ति आह्लादिनी सार रूप वि प प ४०क २४–वन्दे रामवल्लभा रा मा बा २५–हृदय जवनिका बहुविधि लागी। रा मा उत्त ७२।७ २६–जगदीश माया जानकी, रा मा अयो १२५।छ

— ० —

श्री।

आचार्य वेदान्तदेशिक और तुलसी का पुरुषार्थचतुष्टय

पुरुषार्थपरिशीलन

पुरुषार्थ का अर्थ पुरुष के लिए (प्राप्य) पौरुष प्रदान या विनियोग का उद्देश्य या पुरुष के कार्य में प्रवृत्ति का हेतु है। पुरुषार्थ उत्कृष्ट प्रयोजन है, जो सभी प्रयोजनों का अंगी है। मुख्य पुरुषार्थ मोक्ष या भक्ति है। क्रम और पात्रभेद से इसके चार विभाग हैं– धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। रूढिवशात् चार पदार्थ भी पुरुषार्थों को कहा जाता है। शास्त्रों में इसका नाम चतुर्वर्ग भी है। कहा जाता है कि धर्म का पालन करने से अर्थलाभ होता है अर्थ से काम की तृप्ति होती है और जब इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं तब उनके क्षणिकत्व का बोध होने पर काम और उसके हेतु अर्थ में वैराग्य जगता है तब जीवात्मा या पुरुष भूमासुख के लिए प्रयत्नशील होता है, यही सुख चतुर्थ पुरुषार्थ का फल माना जाता है। धर्म और मोक्ष सभी आश्रमों और सभी वर्णों के लिए हैं, परन्तु अर्थ और काम केवल गृहस्थ के लिए ही हैं क्योंकि दम्पी चारों में श्रेष्ठ और बली है धर्म के तीन अंग हैं– आचार यज्ञ और तप। आचार में नीति व्यवहार और औचित्य भी रखे जाते हैं। देवता देवियों और ईश्वर का पूजन तथा हवन आदि यज्ञ है। प्रत्येक प्रकार का दान, और धार्मिक ग्रन्थों का पाठ भी यज्ञ है। गीता के अनुसार नित्य नैमित्तिक और काम्य ही नहीं निष्काम कर्ममात्र भी यज्ञ है। यज्ञ भी दो भागों में बाँटा जा सकता है अन्तर्याग और बहिर्याग। इन्हें मानसपूजा और मूर्तिपूजा भी कहा जाता है। यज्ञ का क्षेत्र विस्तृत है। रूढि के अनुसार गृह्ययज्ञ श्रौतयाग और इष्टियों को ही यज्ञ कहा जाता है। इष्टियाँ यागों (महायज्ञ) के अन्तर्गत किये जानेवाले लघु यज्ञ हैं। प्रसिद्ध इष्टि पुत्रेष्टि है। तप का अर्थ शरीर को कष्ट देकर मन और शरीर की शुद्धि है। यह व्रत उपवास नियम तथा तीर्थयात्रा[1] रूप में सम्पन्न होता है। चतुर्थ पुरुषार्थ का अनुष्ठान ढलती उम्र में करने का ही विधान है जो वैज्ञानिक है। मनु के अनुसार ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान न करनेवाला वानप्रस्थी और संन्यासी नरक में जाता है। वह केवल नैष्ठिक ब्रह्मचारी, और ब्रह्मचारी रह सकता है, जो गृहस्थ के अधीन होते हैं। आज के तथाकथित बाल, तरुण और अविवाहित संन्यासी वास्तव में नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। बौद्ध, जैन शैव और सांख्य आचार्यों की देखा देखी अद्वैत आचार्यों ने भी संन्यास की मनुप्रोक्त कठोरता समाप्त करदी जिससे उसमें प्रच्छन्नरूप से भोगलिप्सा और अज्ञान का बोलबाला हो गया। आर्यसमाजी सुधारवादी भी मनु की उपेक्षा कर संन्यास का मन माना आचार स्वीकार कर वदिकता का तुमुघोष करते हैं। तुलसीदास ने संन्यास पर चौथे पन नृप कानन जाहीं' वाक्य के द्वारा अपना अभिमत प्रकट करते

1. तुलसीसाहित्य की वैचारिकपीठिका']

हैं। वेदांतदेशिक और तुलसी दोनों ने आजीवन संन्यास ही धारण नहीं किया। इसमें उनका सिद्धांत मनुप्रोक्त ही है यह स्पष्ट हो जाता है। मनु परमवदिकशास्त्रकार हैं। उनकी उपेक्षाकर वैदिकता की रक्षा नहीं हो सकती। वदिकता सावजनीन है मात्र एक पंथ नहीं।

आधुनिक सुधारवादी और साम्यवादी उपयुक्त पुरुषार्थ की मान्यता से असहमत हैं। उनके अनुसार[1] धर्म अफीम[2] है जो पूँजीपतियों और सामंतों को शोषण का अधिकार देता है और गरीबों कृषकों तथा मजदूरों को शोषण के विरोध में सिर उठाने से मना करता है।' कामतृप्ति में अर्थ प्रधान कारण नहीं है दरिद्र और पशु-पक्षी भी अर्थाभाव में कामतृप्ति करते हैं। मोक्ष वास्तविकता से पृथक काल्पनिक सुख है।' उपयुक्त साम्यवादी मत को सर्वथा असंगत नहीं कहा जा सकता परंतु इस दृष्टि में अतिरेक अवश्य है। यदि धर्म को चर्च या चर्च की तरह की व्यवस्था विशेष माना जाय जिसमें धर्मनेताओं के स्वार्थ पर कोई अंकुश न हो, तब पूँजीपतियों और स्वार्थी सामंतों से मिलकर वे अवश्य धर्म को अफीम बना सकते हैं परंतु धर्म का अर्थ वदिक मान्यता के अनुसार नीति आचार और संस्कृति माना जाय जिसका दायित्व प्रत्येक गरीब या अमीर पर राष्ट्रहित[3] और जनहित में है तब धर्म पर उक्त दोष थोपना औचित्य से बाहर है। तुलसी ने धर्म के कर्णधारों तथा शासकों को भी फटकारा[4] है। मनु तो स्पष्ट ही व्यक्ति के अधिकार से बाहर यंत्र या मशीनों को मानते हैं जिनसे वितरण और श्रम दोनों प्रभावित होते हैं। उनके मत से राज्य ही ऐसी व्यवस्था कर सकता है जिससे सामान्य जनता लाभान्वित हो सके। साम त भी जनता का नेता होता है जो कर्तव्य के लिये होता है भोग के लिए नहीं। काम का अर्थ विस्तृत है केवल यौन व्यापार नहीं। मोक्ष को कल्पना मानना बुद्धि का दिवालियापन ही है। इतिहास का भी अस्वीकार करना प्रत्यक्ष का भी अप्रमाणित मानना ऐसे लोगों के लिए ही उचित है।

पुरुषार्थ और आश्रम

चारों पुरुषार्थ चार आश्रमों में सिद्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों में धर्म, गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम वानप्रस्थाश्रम में धर्म और मोक्ष, संन्यासाश्रम में केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ रह जाता है जिसकी सिद्धि की जाती है।[5] गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों में ज्येष्ठ (तस्माज्जेष्ठाश्रमो) माना जाता है। यह आश्रम चारों पुरुषार्थों का अधिकारी भी बताया गया है। अनेक व्यक्तियों ने गृहस्थाश्रम में रहकर ही मोक्ष की प्राप्ति की है। चारों आश्रम चार प्रकार के मनुष्यों के लिए अनुष्ठेय हैं। ब्रह्मचर्य का पालन सभी को करना हितकर है। गृहस्थ आश्रम में सभी जन हैं। वानप्रस्थ में शूद्र को अधिकार नहीं है स्त्रियाँ भी अनधिकृत हैं। वे पतियों के साथ तापसी रह सकती हैं। संन्यास में केवल ब्राह्मणों का ही अधिकार है। शंकराचार्य की परंपरा

सभी वर्णों को संन्यास देती है, केवल आचार्यपीठ पर ब्राह्मणों को बठाती है। रामानुजी त्रिदण्डी परम्परा और माध्वमतानुयायी आचार्य केवल ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार स्वीकार करते हैं। उनके यहा भक्ति म सभी को अधिकार है। प्रपत्ति मे शूद्र ही अधिकृत हैं। सामर्थ्य के अभाव मे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी प्रपत्ति ले सक्त हैं। मोक्षविद्या के दो भेद हैं – भक्ति और प्रपत्ति। तत्त्वज्ञान और उपासना जिस योग[6] विद्या भी कहा जाता है इन दानो के सहायक हैं। भक्ति करनेवाले के लिए शास्त्र के द्वारा रहस्यविद्या या अध्यात्मविद्या का ज्ञान आवश्यक है। योग के द्वारा उनका दान उचित है। तत्पश्चात् ही पराभक्ति दृढ होगी। अलवारो मे नामालवार का अधिक महत्त्व इसीलिए है कि वे भक्तिप्रपत्ति म समाधि की भूमिका दृढता से स्वीकार करत हैं और वैदिक समग्र मोक्षविद्याओं का सकलन कर जनता की भाषा मे सवसुलभ करत हैं। वेदान्तदेशिक भी नामालवार से प्रभावित प्रतीत होत हैं, इसलिए रहस्यग्रथो का निर्माण उन्होने लोकभाषा मे प्रयत्न से किया है।

ब्रह्मचय एकव्रत भी है जो आश्रम से भिन है। इस व्रत का लक्ष्य शरीर और मन के सयम म छिपा हुआ है। इसे इन्द्रियनिग्रह भी कहा जाता है। इस व्रत का पालन ब्रह्मचारी वानप्रस्थी और सन्यस्त कठोरता से करते हैं (अब उपेक्षा कर रह हैं)। गृहस्थ के लिए निश्चित सीमा म ही इन्द्रियनिग्रह करने का आदेश है। उसे व्रत यज्ञ और सूतककाल म ही वीय रक्षा करनी है। गृहस्थाश्रम का प्रधान पुरुषाथ काम है। काम सृष्टि का मगल विधान है इसलिए उनकेलिए एकपत्नीव्रत ही ब्रह्मचय बताया गया है। राजपरिवार को छोडकर किसी भी वर्ण को अनेक पत्नियां का विधान नही है। सन्तानाभाव म मनु ने दूसरी पत्नी का विधान किया है परन्तु ऐसा न करने पर भी उसे दत्तक पुत्र के द्वारा वही श्रेय मिल सकता है जो औरस पुत्र स मिलता। वास्तव म पुत्रोत्पादन एक धम या कर्त्तव्य है, जिसम प्रकृति और ईश्वर भी निमित्त हैं। पुरुष अपना प्रयास करने का ही अधिकारी है फल[7] न मिलन पर वह दोषी नही है। गीता म भी भगवान् ने इस स्पष्ट किया है।

भारतीय पुरुषाथवाद और भाग्य

भारतीय पुरुषाथवाद पर यह आरोप लगाया जाता है कि इसमे भाग्यवाद का प्रश्रय होने से (ईश्वरेच्छा की महत्ता स्वीकार करने से) मनुष्य बन्धन मे पड जाता है वह अपने पुरुषाथ केलिए स्वतन्त्र नहीं रहता। वास्तव म यह तभी सम्भव है जब मनुष्य पूर्णरूप से जडप्रकृति हो या कोई स्थूल यत्र जिसमे बुद्धि और विवेकादिक वत्तियाँ न हों। मनुष्य (एक विचारशील प्राणी) से उसम प्रत्येक काय के प्रति दायित्व इसी विशेषगुण के कारण है। हाथी महावत के अधीन होकर भी अपने स्वामी की आज्ञा का ही पालन करता है यद्यपि वह आदेश महावत का मानता है तथापि अगो का सचालन एव काय अपनी बुद्धि से करता हैं। लोक म भी कमचारीगण, अपने

ऊपरवाले अधिकारी की आज्ञा का पालन करते हुए, अपना कार्य बुद्धिकौशल से ही करते हैं। कर्त्तव्यबुद्धि ही ईश्वरेच्छा है। इस कर्त्तव्यशास्त्र को ही ईश्वराज्ञा कहा जाता है जो युग और पात्र के अनुसार परिवर्तनशील है। वेदान्तदेशिक की यह मान्यता है कि धर्म या कर्त्तव्यशास्त्र केवल सीमित नहीं है, उसकी इयत्ता नापना भगवान् की बुद्धि को सीमित करना है। धर्म ईश्वराज्ञा है, जो भगवद् बुद्धि ही है।

धर्म को भारतीय दर्शनों एवं शास्त्रों में सर्वजनीन हितसाधकता के परिप्रेक्ष्य में ही देखकर व्यक्ति का कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है। वेदों में समानता तथा सर्वभूतहित ही व्यक्तिहित के साथ में प्रतिष्ठित है। देश और काल, खण्डधर्म का एक भाग ही मानते हैं। सम्पूर्ण धर्म का पालन एक व्यक्ति या एक युग नहीं कर सकता। वेदान्तदेशिक और तुलसी के अनुसार सतयुग, त्रेता, द्वापर, में तप, यज्ञ और ज्ञान की प्रधानता रही कलियुग में भक्ति[8] प्रधान हो गई। इसी प्रकार देश और पात्र की अपेक्षा से धर्म का स्वरूप भी माना जा सकता है।

भाग्य ईश्वर का बनाया हुआ होने पर भी व्यक्ति के धर्म ही उसके प्रधान उपादान हैं, वह जैसा कर्म करेगा वैसा भाग्य बनेगा। अतीत के बिगड़े भाग्य को वर्तमान काल के पुरुषार्थ से बदला जा सकता है। इस जन्म का दुःख केवल भाग्य का ही फल नहीं है अकर्मण्यता राज्यशासन[9] प्रकृतिकोप भी निमित्त होते हैं। भाग्यशाली भी दुःख भोग सकता है यदि राज्य व्यवस्था समुचित न हो, अकर्मण्यता हो अचानक प्रकृति का कोप हो या समाज में अधर्म या अनीति का आधिक्य हो। शुभकर्म प्रकाश की तरह मन्द भाग्य को दूर करते हैं और सुख भी देते हैं, इसलिए भारतीय भाग्यवाद पुरुषार्थवाद की एक कड़ी है। तुलसीदास और वेदान्तदर्शन इससे सहमत हैं।

वेदान्तदेशिक की तरह तुलसीदास जी भी ईश्वरेच्छा[10] को बली मानते हैं, परन्तु चेतावनी भी देते हैं कि व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करे जीवनयुद्ध में यदि वह सम्मिलित नहीं होता, तो निश्चितरूप में भाग्यवादी होने के कारण कायर कहलाएगा। कायरता पुरुषार्थ और पौरुष केलिए अभिशाप है। यद्यपि यह सच है कि हानि लाभ, जीवन मरण यश अपयश, विधि के साथ है[11] तथापि कर्त्तव्य पालन जो भगवान् का आज्ञारूप है जिसकी रक्षा केलिए मनुष्य शरीर धारण करते है जीवात्मा को उचित है। ऐसा न करने से वह ईश्वर द्रोही होगा। ईश्वरद्रोह से बढ़कर कोई अनुचित कार्य नहीं हो सकता। ईश्वर सम्पूर्ण अच्छाइयों का पुञ्ज है। भक्त भी भगवान् को अपने पुरुषार्थ से शरण दे सकते हैं।

काम और उसकी मर्यादा

काम कुल का बीज है जिसका वृक्ष नारी है। जिसमें काम हो वह कामी कहलाता है। मर्यादित कामी होना गृहस्थ का धर्म है। इसी धर्म की रक्षा केलिए पति

रती का प्रसन्न रहना – सन्तुष्टो भार्यया भर्ता, भर्ता भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम् ॥ मनुस्मृति ३।६०। एव एक दूसरे से सतुष्ट रहना आवश्यक है। वेदान्तदेशिक भगवान् को भी गृहमेधी [रामाय गृहमेधिने। रघुवीर गद्य।] मानते हैं। उनके भगवान् भी परम विरहासक्ति का अनुभव सीता के वियोग मे करते हैं। लक्ष्मी के साथ विष्णु तथा गोपियो एव पत्नियो के साथ कृष्ण मर्यादित काम सहित ही व्यजित हुए हैं। स्वय उनका जीवन भी गृहस्थ का था जो सिद्धान्त का व्यवहाररूप था। गोस्वामी तुलसीदास के राम की मर्यादा सयोगावस्था म है, किन्तु वियोगावस्था म राम विच्छिन्न की तरह खग मृग से भी सीता का पता ठिकाना पूछत हैं। तुलसी यह स्वीकार करते हैं कि कामी व्यक्ति को नारी प्रिय होती है। मर्यादित काम की तुष्टि केवल यौन व्यापार से ही नही होती, हास विलास, सगीत तथा प्रहसन एव विविध समारोहो पर भी होती है। वास्तव म काम एक मानसिक भाव है। ऐसा विचार आधुनिक आचार्य भी मानते हैं। इसका सहायक प्रकृति व्यापार भी है।

अर्थ का विभिन्न पुरुषार्थो से सम्बध

अर्थ मानवजीवन म परमोपयोगी वस्तु है। वैश्यवर्ण तथा गृहस्थाश्रमी इसके प्रधान अधिकारी माने जाते हैं। गृहस्थ का लक्ष्य धन और धर्म ही विशेषरूप से रहता है। वैश्यवर्ण समाज के अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक दायित्व एव कुशलता म धन का अर्जन एव रक्षण करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शेष तीनों वर्णो को उसकी अपेक्षा नहीं है, वास्तव मे सभी वर्गों को अर्थ की आवश्यकता होती है। क्षत्रिय सभी वर्णो से कररूप म धन लेकर राज्यव्यवस्था करता है। ब्राह्मण दान एव भिक्षा से धन लेकर अपना परिवार का तथा रक्षण छात्रो का पोषण करता है। शूद्र भी परिवार की रक्षा एव पालण केलिए धन की आवश्यकता का अनुभव करता ही है। सभी वर्णों की अपनी जीवनरक्षणोपयोगी[१२] आवश्यकताओ की पूर्ति केलिए धन की आवश्यकता होती है। वह विभिन्न स्थानो पर विभिन्न वर्णों की सेवाकर वृत्तिरूप म धन प्राप्त कर जीवन यापन करता है।

आश्रमव्यवस्था म भी धन की कुछ न कुछ आवश्यकता रहती है। ब्रह्मचारी और सन्यासी गृहस्थो के ऊपर इसके लिए आश्रित रहते है। वानप्रस्थी स्वय शरीर स श्रम कर अन्नादिक सग्रह करता है।

अर्थ शब्द केवल रुपय पैसे केलिए प्रचलन म नहीं आता इसका प्रयोग व्यापक अर्थ म होता है। वे पदार्थ जिससे मनुष्य की उपयोगिता की सिद्धि होती है आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, धन पद अर्थ पद जा सकते है। इसीलिए इन विषयो का अध्ययन प्राचीन अर्थशास्त्र म होता था। आज विनिमय के साधन को अर्थ कहा जाता है। वस्त्र, भोजन, गौ अन्न स्वर्ण रजत धातु रत्न भूमि आदि सभी अर्थ या धन की परिभाषा मे आते हैं। आधुनिक परिभाषा मे श्रम तथा कुशलता भी,

धन के अन्दर माने जाते हैं ।

तुलसी और देशिक ने यद्यपि निजी जीवन मे अर्थ से उपेक्षा भाव रखा है, तथापि सर्वथा धन को अनुपयोगी किसी आश्रम केलिए बताने म वे सफल नही हो पाये है । उनके नायक धन का त्याग करते पाये जाते हैं परन्तु अर्थ से पृथक होकर भी अर्थका उपयोग करते देखे गये हैं। चाहे देशिक के रघुवीर हो या तुलसी के राम उन्हे अर्थ से असम्पृक्त करके नही देखा जा सकता । इतना अवश्य है कि अर्थ या अर्थतन्त्र के अधीन उन्हें नही पासकते । सक्षेप मे त्याग सहित अर्थ की उपयोगिता दोनो मानते हैं ।

तुलसी साहित्य मे धर्मनिरूपण

'धर्म[13] शब्द कुछ उन संस्कृत शब्दो म है जिनका प्रयोग कई अर्थों मे होता आया है। यह शब्द अनेक परिवर्तनो एव विपर्ययो के चक्र मे घूम चुका है। ऋग्वेद की ऋचाओ मे यह शब्द या तो विशेषण के रूप म प्रयुक्त हुआ है या सज्ञा के रूप मे।— वेद की भाषा मे उन दिनो इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या था यह कहना अशक्य है। स्पष्टत यह शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है— धारण करना आलम्बन देना पालन करना— । अधिक स्थानो पर धर्म धार्मिक विधियो या धार्मिक क्रियासस्कारो के रूप मे ही प्रयुक्त है— ऐतरेय ब्राह्मण म धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्त्तव्य के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है ।— धर्म शब्द का अर्थ समय समय पर बदलता रहा है किन्तु अन्त म यह मानव के विशेषाधिकारो कर्त्तव्यो बन्धनो का द्योतक आर्य जाति के सदस्य की आचारविधि का परिचायक एव वर्णाश्रम का द्योतक हो गया है। तैत्तरीयोपनिषद् मे छात्रो केलिए जो धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है वह इसी अर्थ म हैं। धर्मशास्त्रसाहित्य म भी धर्मशब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति के अनुसार मुनियो ने मनु से सभी वर्णों के धर्म की शिक्षा देने केलिए प्रार्थना की है। यही अर्थ याज्ञवल्क्यस्मृति मे भी पाया जाता है। तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्र का कार्य है वर्णो एव आश्रमों के धर्म की शिक्षा देना। मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकारो ने धर्म के पाच स्वरूप माने हैं– १ वर्णधर्म २ आश्रमधर्म ३ वर्णाश्रमधर्म, ४ नैमित्तिकधर्म ५ गुणधर्म (राजा के सुरक्षा सम्बन्धी कर्त्तव्य)।

उपर्युक्त धर्मविषयकविचार वेद को ऐतिहासिक ग्रन्थ मानकर व्यक्त किये गये हैं। परम्परा के अनुसार धर्म की परिभाषा दो प्रकार की मिलती है– वैशेषिक सूत्र की तथा धर्ममीमासा की। वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद के अनुसार धर्म वही है *जिससे लोक-परलोक का कल्याण हो और मोक्ष म भी सहायता मिले।* मीमासा सूत्र के अनुसार प्रेरणा लक्षणवाला धर्म है। वेदान्तदेशिक के अनुसार विधि[14] दो प्रकार की होती है प्रवृत्ति करानेवाली और निवृत्ति करानेवाली । ये दोनो विधियाँ ही कर्त्तव्यतारूप म धर्म मानी जाती है। यह विधि निषेध वेद ही है। वेद ईश्वर की

आज्ञा है, जो अपरिवर्तनशील है। इसी से पुरुष व्यापारशील होता है, किसी काम को करता है, किसी को नही करता है। निखिल वेदार्थ ही विधिनिषेधका सम्पादन करता है स्मृतियाँ भी जिस धर्म का प्रतिपादन करती है, वह वेदार्थ ही है क्योंकि मनु ने इसे स्पष्ट किया है। गीता का उपदेश भी श्रुति का उपदेश ही है, उससे पृथक मानने पर ईश्वराज्ञा सदोष एवं अपूर्ण सिद्ध हो जायगी। प्रत्यक्षरूप म भी गीता के श्लोक उपनिषदों के अनुवाद प्रतीत होते है। वेदान्तदेशिक के मत से तुलसीदास जी सहमत हैं। उनके अनुसार धर्म का नियामक ही न्ही सफल निःश्रेय का नियामक भी वेद या श्रुति ही है। श्रुति[15] विधि निषेधमय है। वह धर्म अधर्म पाप पुण्य गुण दोष सुख दुःख ऊँचनीच, साधु असाधु अमरत्वमृत्यु ब्रह्म– जीव, स्वर्ग नरक, काशी मग, गंगा कमनाशा अनुरागवैराग्य भ्रान्ति परस्पर विरोधी धर्मों का विवेचन करता है, जिससे उचित ज्ञान प्राप्त कर शुभ गुणों का संग्रह और अशुभगुणों का त्याग कर सके। जबतक उचित अनुचित, शुभ अशुभ, पाप पुण्य धर्म अधर्म, का ज्ञान न हो जाय, तब तक जीव आचरण करने में समर्थ न्हीं हो सकता। वेदों ने धर्म के प्रतिपादन हेतु अनेकों कल्पित उपाख्यानों[16] का सहारा लेकर गुणदोषमय धर्म अधर्म का निरूपण किया है। धर्म दो प्रकार का होता है– प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्तिमूलक धर्म इहलौकिक सुख का कारण या स्वर्गलोक का दाता होता है निवृत्तिमूलकधर्म धर्म अर्थ काम मोक्ष और केवल मोक्ष का प्रदाता होता है। गृहस्थ चारों पुरुषार्थों को पाता है संन्यस्त केवल मोक्ष को पाता है। वेदान्तदेशिक ने इसी मोक्ष की उपासना केलिए मीमांसापादुका में कहा है कि भगवान्[17] के व्याज से सभी नित्य नैमित्तिककर्मों को जो वेदों को आदिष्ट हैं मानना चाहिए, सभी धर्म फलप्रद हैं सब का समाहार भगवान् विष्णु के यजनरूप धर्म में है। सभी धर्मों की उपासना भगवान् विष्णु के आदेश -रूप म तथा अग्नि आदि देवता को अंग रूप मे मानकर करने से भगवान् की ही आराधना होती है, जो भक्ति प्रपत्तिरूप मे है। तुलसीदास जी ने प्रतापभानु के दृष्टान्त म इसी निष्काम धर्म की दिशा में संकेत किया है। वह दान व्रत तीर्थ यज्ञ, याग, कथा श्रवण तड़ाग वापी निर्माण, आदि सभी राजोचित धर्म करता था परन्तु हृदय मे किसी फल की कामना नहीं करता था।

श्रौतकर्म और स्मार्तकर्म

श्रौत मूलक सभी ग्रन्थों में प्रतिपादित धर्म वैदिक धर्म ही कहा जाता है तथापि कर्मभेद तथा अग्निभेद से कल्पसूत्रों के अनुसार श्रौतस्मार्तधर्मों को पृथक किया गया है। जो व्यक्ति सांगवेदाध्ययन कर विवाहित होता था और तीनों अग्नियों का स्थापन करता था, वह श्रौत धर्म का अनुयायी कहलाता था। उसके यज्ञ–याग श्रौतकल्पसूत्र से नियन्त्रित होते थे। यदि किसी द्विज को वेदों का विधिवत् ज्ञान नहीं होता था, उसका विवाह नहीं होता था तो वह श्रौत धर्म का अधिकारी नहीं था।

परन्तु कोई उपनयनसंस्कारवाला व्यक्ति यदि विवाहित होता था, तो वह गृह्यसूत्र का कर्म, जिसे गृह्यकर्म या स्मार्तकर्म कहा जाता है, उसका अनुष्ठान करता था। गृह्य कर्म का अनुष्ठान श्रौत को भी करना पड़ता था, परन्तु श्रौत कर्म को अनधिकारी गृहस्थ नहीं करता था। आज भी दाक्षिणात्य (कुछ औदीच्य ब्राह्मण भी) श्रौत्रिय ही माने जाते हैं। अभिषिक्तद्विजराजा श्रोत्रिय ही होते हैं। लोकप्रसिद्ध अश्वमेध याग श्रौत याग है। इसलिए रघुवंश के राजा श्रोत्रिय धर्म का पालन करते हुए ही इस यज्ञ का सम्पादन कर सके थे।

चतुर्वर्ण आगमिक और पौराणिक याग करता था। विशेष कर व्रात्य द्विज तथा शूद्र इसके अधिकारी थे। इन पौराणिक विधियों को भी स्मार्त विधि कहा जाने लगा था। इसलिए गृह शांति रुद्र याग विष्णु-याग चण्डीयाग यथावत श्रादिक धर्म सर्वजनीन तथा सुकर होने के कारण प्रचार में आये। वेदान्तदेशिक का मत है कि वेदकर्म नये नहीं थे। इनका प्रचार मात्र पहले नहीं था। असमर्थता के कारण वैदिक विधान से पृथक् होकर सुविधानुसार लोगों ने इन को अपना लिया। स्वयं वेदान्तदेशिक तथा उनके पुत्र वरदगुरु श्रोत्रिय धर्म का अनुष्ठान करते थे। कुमारिल भट्ट पार्थसारथी मिश्र मण्डनमिश्र, और प्रभाकरमिश्र परम श्रोत्रिय थे।

तुलसीदास जी ने श्रौत कर्म पर विशेष बल दिया है। उनके राम परम श्रोत्रिय है। यह वर्णाश्रम धर्म ही है। वैदिक धर्म की उत्कृष्टता श्रोत्रिय बनने में ही है। कोई भी स्मार्त परिवार का व्यक्ति सांग वेदाध्ययन कर अग्निहोत्री बन सकता है। न बनना अपराध है अधर्म है। उसके लिए प्रायश्चित का विधान है। आज भी शंकराचार्य को श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठापनाचार्य कहा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि स्मार्त धर्म संकुचित है वैदिक धर्म या तो श्रौत-स्मार्त-उभय धर्म है या केवल श्रौत।

स्मार्त शब्द का अर्थ स्मृति जाननेवाला भी होता है। स्मृतिसम्पादितधर्म केवल धर्मशास्त्र ही नहीं रूढि लक्षणा से वेदमूलक सभी साहित्य से होता है। बाद में वैष्णवेतर धर्म को स्मृति कहा जाने लगा जिसका कोई आधार नहीं है। आज स्मार्त शब्द शैव, शाक्त सौर गाणपत्य कापालिक वाममार्गी, पाशुपत अघोरी आदि सभी को कहा जाता है जो श्रोत्रिय और वैष्णव नहीं है। पंचांगों में स्मार्त व्रतों के दो विभाग मिलते हैं— वैष्णव और अवैष्णव। वैष्णव स्मार्तों को केवल वैष्णव लिखा जाता है और अवैष्णव स्मार्तों को केवल स्मार्त। मध्यकाल में भ्रान्तिवशात् स्मार्त वैष्णव शब्द भी चल पड़ा, जो विरोधाभास से भरा है। तथा कथित शंकराचार्य के पीठ के अनुयायी वैष्णव मन्त्रों को देकर उन्हें स्मार्त वैष्णव घोषित करते हैं परन्तु उनका आचार विचार, दर्शन और कर्मकाण्ड शाक्त का होता है। वैष्णव के कर्मकाण्ड, जो कल्प सूत्र से भिन्न हैं नारदपांचरात्र या अन्य पांचरात्रों से सम्पादित होते हैं वे नित्य ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करते हैं स्मार्त या स्मार्त वैष्णव त्रिपुण्ड्र या तिर्यकपुण्ड्र भस्म या चन्दन से

धारण करते हैं, रुद्राक्ष की माला पहने हैं, एकादशी और विष्णुजयंतियों का पालन शैवों की तरह करते हैं। वास्तव में ये स्मार्तवैष्णव नवधाभक्ति शिव तत्व या ब्रह्म तत्व की प्राप्ति के लिए करते हैं जो गुरु भक्ति ही हैं इष्ट भक्ति नहीं है। स्मार्त वैष्णवों का वैष्णवों से पृथक् कोई आगम नहीं हैं इसलिए या तो वे वैष्णव हैं जो भ्रांति वशात् स्मार्त आचार मानते हैं या स्मार्त हैं, जो बिना सोचे समझे लीक पीटते जा रहे हैं।

डाक्टर उदयभानु सिंह जी की स्थापना है कि तुलसीदास जी की धर्म भावना सनातन धर्मभावना है। सनातनधर्म श्रुतिसम्मतस्मार्त धर्म है। तु द मी पृ १९५' डाक्टर हजारीप्रसाद जी के अनुसार अनुश्रुति शंकराचार्य को इस उपासना का आदि प्रचारक मानती है। पंच देवों में ब्रह्मा का नाम न आने से कुछ पण्डित अनुमान करते हैं कि यह निश्चय ही उस समय की कल्पना होगी जिस समय ब्रह्मा की पूजा उठ गयी होगी। । इस अनुमान के साथ अनुश्रुति से कोई विरोध नहीं देख पड़ता, इसलिए यह कहना असंगत नहीं है कि शंकराचार्य के समय में ही उपासना प्रचलित हुई। स्मार्त लोग पंच देवोपासक हैं। वे शंकर को मानते भी हैं। यद्यपि उनका विरोध किसी से नहीं तथापि व्यवहार में स्मार्त और वैष्णव विरोधी जैसे ही लगते हैं। उनके पुराण पंच देवों की उपासना पर बल देते हैं। पण्डितों का अनुमान है कि गरुड़ पुराण स्मार्तों का पुराण है। अग्नि-पुराण भी स्मार्त ग्रंथ ही है, यद्यपि उसमें वैष्णव उपादान ग्रंथ ही अधिक हैं।' म का धर्म पृ २४

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने भी अपना मत डा० उदयभानुसिंह की तरह ही स्थापित किया है। प्रथम तो द्विवेदी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि स्मार्त-धर्म शंकराचार्य की देन है इसलिए सनातन-धर्म ही है, कारण कि सनातन किसी की देन नहीं होता वह प्रवाहरूप में अविच्छिन्न रहता है। दूसरी बात द्विवेदी जी की यह है कि शंकराचार्य ने पंचदेव उपासना का प्रचार किया और स्मार्तों का पुराण गरुड़पुराण है। मेरे विचार से द्विवेदी जी का यह वर्तमानकालिकमत नहीं है उनके साहित्यिकजीवन की प्रभातवेला का मत है। वस्तुतः स्मार्त ही गरुड़ पुराण नहीं पढ़ते हैं वैष्णव भी इसे पढ़ते हैं- श्राद्धकल्प स्मार्त और वैष्णव सभी पढ़ते हैं। अग्निपुराण स्मार्त जन जीवन से बाहर है। वह अग्निहोत्र पर अधिक बल देता है। आज के स्मार्तों के प्रियग्रन्थ हैं— मार्कण्डेयपुराण शिवपुराण तथा स्कन्दपुराण इनके अतिरिक्त मरने के समयतक जिसे मुक्ति की कामना रहती है वह श्रीमद्भागवत् है। बंगाल तथा बिहार आदि में- देवी - भागवत् तथा कालिकापुराण भी प्रचार में हैं। शिवपुराण भी श्रावण कार्तिकमासों में खूब चलता है। पद्मपुराण के व्रतों का भी प्रचार है। हेमाद्रिपुराण को ही आज के द्विवेदी जी वास्तविक स्मार्त धर्म ग्रन्थ मान सकते हैं। शंकराचार्य की परम्परा को ही स्मार्तपरम्परा मान लिया जाय- वास्तव में

श्रीकण्ठ, अभिनवगुप्त आदि नवगण पृथक् हैं, स्मार्त भी है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मार्तधर्म शैवशाक्त धर्म है। स्मार्त पूजापद्धति, व्रत, नियम, उपवास तथा भोजन शाक्तों के ही हैं। दुर्गापाठ शाक्ततन्त्रों का ग्रन्थ है जो स्मार्तों के हृदय का हार है। शृंगेरी मठ में शक्ति की ही उपासना है। आदि शंकराचार्य ने शक्ति को ही इष्ट मान कर षोडशी विद्या का स्तव 'सौन्दर्य लहरी' बनाया था। शाक्तों का वास्तव में शैववैष्णव किसी से विरोध नहीं है। उनके यहाँ मदिरा मांस का प्रयोग चल सकता है। यदि वे कमला शक्ति या महालक्ष्मी की उपासना करते हैं, तब विष्णु स्वतः पूज्य होंगे—शक्तिमान् होने से वहाँ पंचमकार वर्जित होगा। तथाकथित सरजूपारी और मद्रासीय ब्राह्मण गौड तथा गुर्जर महाराष्ट्र और केरली शाक्त या स्मार्त हैं। शाक्तमत का प्रचार विभिन्न रूपों में रहा है जिसमें भारत की समस्त उपासनाएँ प्रभावित हुई हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म भी किसी न किसी प्रकार प्रभावित हैं। वैष्णवधर्म पर भी शाक्त प्रभाव स्पष्ट है। शाक्तधर्म वैदिकधर्म की एक शाखा है। स्मार्तधर्म विभिन्न शाखाओं में बँटा है श्रौतधर्म के दो भाग हो सकते हैं—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। प्रवृत्तिमूलक शाक्त और शैव हैं। यद्यपि यहाँ मोक्ष की भी साधना है, परन्तु षट्कर्म तथा क्षुद्रसिद्धियों पर ही ध्यान केन्द्रित है।

स्मार्त मात्र पंचदेवोपासक नहीं हैं। उनके यहाँ नवग्रहों का सुप्रभात दश महाविद्याएँ इन्द्र वरुण निर्ऋति आदि दिक्पाल भैरव योगिनी ब्रह्म बैताल आदि अनेकों देव पूजे जाते हैं। स्मार्त या तो अद्वैत वेदान्त या शाक्त दृष्टि से ब्रह्म बुद्धि कर एक देव पूजक हैं या तैंतीसकोटिदेवपूजक हैं। जिस प्रकार पाँचों में सम भावना बन सकती है, उसी प्रकार सब देवों में भी सम्भव है। यदि इष्ट की दृष्टि से पंच-देवों को माना जाय तब भी यह सिद्धान्त उचित ही प्रतीत होता है। भर्तृहरि जो स्मार्तों के मान्य आप्तपुरुष हैं 'एको देवः केशवो वा शिवो वा' कहते हैं अर्थात् केवल दो में ही विकल्प पाते हैं। शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं मानी जा सकती। गणेश मंगलकारी देवता हैं या शिव परिवार के देवता हैं। इष्ट शिव से इनमें प्रकृष्टता नहीं। जो मन्त्र गणेश के नाम से प्रचलित है (गणानान्त्वा गणपतिं) उसका देवता गणेश न होकर आदित्य है ऐसा गणेश अंक 'कल्याण' में घोषित किया गया है। सूर्य को नारायण कहा जाता है। वैष्णवलोग आदित्यस्थनारायण की पूजा करते हैं। सिद्धान्तक *श्रीकरभाष्य में गायत्री का अर्थ शिवपरक किया गया है शिव को आग्नेयलिंग बताया* गया है। ऐसी परिस्थिति में इन्हें पृथक् देवता मानना अप्रमाणिक है। वेदों में आदित्य वरुण यम अर्यमा आदि अनेक देवता हैं जो समान स्तर रखते हैं।

उपासना की दृष्टि से शाक्त साधकों को भी दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—शैव और वैष्णव। स्वा० शंकराचार्य का सम्प्रदाय शैवशाक्त है, जहाँ दुर्गा, पार्वती, षोडशी काली, बँगला शीतला आदि देवियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। वैष्णव आचार्य

विशेषकर श्रीसाम्प्रदायिक वष्णव (वल्लभ) निम्बार्क और चैतन्य मतावलम्बी वष्णव शाक्त हैं, जहां षडार चक्र की पूजा कमला, सीता रुक्मिणी आदि देवियों की सेवा विशेष रूप से देखी जाती है। मेरे विचार से स्मार्त कोई सम्प्रदाय नहीं है। कुल दो ही सम्प्रदाय हैं – वैदिक और अवदिक। वदिक सम्प्रदाय म मोक्ष विद्या एव इष्ट की दृष्टि से दो भेद हैं – शैव और वैष्णव। जो लोग वेदों एव तत्सम्बन्धित आगमों के अनुसार अपनी उपासना करते हैं व वदिक हैं, और जो वेदों का अपना प्रमाण नहीं मानते व अवदिक हैं। कापालिक जन बौद्ध इसी प्रकार अवैदिक हैं जिस प्रकार वाणद और शैव वदिक। शाक्त साधना मे कुछ भेद वरिष्ठता और इष्ट (शक्ति) की दृष्टि से है। अन्य कोई भेद नहीं है। मेरु तन्त्र[16] पाच आम्नायों की दिशा म सकत करता है। उनम वैदिक को उद्ध्व आम्नाय या श्रेष्ठ उपासना बताना है। वैदिक शाक्तों म शङ्करसम्प्रदाय भी है। वष्णवों म लक्ष्मी की उपासना होती है जो सौम्य है इसलिए उनके पति की प्रधानता स वैष्णव कहा जाता है किन्तु श्रीसप्रदाय नाम तथा शख के साथ षट्चक्र का मुख्य षटचक्र (षटकोण) की पूजा श्रीवैष्णवों को तात्त्विक दृष्टि से शाक्त ही बताती है परन्तु व दाव शाक्तों से बिलकुल भिन्न हैं। शव शाक्त सम्प्रदाय मर्यादा विहीन भी है किन्तु श्रीशाक्त मर्यादा का घोर पक्षपाती है। वहां देवता प्रेत है वष्णवों म शक्ति के प्रिय तथा स्वामी हैं।

पुराणों म उपासना और व्रत सम्बन्धी बातें आगमों से प्रक्षिप्त हैं पुराणों का मूल विषय उपासना और शास्त्र व्याख्यान नहीं है। पाँच लक्षणों स बाहर उपासना सम्बन्धित तत्त्व है। तुलसीदास जी पुराणों म वर्णित धर्म को प्रामाणिक तो मानते हैं परन्तु वेदों और आगमों से पृथक् नहीं मानते। आगम भी वेद ही हैं, इसलिए धर्म का पर्याय श्रुति मानते हैं जो वेदों द्वारा निर्दिष्ट है जसा कि पहले बताया गया है।

लोक और वेदधर्म

वेदधर्म तो ईश्वराज्ञा या बुद्धि सम्मत है किन्तु लोकधर्म ऐसा तत्त्व है जिसका सम्बन्ध वेदों से नहीं है। जनता अनादि काल स अपनी परम्परा को बचाती आ रही है जिसका मूल भले ही वेदों म ढूंढ निकाला जाय परन्तु प्रकाश वेदों मे नहीं है। यह लोकधर्म विदवास रीति शकुन, सगीत, मगल टोन टोटके तथा ऐसे अनेक कृत्य हैं जो देश के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों म देखे जाते हैं। सिन्दूर धारण करना लोकधर्म है किन्तु भारत के पश्चिमी भाग म विवाहिताएँ इसे धारण नहीं करतीं। उनका लाक्षणिक द्वारा ही है जिसे व वारला नामक अलवार को पहन कर जताती है। पश्चिम म विद्वाएँ प्राय समस्त भारत की सुहागिनें पहनती हैं विधवाएँ नहीं पहनतीं। इस विषय म वेद मौन हैं। इसी प्रकार मुण्डन यज्ञोपवीत विवाह आदि अवसरों पर अनेक लोकधर्मी विधिविधान और आचार के रूप म देखे जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों में ऐसे अनेक लोकधर्मों का उल्लेख किया है जो पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी विहार म पाये जाते हैं। नहछ्छू एक लोकधर्म है, तुलसी ने इस पर 'राम लला नहछ्छू' छोटी सी पुस्तक लिखी है। विवाह के अवसर पर मगल गारी या 'गोपालगारी' की लौकिक प्रथा है, तुलसी ने इसे भी बडे कौशल से मानस म सगृहीत किया है। राजा जनक वरपक्षवालों का पदप्रक्षालन करते है। तीना भाइया का पद भी राम की तरह ही धोते हैं। वह अपने हाथो से पर धोना अपना गौरव समझते हैं कारण कि लोकविधि है। आसन पर मर्यादानुसार बैठाकर उन्हे ताम्बूल की बीटिका देते हैं। भोजन की व्यवस्था भी बडी चतुरता से की गई है। उसे परोसने में विलम्ब नही किया गया। पाँच ग्रासो की आहुतियाँ मुख मे देकर सभी लोक खाने लगे। स्वादिष्ट पकवान परोसे जान लगे। लोक धम के अनुसार नारियाँ भी उन्हे मगलगालिया सुनाती हैं। राजा प्रसन्न हैं। कगण मोचन करना, गायन, कोहबरनामक घर के एक विशेष कमरे मे जो वर और वधू दोनो का पितृगृह म होता है, सखियो सहित वर का बार बार मिलाना, मनोविनोद करना वर की परीक्षा करना, प्रहेलिका आदि सुनना तथा सुनाना, समस्यापूर्ति करना लोकविधि है *जिसकी उपयोगिता प्राचीन काल में बहुत थी आज भी है। तुलसी के मानस* और कवितावली म इसका सयोजन कौशल और औचित्य के साथ किया गया है।

शकुन निकालना पशुपक्षियो को विशेष प्रकार का भोजन आदिक देना उनसे मगलकामना करना लोक विश्वास मे देखा जाता है। तुलसीदास जी की गीतावली में कौशल्या सगुन मनाती दिखायी देती है। वह कामना करती है कि हमारे बच्चे सकुशल घर चले आएँ, प्रतिज्ञा करती है कि उनके आने पर दूध भात की बलि दूँगी सोने की चोच मढाऊँगी। तुलसीदास जी ने लोक विश्वास को ही लोक धम स्वीकार किया है जो श्रुति मे स्पष्ट कहा है परन्तु प० रामचन्द्र शुक्ल ने लोकमगलमात्र का लोकधम कहा है जो तुलसी की भावना के अश का ग्रहण है तुलसी के समस्त लोक धम विषयक मान्यता का नही।

आचार और नीतिधम

आचार और नीति को परम धम माना गया है। ससार के सभी धम इसे धम अनुमोदित करते हैं। जन चारित्र्य बौद्धशील वैदिक ऋत कहते हैं। यवन नाग इसे हिदायत और कमाण्ड कहते हैं। मनुने अहिंसा क्षमा धृति, दम अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी विद्या सत्य अक्रोध दया और दान को सदाचार म गिना है। ये सभी आश्रम और सभी वर्णो केलिए करणीय धम हैं। इसम भी अहिंसा सत्य शौच इन्द्रियनिग्रह को विशेष महत्त्व दिया गया है। गौतम बुद्ध ने भी अवर-नहि वरेण वराणि सम्मतीव कुदाचन— पर बल दिया।

नीति का अथ औचित्य से है। क्या करना चाहिए क्या वजन होना चाहिए,

इसका विवेक नीति है। माता पिता, भाई बन्धु गुरु, राजा तथा पडोसी के साथ, जसा व्यवहार होना चाहिये, वह नीति म आता है। दुबल की सेवा रोगी की सुश्रूषा, आतायी को दण्ड देना, उपयोगी पशु पक्षी की रक्षा, सभी प्राणियो की भलाई, स्त्री और दुबल को विशेष सुविधा गुरु का अनुगमन, परिचरण विशेष आचार मे आते हैं जो सावभौम कह जासकते हैं। तुलसी के राम इसे करत पाये जाते हैं।

त्याग का महत्त्व अहिंसा के बाद है। गोस्वामीजी ने गीता की तरह त्याग था बडा महत्त्व माना है। वदान्तदेशिक भी शिलोञ्छवृत्ति की प्रशसा करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी के ग्रन्थो म विविध उदात्तपात्र इस अहिंसादि आचार और नीतिधम का उपदश दते, पालन करत, तथा प्रचार करते पाये जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वय भी स्थान स्थान पर उपदेश दिये हैं। वेदान्तदेशिक मनुस्मृति को प्रमाणग्रन्थ मानते हैं। धार्मिक विचारधारा तुलसी और देशिक दोनो की समान है। रघुवीरगद्य तथा मानस मे दोनो ही समान आचरण का वणन करते है।

वर्णाश्रमधम

वदिक सहिताओ[19] म ही वर्णाश्रम का सकेत मिलता है। विराटपुरुष के चार अगा से चारो वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है। वर्णाश्रमधम श्रुतिसम्मतधम का स्तम्भ है। इसके अभाव म श्रौतधम की कल्पना ही नही हो सकती। यह धम ईर्ष्या और द्वेष वश और कुल पर आधत न होकर प्रेम सौहाद, और दायित्व पर जीवित है। आज स्वातन्त्र्य के पश्चात् आगलशिक्षाप्रभावितविद्वान्[20] तथा अद्ध शिक्षित जन इसे हीन दृष्टि से देखने लगे हैं जो प्रत्येक भारतीय वस्तु को अप्रामाणिक तथा तुच्छ समझते हैं। भारत का समस्त साहित्य इस वर्णाश्रम के पोषण म तत्पर रहा है। नामालवार तथा यतिराज भी इसकी उपक्षा नहीं कर पा सके हैं। वैदिकेत्तर सम्प्रदाय भी इसको भुला न सके। इसे जन्म से न मानकर इसमे कम की प्राथमिकता उन्होने अवश्य दी। वेदान्तदेशिक के साहित्य म वर्णाश्रमधम का पोषण तो वैदिक उत्साह स है ही तुलसी दास जी भी वेदान्तदेशिक की भावना से भावित प्रतीत होते हैं। वे वर्णाश्रमधम के प्रबलसमथक हैं। यद्यपि उन्होने वणविहित और आश्रमविहित धर्मों का बहुश अलगअलग उल्लेख भी किया है तथापि वणधम[21] और आश्रमधम का प्राय युगपत् व्यवहार करके, उन्होंने इन दोनों के अन्योन्याश्रयत्व एव वर्णाश्रमधम के एकत्व का ही प्रतिपादन किया है। यह भी ईक्षणीय है कि उन्होंने प्रत्येक वण और आश्रम का अलग अलग व्यवस्थित धमनिरूपण नही किया।' इसका कारण यह है कि इनका उद्देश्य काव्य के माध्यम से पुरुषाथचतुष्टय की शिक्षा देना है जो धमशास्त्र से भिन्न मधुर प्रणाली है।

वणधम मानवधर्मशास्त्रीय व्यवस्था का मेरुदण्ड है। वण चार हैं– ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य, और शूद्र। प्रथम तीन को द्विज कहा जाता है जिन्हे वेदाध्ययन का

अधिकार है। चतुर्थवर्ण को वेदाध्ययन धर्मशास्त्र और पुराणादि में ही अधिकार है। द्विजवर्ण की स्त्रियों का अध्ययनसम्बन्धी अधिकार शूद्रों की तरह है। विविध शिल्पों एवं विद्याओं में शूद्रों को ही अधिकार है। आज की इंजिनियरी, सर्जरी तथा संगीत आदि के अध्ययन-अध्यापन का अधिकार शूद्रवर्ण को ही है। नवधा भक्ति में प्रपत्तिसहित सब को अधिकार है। यद्यपि सभी प्राणी भगवान् के द्वारा उत्पन्न किये हैं फिर भी मनुष्य अधिक प्रिय है उसमें भी आचार और शील के उत्कर्ष के कारण द्विज, जिनमें वेद को धारण करने वाला विशेष और वेदविहित धर्म का पालन करनेवाला सबसे अधिक उत्कृष्ट होने के कारण परम प्रिय है।[2]

वेदान्तदर्शन की तरह तुलसी का कथन है कि वर्णधर्म परलोक (मोक्ष) का मार्ग है। उनकी दृष्टि में दुःख का एक कारण[3] वर्णधर्म की अवहेलना है। जब एक वर्ण अन्य वर्णों की अवहेलना करता है तथा मनमाना या अतिक्रमण कर दूसरे वर्ण या आश्रम के धर्ममार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तब कोई वर्ण अपने अधिकारों और भोगों के प्रति ही सर्वथा जागरूक रहता है किन्तु कर्तव्यों से उदासीन रहता है तब धर्ममर्यादा के नष्ट हो जाने पर भय[4] शोक रोग नाना प्रकार के दुःखों का आघात होता है। वर्णाश्रमधर्म[5] की मर्यादा में रहनेवाला व्यक्ति लोक परलोक को प्राप्त ही करता वह वांछितफल[6] को उपलब्ध कर लेता है।' कलियुग में वर्णाश्रम व्यवस्था की अतिशय ग्लानि एवं वर्णसंकरता की अभिवृद्धि देख कर उन दोनों महाकवियों का मन क्षुब्ध हो गया है।'

सनातन वैदिक धर्म में जन्मना वर्णवाद स्वीकार किया गया है। वैदिक वाङ्मय में वर्णवाद स्वीकार किया गया है। वैदिक वाङ्मय में चारों वर्ण और उनके गुण कर्म की दिव्योत्पत्ति बतायी गयी है। कर्मच्युत एवं आचारपूत वर्णेतर भी ब्राह्मण हो सकते गये हैं। जन्मना होते हुए भी वर्णाश्रम में कर्म का प्राधान्य है। गो० तुलसी ने राम के माध्यम से वर्णाश्रम का उचित निरूपण किया है।

ब्राह्मण-धर्म

चार वर्णों में ब्राह्मण को ज्येष्ठ वर्ण कहा जाता है विराट् शरीर में उसे मुख स्थानी[26] माना गया है। धर्म की दृष्टि से यह धर्म को धारण करनेवाला तथा अन्य शेषवर्णों का उपदेश देनेवाला गुरु भी होता है। यह आध्यात्मिक दृष्टि से संन्यास का अधिकारी भी माना जाता है जबकि शेषवर्ण संन्यास के अधिकारी नहीं माने जाते। शंकराचार्य की परम्परा सभी वर्णों को संन्यास का अधिकार देती है परन्तु दण्डधारी नहीं बनाती। रामानुज की परम्परा (वडगले) संन्यास देती ही नहीं। यदि संन्यास देती है तो केवल ब्राह्मण को जो सांगवेदों का अध्ययन कर चुका हो। शास्त्रों में ब्राह्मण का क्षत्रिय वर्णधर्म के साथ आश्रमधर्मों का पालन अनिवार्य बताया जाता है। तुलसीदास जी रामराज्य में चारों आश्रमों का वर्णन करते हैं। आश्रमधर्म वर्ण या उम्र

के क्रम से २५ वर्ष के, विभाग से है, जो माध्यमायु १०० वर्षों की स्वीकार करने पर होती है। ब्राह्मण २५ वर्षों तक वेदों का अध्ययन करे, ५० तक गृहस्थाश्रम का पालन करे, ७५ तक तपश्चर्या करे और शेषजीवन में निस्पृह त्यागधर्म का अनुसरण करे।

गृहस्थ ब्राह्मण के छः धर्म[28] या कर्तव्य बताये गये हैं— यजन करना, यजन कराना, अध्ययन (वेदों का)—करना, अध्यापन करना, दान देना और धर्मरक्षा के निमित्त असत्प्रवृत्ति से त्यागभाव से दान लेना। दान लेना अन्य वर्णों का पालन करता है परन्तु ब्राह्मण का तेज वधन करता है इससे उसके दायित्व एवं विनय की अभिवृद्धि होती है। जो ब्राह्मण अहंकारवश दान लेने से अरुचि दिखाता है वह पाप का भागी होता है। दान लेना धर्म है किन्तु सब प्रकार का दान तथा सब व्यक्तियों का दान साधारण व्यक्ति के लिए हितकर नहीं है। विद्यादान, भोजन, वस्त्र एवं जलदान सभी ले सकते हैं वस्त्रदान सबको उपयोगी हो सकता है गोदान तथा कमण्डलु आदि सामान्य वस्तुओं का दान हितकर हो सकता है, किन्तु सुवर्ण का दान, पृथ्वी का दान, तथा रत्नों का दान, विद्वान्, त्यागी तथा तपस्वी गृहस्थब्राह्मण ही लेने का अधिकारी है। सत्पात्र का दान दानदाता तथा गृहणकर्त्ता दाना का उपकार करता है किन्तु कुपात्र का दान दानों का नाशक होता है। ऐसा व्यक्ति जो वेदविहीन है उसे तो दान लेने का अधिकार ही नहीं होता जबतक कि वह गायत्री का भी अभ्यास न करले। वेदविहीन ब्राह्मण चिन्ता करने योग्य हैं।

पौरोहित्यकर्म ब्राह्मण को लोभ में डाल देता है इसलिए इसकी निन्दा राजपुरोहित जी स्वयं करते हैं। वास्तव में धर्मशास्त्रों में राजपौरोहित्य, ग्रामपौरोहित्य को ही निन्दित बताया गया है जिसे वसिष्ठ जैसे योग्य व्यक्ति जो त्यागवृत्ति के हैं कराने के अधिकारी हैं अन्य सामान्य ब्राह्मणों को पतित होने का भय बना रहता है। ब्राह्मण सत्त्वगुण प्रधान होता है। उसके शम दम तप शौच क्षमा ऋजुता ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य स्वभावजधर्म माने गये हैं। ब्राह्मण अपने सतोगुण से युक्त रह कर भगवान् का प्रियतम बनता है उसमें भगवद्भक्ति की मधुरधारा प्रवाहित[29] होती रहती है। तुलसीसाहित्य में वर्णित सभी ब्राह्मण उच्च कोटि के भगवद्भक्त हैं, जो सतोगुणी हैं रावण जैसे तमोगुणी ही भगवद्भक्ति विरोधी हैं, और अधर्मात्मा के प्रतीक हैं। इस प्रकार के श्रेष्ठगुणसम्पन्न ब्राह्मण का द्रोह भगवान् को अच्छा नहीं लगता। ऐसे ब्राह्मण की सत्सगति और सेवा मोह नाशक हैं, भगवान् की पराभक्ति देने वाली है। इस प्रकार के ब्राह्मणों की रक्षा केलिए भगवान् को अवतार लेना पड़ता है। जो इस प्रकार के ब्राह्मण की निन्दा करता है वह नरकगामी होता है। ब्राह्मण केवल अध्यात्मविद्या का उपदेष्टा नहीं होता वह आवश्यकतानुसार अन्य ज्ञान-विज्ञान का अनुसंधानकर्त्ता और प्रचारक भी होता है। जो ब्राह्मण अपनी वृत्ति को त्याग देता है धर्म का पालन नहीं करता वह चन्द्र की तरह हीन तेज हो जाता है।

क्षत्रियधर्म

क्षत्रिय का आचरण भी ब्राह्मण की तरह पवित्र होना चाहिए। ब्राह्मण के छ कर्मों म से दान का ग्रहण उसे निषिद्ध है। केवल वह उपहार ग्रहण कर सकता है, और कन्यादान भी ले सकता है। उसे भिक्षा[30] वृत्ति कभी भी नही अपनानी चाहिए। *आश्रमधर्म केवल वानप्रस्थ तक तुलसीदास जी मानते हैं।* इसलिए चतुर्थ अवस्था मे वानप्रस्थ केलिए रघुवंशी राजा प्रस्थान करते हैं जिनका उद्देश्य घोर तपश्चर्या होता है। संन्यास क्षत्रिय आदि केलिए नहीं है। ब्राह्मण जहाँ मधुर एवं शान्तप्रवृत्ति का होता है क्षत्रिय वीर, साहसी *तथा तेजस्वी*[31] होता है। *उसका* कर्त्तव्य प्रतापी से, समाज और धर्म के स्तम्भ गो ब्राह्मण और पृथ्वी की रक्षा[32] करनी है। क्षत्रिय की स्वयवृत्ति है। शासन करना उसका अधिकार न होकर कर्त्तव्य है। वह शासन म या सत्ता म इसलिए नहीं आता कि विशेष प्रकार की सुविधाए प्राप्त करे या सुख भोगे वह काँटा का ताज पहन कर शासन म भाग लेता है, हथेली पर प्राण रखकर सैनिक बनता है। क्षत्रिय भी उदात्त चरित्र का अधिकारी होकर समाज म पूजा पाता है। द्वि[33] पूज्या म क्षत्रिय राजा का भी स्थान ब्राह्मण की तरह ही है। कायर और अविवेकी होना क्षत्रिय के दोष हैं।

वैश्यधर्म– ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय और वैश्य का भी सदाचार बताया गया है। अध्यापन और दान लेना तथा स्वयवृत्ति वैश्य केलिए निषिद्ध हैं केवल ब्राह्मण क्षत्रिय के अभाव म धर्म एवं शास्त्र रक्षा केलिए उक्त दोनो कर्म ग्राह्य हैं। अध्ययन याजन दान तथा अध्यापन एवं शास्त्र की सहायता दान करने वालो की सहायता वैश्य का कर्म है। वह कृषि, पशुपालन वाणिज्य आदि कार्य जीविका केलिए कर सकता है। *अतिथिसत्कार सा जिनिवस्थान मन्दिर, उद्यान तथा चिकित्सालय आदि* का निर्माण भी धर्मात्मा क्षत्रिय और वैश्य करते हैं। गरीबो की सहायता भिक्षुओ को अन्नदान संन्यासियो को पका हुआ भोजनदान जो अल्पमात्र म (कौड़ी फल के *बराबर*) हो *वैश्य का धर्म है।* जो वैश्य धनी होकर भी वित्तशाठ्य करता है वह महा पातकी है।

शूद्र धर्म– सदाचारसहित सेवावृत्ति को अपनाना शूद्रधर्म[34] है। सेवा का अर्थ व्यापक है। संगीत शिल्प कला तथा नाट्य आदि विद्याओ म पारगत होकर सम्पूर्ण समाज की सेवा करना ही शूद्र की सेवावृत्ति है। वह यन्त्रविद्या का जानने वाला निर्माण करनेवाला, और रासायनिक भी होता है। विनय उसकी शोभा है। उच्छृंखलता तथा व्यर्थ की आलोचना शूद्र केलिए वर्जित है। शरीर से श्रम करनेवाला व्यक्ति आलोचना म फँस कर समाज का स निर्माण हा करेगा, इसलिए शूद्र को इसका निषेध किया गया है। शूद्र परिपक्व वय का (६० वर्ष) पारिषद होता है।

आश्रम धर्म और ब्रह्मचर्य– आश्रमधर्म के बिना वर्णधर्म की कल्पना ही

अधूरी रहगी। आश्रमधम जीवन का योजनाबद्धनियाम एव विनियोग है। चतुर्यवण प्रथम चतुर्थांश मे सयम का पालन करते हुए शरीर और बुद्धि के विकास पर बल देता है, द्वितीय चतुर्थांश म पुरुषाथकर अपनी तथा समाज की भलाई म सहयोग देता है, ततीयखण्ड म शान्तवातावरण म चिंतन कर आत्मिक लाभ करता है चतुथ अवस्था म केवल परिभ्रमण करते हुए मधुकर वत्ति से शेष जीवन का यापन करता है तथा ब्रह्मसुख का अनुभव करता है। वास्तव मे आश्रमधम की उपयोगिता पाश्चात्य भोग वाली जीवन की तुलना म रखकर दखन स सरलता से समझी जा सकती है। पश्चात्य जीवन अथ और काम पर आधृत रहता है इसलिए उनके जीवन म ऊब पैदा होती है आत्मघात ही रामबाण ओषधि उह मिलती है। भारतीय आश्रम जीवन म अव्य वस्था नही है युवको को जीवन से जूझने केलिए अवसर मिलता है वद्धा को चिन्तन करने का अवसर। कुमार कुमारियो का सीखने और अध्ययन करने का समय। इन आश्रमो की सख्या चार है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचय है जिसम ब्रह्मचयव्रत का कठोरता स पालन किया जाता है। इन्द्रियनिग्रह के साथ वीयरक्षा भी की जाती है। वीय शरीर का उत्तम प्रोटीन साल्टलवण और रसों का समूह है। अकारण असमय म जबकि शरीर का विकास हो रहा हो इसका क्षरण करना शारीरिक एव मानसिक विकास मे व्याघात पदा करना है, तथा रोगो से लडन की शक्ति को नष्ट करना है। किशोरावस्था मे ब्रह्मचय का पालन करने से शरीर शष तीनो अवस्था केलिए पुष्ट हो जाता है मानसिक ततुओ के निर्माण म उचित खनिजलवणो का अनुपात रक्त से मिलता है।

यह आश्रम ब्राह्मणछात्र के जीवन म ५ वष या ८ वष से आरम्भ होता है क्षत्रिय का नववष के बाद, वश्य का ११ वष के बाद। इसमे गुरु की सेवा, अग्नि की उपासना भिक्षाचरण तथा अध्ययन अनिवाय है। शूद्रछात्र अपने पिता के पास रहकर अध्ययन करता है तथा जीविका म सहायता भी करता है। सम्भवत समस्त-शिल्पशास्त्र अभ्यास की अपेक्षा रखत हैं। ब्रह्मचय का पालन उसे भी करना ही पडता है। समस्तब्रह्मचारियो केलिए अपन गुरु के प्रति नम्रताप्रदशन, उसकी आज्ञा का पालन तथा सुश्रूषा अपेक्षित है। शूद्र भी अपन विद्यागुरु का अनुशासन आज भी मानता है यदि उसकी शिक्षा घर पर होती है। तुलसी के राम लक्ष्मण ब्रह्मचर्याश्रम म गुरु की सवा, अनुशासन तथा ब्रह्मचयव्रत का पालन करत पाय जात है। वेदान्तदशिक ने स्वय भी विधिवत् ब्रह्मचयव्रत तथा विद्याव्रत का निर्वाह किया था। ब्रह्मचयव्रत धारण करनेवाले त्रिवर्णों के अध्ययन का चित्रण करत हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा ह— जिस प्रकार मढक समूह म एक स्वर से अनुशासनबद्ध होकर बोलत हैं उसी प्रकार बटुसमुदाय वदाभ्यास गुरु के साथ करता है। रा मा किष्कि १४।१

गृहस्थाश्रम और तुलसीदास

इस आश्रम का दायित्व पुरुषाथ की दृष्टि से सबसे अधिक है। कुमारिल का

गाहस्थ्य में कर्त्तव्य की भावना प्रबल है, उपभोग की भावना गौण। कर्त्तव्य का त्याग करनेवाला गृहस्थ चिन्ता करने का विषय होता है। गृहस्थी — के दो प्रमुख स्तम्भ होते हैं— यजमान और यजमान पत्नी, कारण कि सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञमय होता है। यदि भक्तिमय का ग्रहण किया जाय, तब तो बोलना, चालना, सोना, जागना आदि भी यज्ञ के अंग ही होते हैं। अभिनव गुप्त ने इसीलिए कहा था कि सकल शब्द ही तुम्हारे स्तव हैं। वेदान्तदेशिक ने भी दशावतारों की कल्पना दशावतारस्तोत्र में इसी ध्येय से किया है।

गृहस्थजीवन में नारी

वेदान्तदेशिक गृहस्थजीवन में नारी का स्थान हीन नहीं मानते। भगवान् का ऐश्वर्य जितना उत्कृष्ट है, भगवती भी उन्हीं के अनुरूप है दोनों ब्रह्म हैं दोनों में पास समानविभूतियाँ हैं इसीलिए दोनों का ऐश्वर्य दोनों बताने में असमर्थ हैं। सम्पूर्ण नारी भगवती की अंशभूता हैं। पुरुष भगवान् की विभूति हैं। यज्ञ की कोई क्रिया नारी के बिना नहीं हो सकती, फल भी नारी के साथ ही भोगना होता है। पाप और पुण्य दोनों का, दोनों बाँट कर भोगते हैं। यद्यपि विधानतः पुरुष के अधीन नारी सम्पत्ति रहती है परन्तु सच्चरित्र नारियाँ स्वतन्त्रता की साँस लेती ही हैं। राज-काज में भी नारी का स्थान रहता है। गृहप्रबन्ध में पत्नी का स्थान मन्त्री की तरह होता है। कभी २ नारियाँ अध्यक्ष की तरह भी गाहस्थ्यजीवन में देखी जाती हैं। त्याग चरित्र तथा शील का अनुसरण करनेवाली नारी पुरुष से दशगुणिता होती है इसका अनुमोदन मनुस्मृति और तुलसी दोनों करते हैं। वेदान्तदेशिक को इसका विरोध इष्ट नहीं है।

गृहस्थाश्रम की रीढ़ नारी है। उसका धर्मविहीन होना गृहस्थी का सर्वनाश करना है। वैदिक धर्म में जहाँ नारी को सर्वोत्कृष्ट रत्न गृह लक्ष्मी तथा देवी कहा गया है वहाँ उसके विकृत स्वरूप की भर्त्सना भी की गई है। यह न केवल पुरुष सन्तों ने किया है सहजोबाई धार्मिक नारियों ने भी किया है। जो नारी अपने कर्त्तव्य को समझ कर सत्पथ पर चलती है वह पूजार्ह है, परन्तु जो पथ का त्याग करती हुई देखी जाती है उसके लिए दण्ड की व्यवस्था धर्मग्रन्थों में की है। वेदान्तदेशिक ने शूर्पणखा तथा पूतना इत्यादि के लिए दण्ड का संकेत किया है। वे धर्म शास्त्रों का समर्थन करते हैं, परन्तु तुलसीदास जी ने स्पष्ट शब्दों में गँवार ढोल, गँवार नारी गँवार पशु और गँवार शूद्र और अर्थात् अविवेकी और दुश्चरित्र नारी को दण्डित करने के लिए कहा है। नारी का कर्त्तव्य पति के सगे सम्बन्धियों के प्रति तथा योग्य व्यवहार और शिष्टाचार का पालन करना है उनके बच्चों के साथ स्नेह दिखाना भी उचित है पति की मानसिक शान्ति और उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर दृष्टि रहते हुए उसके व्यवसाय और व्यवहार की गुत्थियों को सुलझाना भी है। ऐसा करना उस

¹ 'तुलसीसाहित्य की वचारिकपीठिका']

नारी के सुख शान्ति केलिए हितावह है।

गो० तुलसीदास के साहित्य म तीन कोटि की नारियां आती हैं। सर्वोत्तम कोटि की नारी अनुसूया, सीता, सुमित्रा और कौसल्या आदि है, जिनका चरित्र सदा उत्तम रहता है, जिनम स्वार्थ भावना है ही नहीं। वे जिस प्रकार अपने पुत्र की सेवा सुश्रूषा तथा हित की चिन्ता करती हैं उसी प्रकार अपने भतीजा तथा सौतेले पुत्र के हित की भी करती हैं। दूसरी कोटि की नारियाँ कैकेयी मन्दोदरी सरीखी नारियां है, जहाँ स्वार्थ बुद्धि भी कभी हो जाती है, अत म जो पुन उदात्तावस्था म पहुँच जाती हैं। तीसरी कोटि की नारियां परार्थ अहित को सोचने वाली, उग्र स्वभाववाली, स्वार्थी तथा दुश्चरित्र हैं इनमे शूर्पणखा सर्वोपरि है मथरा, सुरसा, छाया ग्राहिणी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तुलसीदास जी की सीता वेदान्तदेशिक की सीता लक्ष्मी और रुक्मिणी आदि पातिव्रत धर्म का पालन करती हैं। अनुसूया ने सीता को पातिव्रत धर्म का उपदेश भी दिया तथा यह कामना की कि यह नारियों म वन्दित हो। यह धर्म वैदिक है। नारी को दान तीर्थ व्रत तथा दीन दुखिया की सहायता भी करनी चाहिए किन्तु पति का सहयोग लेकर ही ऐसा करना उचित है अन्यथा पतन होने प्राणों पर सकट आने तथा कौटुम्बिक अशान्ति होने का भय रहता है।

गृहस्थाश्रम और भृत्यजीवन

सेवा कार्य बहुत कठिन माना गया है। मानवजीवन म आज भी इसका महत्त्व है। गार्हस्थ्य जीवन म परिवारों म जो लोग सेवावृत्ति म रहते हैं उनका धर्म भी विशेष होता है। उन्हें स्वामिभक्त रहना चाहिए। अवसर देखकर काम करना चाहिए। ऐसा आचरण करना चाहिए जिसम परिवार क प्रति प्रतिकूलता न दिखाई दे। गृहस्थों का भी कर्त्तव्य है कि अपने भृत्य का अपने परिवार के सदस्य के रूप म भरणपोषण करें, उसके परिवार के प्रति भी दायित्व निभाएँ। सद्गृहस्थ अपने परिवार के पशुओं पर भी दयादृष्टि रखते हैं। उन्हें भी चार घटे स अधिक लगातार नहीं जोतते। भृत्यजीवन हेय नहीं है तुलसीदास जी न अपने नाम के आगे आस्पद दास रखा है जो गुलाम का द्योतक है। प्रपत्तिविद्या की साधना ही दासजीवन की दिनचर्या है। दास का कर्त्तव्य अनुशासित रहने का है पर स्वामी का धर्म उदार क्षमाशील और दीनहितकारी होना चाहिए। परिवार और राष्ट्रजीवन म ससार के प्रत्येक शासन म स्वतन्त्र या राजतन्त्राधीन भृत्य हैं जिनके कर्त्तव्य और अधिकारों की व्याख्या मानस मे मिलती है। भृत्य को चाटुकार नहीं होना चाहिए। उसे अपने कर्त्तव्य तथा आश्रय दाता के हित का भी ध्यान रखना चाहिए। परिवार राष्ट्र और अन्यत्र की अहितकर गोप्य बातों का प्रकाशन भृत्य जीवन केलिए अशुभकर है। उसे निज की बुराई का प्रकाशन अपने अधिकारी से, यदि उचित हो तो करना चाहिए।

वानप्रस्थाश्रम

वानप्रस्थाश्रम के धर्म का पालन बसति से बाहर सुरक्षित अरण्य या प्राकृत अरण्य मे रहकर, किया जाता है। इसमे द्विज ही अधिकृत हैं, स्त्रियाँ सामान्यतया अधिकृत नही है विशेष परिस्थिति मे वानप्रस्थी पति के साथ रहसकती है। वानप्रस्थ का अनुष्ठान गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही किया जाता है। उपनिषदो मे कहा गया है कि पुत्र तथा पौत्रों को देखकर, गृहस्थाश्रम की मर्यादा के पश्चात् वानप्रस्थ स्वीकार करना चाहिए। इसमे यज्ञ का विधान है तपश्चर्या आवश्यक है, भिक्षावृत्ति तथा खेती से उत्पन्न अन्न का सेवन वर्जित है। अरण्य मे उत्पन्न अन्न तथा फल ही वनस्था को सेवनीय है। आजकल मठो में या देवालयो मे रहकर भिक्षा वृत्ति से वानप्रस्थ का पालन किया जाता है। तुलसीदास जी ने वैखानस और तापसजीवन की ओर सकेत कर, इसी आश्रम का परिचय दिया है। क्षत्रिय को सन्यास वर्जित होने से, चतुर्वर्ण विभाग मे वानप्रस्थाश्रम का अनुष्ठान ही तुलसी ने स्वीकार किया है।

सन्यासाश्रम

वानप्रस्थ के पश्चात् सन्यास का विधान है। कलिकाल मे केवल ब्राह्मण को धर्मशास्त्र सन्यास का अधिकार देते हैं। सन्यास मे मोक्षधर्म का अनुष्ठान किया जाता है इसलिए शेष वर्णों को भी भक्ति और प्रपत्ति का अधिकार वानप्रस्थ की सीमा में रहकर ही है। सन्यासी कुटीचक बहूदक, हंस परमहंस और अवधूत साधना की सफलता के क्रम से होते हैं। आत्मानुभूति या समाधि से रहित कोई परमहंस बनने का अधिकारी नही है आज सभी नाम धारण कर शास्त्र की आज्ञा को न मानते हुए अवधूत भी बनकर घूमते हैं।

सन्यासी केलिए त्रिदण्ड का विधान है जो वाग्दण्ड मनोदण्ड और कायदण्ड के साथ ही वेणुदण्ड का विधान करता है। शैव सन्यसी एक दण्ड धारण करते हैं, रामानुजी त्रिदण्ड। सन्यसी केलिए आचार और धर्म गृहस्थ से भिन्न बताये गये हैं— उसे परिवार से दूर रहना चाहिए अपने परिचित व्यक्तियो के बीच रहना, मानो गोमांसभक्षण करना है ऐसी भिक्षा उसे नहा लेनी चाहिए जो अमेध्य हो, या बहुत स्वादिष्ट तथा राजसी हो। निमन्त्रण या मञ्च पर जाना उसके लिए वर्जित है। उसे विद्या प्रदान तथा आजीविकाग्रहण कदापि नही करना चाहिए। ऐसा भोजन भी उसे नहीं करना चाहिए जिससे शरीर मोटा तगड़ा राजसी वृत्ति का हो। यत्नपूर्वक उपवास कर या एकाहार रहकर उसे क्षीण शरीर रहना चाहिए। मधुकरवृत्ति से प्रति दिन एक गाँव में एक दिन उसे टिकना[१८] चाहिए। भोजनवेला के अतिरिक्त उसे मनुष्यो से दूर एकान्त मे रहकर योगविद्या का अभ्यास करना चाहिए योगसिद्ध होने पर उसका प्रसार सन्यासियो मे करना चाहिए गृहस्थो के साथ रहने पर, यती या सन्यसी मे लोभ मोह और काम का उदय होता है इससे उसकी साधना छिन्न हो जाती है

वह पतित होकर नरकगामी होता है सं यासियों को कथावाचन करने, धर्मोपदेश देने तथा ज्योतिष और वैद्यक या वाद करने, का अधिकार वेदों और धर्मशास्त्र के अनुसार नहीं है और उसे नूतन वस्त्र[37] या कुण्डल लेना और धारण करना भी धर्म नहीं है। संन्यास परिवार की आज्ञा के बिना नहीं हो सकता। कलि में संन्यास की दुर्दशा देखकर तुलसीदास जी, और श्रीदीक्षित ने चिन्ता व्यक्त की है, स्वयं भी दोनों महानुभावों ने संन्यासग्रहण नहीं किया।

राज्यधर्म और प्रजा

राजधर्म का सामान्य अर्थ, राजा का धर्म समझा जाता है। वास्तव में वेदों में ऐसा उपाख्यान आया है कि प्रजाने[38] ही अपनों में से राजा चुना, जो वीर, उत्साही तथा त्यागी व्यक्ति था। कालान्तर में यह प्रथा वंशानुगत हो गई। यह सामान्य नियम है कि योग्य वातावरण तथा वंशपरंपरा में उत्तम व्यक्ति बनते हैं। विशेष परिस्थितियों में इसका अपवाद भी दिखाई देता है। राजा शासक का प्रतीक है। उन्हें सम्राट माना जाय या शासक, किसी भी दृष्टि से उनके धर्म को राज्यधर्म माना जाता है। मनुने राजा और प्रजा केलिए परस्पर प्रेम और दायित्व की अनिवार्यता मानी है राजा को जहाँ धन का आदान[39] प्रजा से करना है वहाँ न्यायरक्षा और जीविका का भार भी, राजा या राज पर वैदिक परम्परा में माना जाता रहा है। यदि राजा का अर्थ शासक थोडी देर के लिए मान लिया जाय तो साम्यवादी राज्यव्यवस्था से बहुत भिन्न वैदिकराज्यव्यवस्था नहीं प्रतीत होती।

भारतीय शासनप्रणाली के दो रूप हैं—गणप्रणाली तथा राजप्रणाली। पाश्चात्य साम्यवाद भारतीय राजतन्त्र और गणतन्त्र का मिश्रितरूप है। अधिकार और कर्त्तव्य की दृष्टि से राजतन्त्र है तो वरण की दृष्टि से गणतन्त्र। तुलसी ने किस प्रणाली को सराहा है किसे भर्त्सित किया है ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता। कुराजा[40] का भयावह परिणाम अवश्य बताया है। धर्मात्मा राजा के राज्य में प्रजा सुखी रहती है। धर्महीन कोई भी शासनप्रणाली जनता को दुखदा[41] होती है। वास्तव में प्रणाली का दोष एक सीमा से बाहर नहीं है। चरित्र ही वह माध्यम है जो किसी भी उत्तम शासनपद्धति को सदोष बनाने में सक्षम है। शासक या राजा के गुणों का तुलसीदास और दीक्षित दोनों ने समानरूप में परिगणन किया है— उनके अनुसार राजा को धर्मात्मा[42] विवेकी, प्रजापालक सत्यवादी[43] नितिज्ञ न्यायी, मानरक्षक, दीनहितकारी दयालु अशरणशरण, समदर्शी निर्भीक, वीर सावधान, सबल तथा सामर्थ्य से युक्त होना चाहिए, और शासक को चारों नीतियों से प्रजा का भरण रक्षण करना चाहिए उत्तम[44] राजा के राज्य में प्रजा राजा के अनुसार आचरण करती है, इसलिए उसे दण्ड का बहुत कम प्रयोग करना पडता है। भरत[45] के पास रामने नीतिपूर्वक प्रजापालन केलिए ही सन्देश भेजा था। राम के शासनकाल में प्रजा सुखी थी, उसे सुव्यवस्था

मिलती थी, राजा के त्याग और प्रेम दोनों का अनुभव उसे था। जिस शासन में प्रजा प्राण से प्रिय नहीं, वह शासन शोचनीय है। जो राजा धर्महीन, नीतिविहीन, और अन्यायी हो जाता है जिसे योग्य मंत्रियों की मन्त्रणा प्राप्त नहीं होती, उसका विनाश अवश्य होता है। प्रजा के बहुमत पर या नीति और न्याय के लिये अपनी पत्नी तक को रामने त्याग दिया था।

राज्य की सत्ता प्रजा पर आश्रित है। इसलिए शासक चाहे किसी प्रणाली का हो, प्रजा के हित ही होगा। रामने भरत को आदेश दिया है कि गुरुजनों के अनुशासन एवं मन्त्रणा के अनुसार पृथ्वी प्रजा और राजधानी का विवेकपूर्वक पालन पोषण ही राजधर्म का परम श्रेय है —

दसु ब,मु परि, परिवारू। गुर पद रजहि लाग छरु भारू॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥
मुखिया मुखु सो चाहिये खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेक॥३१५॥ रा मा अयो
राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माह मनोरथ गोई॥

साम्यवादी विचारधारा (कम्युनिज्म समस्त मानवों की शान्ति श्रम, स्वाधीनता समता बन्धुत्व तथा सुख की उद्घोषणा करता है। सा द) आज सर्वोत्तम राज्य व्यवस्था सर्वहारा अधिनायक तन्त्र की राज्य व्यवस्था का अनुमोदन करती है, जो आगे चल कर जनता का राज्य बन जाता है। तुलसी और वेदान्तदेशिक के राम अधिनायक से अधिक सच्चरित्र तथा जनता के प्रति त्यागवृत्तिवाले हैं। वे जनता केलिए पिता के राज्य और वैभव बटाऊ की नाईं छोड़कर बन जाते हैं। वहाँ भी जनहित और आतसेद रे हैं।

अर्थतन्त्र तथा तुलसीसाहित्य

अर्थशास्त्र का सामान्यरूप से धन का पर्याय माना जाता है। प्राचीन शास्त्रों में भिन्न भिन्न अर्थों में भी इसका प्रयोग देखा जाता है। कौटिल्य[49] के शास्त्र में ऐसे भी विषय हैं जो राजनीति तथा धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में नवम अधिकरण के सप्तम अध्याय में अर्थशब्द का प्रयोग अनर्थ, आपदर्थ, अनर्थानर्थ, अनर्थ अर्थ आदि रूप में मिलता है। इस अर्थ के साथ शत्रु के धन[50] का सम्बन्ध है इसलिए निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि अर्थतन्त्र के परिवेश में धन की प्रधानता है। 'पाश्चात्यों ने भी अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान कहा है।'

(Wealth वेल्थ) धन की परिभाषा पुरातन काल में जड़पदार्थ की थी। श्रम एवं विद्या को धन नहीं माना जाता था, आज के अर्थशास्त्री श्रम और कौशल[51] को भी धन मानते हैं। तुलसीदास जी के मत में धन का अर्थ सोनेचांदी के सिक्के रत्न मणियाँ गौ अश्व हाथी भैंस लकड़ी, भूमि गृह अन्न, फल, वनस्पति पक्षी

मोत, भाखेट, धातु, घास, तुप, ऊनी, सूती, रेशमी वस्त्र, पशुधन से प्राप्त घी, दूध, दही, मांस, गोमय, अस्थि, चर्म इत्यादि प्रधानरूप से गिने जाते हैं। मिट्टी पत्थर और काष्ठ की बनी विभिन्न वस्तुएँ, जैसे खिलौने, पात्र तथा खाट आदि भी धन में अन्दर माने जाते हैं। अस्त्र शस्त्र भी धन के अन्दर ही परिगणित हैं।

प्राचीन राजस्व, और उसके साधन तथा उपयोग

प्राचीन अर्थव्यवस्था में राज्य की आय का मुख्यस्रोत कर है जो उपज तथा व्यापार से प्राप्त आय का षष्ठांश या ततीयांश के मध्य नियत है। व्यापार में भी आवश्यकतानुसार कर लगाया जाता है। राष्ट्रद्रोह करनेवाले तथा बन्धुबान्धवहीन निस्सन्तान व्यक्ति की सम्पत्ति भी राज्यकोष में सम्मिलित होती है। शत्रुपक्ष की सम्पत्ति भी राज्यकोष में ग्रहण की जाती है। कारखाने तथा सामूहिक बाँध, नदी, तालाब आदि भी राज्य के आय के साधन हैं।

राज्यकोष की सम्पत्ति समस्तराष्ट्र की सम्पत्ति है। उसका व्यय प्रजा की रक्षा एवं आजीविका केलिए किया जाता है। भरत का रामराज्य राजभोग केलिए चुनौती है। श्रीरामचन्द्र भी इसे काँटों का मुकुट ही मानते हैं। रक्षा के प्रधानसाधन दुर्ग एवं सेना हैं। इसके अलावे राजकोष का धन राजपथ निर्माण चिकित्सा तथा शिक्षा पर भी व्यय होता है। शिक्षा का समस्तभार जनता उठाती है। शिक्षक और शिक्षार्थी भरणपोषण केलिए समस्तसमाज पर आश्रित होने के कारण व्यक्तिगतरूप से अपने परिवार की चिन्ता से मुक्त हैं। राजतन्त्र अधिनायकवाद का प्रतीक है परन्तु गुरुजनों का उसमें प्रवेश भी लगा है।

तुलसीदास जी ने उसी राज्यव्यवस्था को उत्तम बताया है जहाँ प्रजा की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति बिना याचना हो जाय और आजीविका की दृष्टि से कोई चिन्तित न हो शान्ति केलिए मन आन्दोलित न हो। उनका रामराज्य अर्थव्यवस्था का आदर्शरूप है।

आवश्यकता व्यक्तिगतसम्पत्ति और तुलसीदास

मनुष्य सचेतनप्राणी है बुद्धि के कारण वह विशिष्ट स्थान रखता है इसलिए उसकी कुछ आवश्यकताएँ अन्य प्राणियों से भिन्न होती हैं। सामान्यजीव भोजन और खाने की चिन्ता करते हैं परन्तु मानव आराम और विकास के विषय में भी सोचता है। तुलसीदास जी की परिभाषा के अनुसार विलासिता एक दोष है परन्तु गृहस्था *श्रम की सरसता इसी पर जीवित है इसलिए इसका सीमितमात्रा में अपना महत्त्व* है। आराम अर्थशास्त्र का एक पारिभाषिक शब्द है जो मनुष्य को अधिक श्रम से बचाता है। (मनुष्य के अर्थ की प्राचीर तीनों प्रकार की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही खड़ी होनी चाहिए परन्तु विलासिता पर अंकुश होना चाहिए।) अर्थ के साधन आजीविका या वृत्ति है, जो कृषि, वाणिज्य, सेवा, शिक्षण, याजन, तथा कर्मकार

वृत्ति है। धमकार अध्यापक के अनाने सभी की सहायता करता है इसलिए इसके वेतन के विषय में[32] कौटिल्य ने विनयनियमो की ओर संकेत किया है, जिसे वर्तमान वेतननिर्धारण की तुलना में देखा जा सकता है। जो मजदूरी काम के समय, मजदूर की इच्छा से निश्चित होती है, वही मिलती है।

श्रमिकवेतन और उसका निर्धारण

ऐसे कर्मचारी या मजदूर जो कृषि, वाणिज्य, उद्योग, आदि में काम करते हैं समस्त आय का दशमांश[33] धन, वेतनरूप में पाने के अधिकारी हैं। यह ध्यान रहे कि आय या अर्थ लाभ न होकर उत्पत्ति है।

ऐसे व्यवसाय, जिनका सम्बन्ध उत्पादन से नहीं है, क्षमता से है— धार, शिल्पी, नट चिकित्सक, व्याख्याता, वक्ता वकील आदि— उनका वेतन औचित्य के आधार पर निर्धारित हो अथवा उसमें कर्मचारी की कुशलता का ध्यान रखकर समुचितवेतन दिया जाय। यदि वेतन के विषय में विवाद हो, तो साक्षी के कथन के अनुसार उचित वेतन दिलाया जाय। किये हुए काम का देखकर भी, विवादास्पदवेतन का निर्णय करना चाहिए। जो श्रमिक वनविभाग या कारखाना या खानों में काम करते हो उनके आवास की भी व्यवस्था हो। प शिक्षक और याजक तथा तपस्विवर्ग का शान्त वातावरण के लिए उद्यानो की व्यवस्था हो और उनकी सभी प्रकार की पुनः उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति हो और उनका जीवन आवश्यकता से अधिक सरल हो। वैद्य तथा सैनिक आदि भी सरकारी सहायता प्राप्त करें। कृषि के लिए बीज पानी और पशु की सहायता राज्य करे। कृषकसुविधानुसार ऋण चुका दें। तुलसी[34] के काल में यह रूप ही था इसलिए उनमन की आलोचना करते हुए रामराज्य के आदर्शरूप की ओर संकेत करते हैं। वदान्तदेशिक ने भी राज्य की दुर्दशा पर चिन्ता की है।

दास दासी एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति

भारतीय दासो के दो रूप हैं— ऋण के कारण मात्र भोजन तथा स्वल्पवृत्ति से कुछ दिनों तक ऋणदाता के पास रहना। दूसरा स्वेच्छा से आजीवन सेवक बनना। इनमें किसी का भी क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। मनुष्य के बन्धक में रखा जाना प्रथा थी परन्तु धन चुका देने पर वह दास मुक्त हो जाता था। विदेशी दासो के क्रय विक्रय के विषय में कौटिल्य ने ढील दी है परन्तु उनके साथ शुभ व्यवहार कठोरता से परिवर्तित है। दास के पलायन भाग जाने पर वह (दास) मुक्त ही माना जाता है। दासो या दासियो से अशिष्ट व्यवहार या अनुचितकार्य करने कराने पर धनिकव्यक्ति दण्ड का भागी है। ऐसी परिस्थिति में दासी को जो धन देय है उससे वह मुक्त मानी जाती है। धनी के लिए २८० पण का दण्डविधान है। किसी बच्चे को चाहे कुमार हो या कुमारी स्वदेश या परदेश में ले जाकर बचनवाले को दण्ड की व्यवस्था है।

शूद्र को भी नहीं बेचा जा सकता। गर्भवती दासी से काम लेने, भरणपोषण न करने और क्रयविक्रय करने पर मालिक को दण्ड भोगना पड़ता है। जो २५० पण का ही है। निष्कारण दास बनाने पर स्वामी को जेल का दण्ड है।

स्वामी के काम के समय से अतिरिक्त समय में काम से, जो धन दास अर्जित करता है, वह दास की सम्पत्ति होती है उसका स्वामी वही होता है। उसके अभाव में उसके परिवार के सदस्य अधिकारी हैं उनके अभाव में मालिक। रामराज्य के दासदासियों की स्थिति इससे भी अच्छी है वे कर्मकार मात्र हैं क्रीत वस्तु नहीं जैसा कि पश्चिम में। तुलसी के मानस में भी इसी प्रकार के दास हैं जैसे कौटिल्य[30] को मान्य है।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था का स्वप्न और तुलसीदास

साम्यवादी अर्थ व्यवस्था विकासवाद को मानती है। उसके अनुसार सर्वप्रथम आदिम राज्य दासराज्य था। उसके बाद सामन्ती राज्य आया। सामन्ती राज्य के बाद उसका स्थान पूंजीवादी राज्य ने ग्रहण किया। कतिपय अन्तर के बावजूद उन तीनों में एक कार्य समान था जनता को काबू में रखना और मेहनतकशों के शोषण से मुक्ति पाने की चेष्टाओं को कुचल डालना। दास स्वामी राज्य ने स्वामियों के विरुद्ध बगावत करनेवालों को शस्त्रबल से कुचल डाला। सामन्ती राज्य में किसानों को जबरन जमींदारों का बंधुआ बनाया और जमींदार के लिए मेहनत से इनकार करनेवालों का बेरहमी से सजा दी। किसानों के जो बहुत सारे विप्लव हुए उन्हें खून में डुबो दिया गया। पूंजीवादी राज्य जनतन्त्र का जामा ओढ़कर चलना पसन्द करता है। पर वह मेहनतकशों को दबाकर रखने का यन्त्र है। उसका असली उद्देश्य वयक्तिक पूंजीवादी सम्पत्ति की हिफाजत करना मजदूरी की प्रथा को कायम रखना और सर्वहारा के क्रान्तिकारी आन्दोलन को कुचल डालना है। मा. का दर्शन पृ. २८२

'उसका मत है सर्वहारा अधिनायक नये वर्ग द्वारा अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु पूँजीपतियों के विरुद्ध जिनका सत्ताहरण के बाद प्रतिरोध दसगुना बढ़ जाता है कठोरतम और अत्यधिक निर्ममतापूर्वक संघर्ष है। सर्वहारा अधिनायकत्व नया वर्ग जनता राज्य हो जनता के राज्य में बदल जाता है। वह सम्पूर्ण जनता के हित की संस्था है। सर्वहारा अधिनायक द विजय के पश्चात् समाप्त हो जाता है। और सम्पूर्ण जनता का राज्य हो जाता है।' लेनिन संकलित रचनाएँ खंड ३ पृ. ४,०

कम्युनिस्ट नैतिकता समाज के बहुमत के हितों को पूरी मेहनतकश जनता के हितों और आदर्शों को व्यक्त करती है। उसमें व सामान्य मानवीय नैतिक मानदण्ड भी सम्मिलित हैं जो नागरिकों के विरुद्ध तथा नैतिक दुराचार के विरुद्ध संघर्ष के दौरान जनता ने प्राप्त किये हैं।— नाम बहादुर। बुजुर्गों का आदर लालच क्रूर और ईर्ष्या आदि से घृणा— इसी प्रकार की नैतिकता में शामिल है। यदि मनुष्य जो भी

उससे बन सकता है, समाज और जनता की भलाई केलिए करता है तो उसका अन्तःकरण शुद्ध रहता है। और उसके नागरिककर्त्तव्य की भावना ऊँची बनी रहती है। मा द पृ ३४५। 'सत्यतापूर्ण कला सदा ही जीवन और काय को जनता की सहायक रही है। —जनता म उन्नत राजनतिक नतिक एव आत्मिक गुण भरना लोगो के मस्तिष्क स अतीत क अवशेषो का उन्मूलन करने म सहायता करना, जनता के वीरत्व पूण प्रयासो को गहनता और सत्यनिष्ठा से साथ चित्रित करना।' मा वा द ३५८

उपयु क्त साम्यवादी विचार तुलसी के श्रुतिसम्मत सिद्धान्त का प्रतिरूप दिखाई देती है जब यह 'सर्वे भवन्तु सुखिन' का नारा लगाता है अत्याचार और शोषण के वालिवध केलिए अशुभ साधनो का स्वीकार करता है नीति, आचार और इमानदारी की स्थापना केलिए सचपरत रहता है सबके भरणपोषण और सुरक्षा की जिम्मेदारी राज्य को सौंपता है मानवमात्र की मुक्ति का बिगुल फूँकता है, दानवी पूँजीवाद का विरोध करता है कला को सवजनीन मगलकारी तथा शिक्षा का साधन मानता है, उत्पत्ति का भाग वेतनरूप म स्वीकार करता है कमचारियो के आवास की व्यवस्था राज्य पर देता है, शिक्षको कलाकारो का राज्याश्रित मानते हुए उन्हे स्वतन्त्रता भी देता है, परन्तु उसकी प्रगतिवाद और विकासवाद की मान्यता तुलसी के प्रतिकूल जाता है। तुलसीदास जी ह्रासवाद का सिद्धान्त मानते हैं। नतिक मूल्यो का क्रमश ह्रास हो रहा है, यह तुलसी का मत है प५ पुरातन राजतन्त्र शापणतन्त्र था, तुलसी का मान्य नही। उनके अनुसार पुरातन राज्यव्यवस्था त्याग और कर्त्तव्य पर आश्रित थी। हरिश्चन्द्र, शिवि, राम तथा ऐसे ही अनेक शासक तथा कमचारी शोषण कर्त्ता न होकर प्रजा केलिए त्याग करते पाये गये है। उनका राजतन्त्र साम्यवादी अधिनायकतन्त्र से उत्तम था।

यद्यपि साम्यवाद धम का अफीम [7] तथा चच को बुजआ का आचरण मानता है परन्तु कर्त्तव्य कर्त्तव्य केलिए मानकर गीता के कमयोग का मूक होकर समथन भी करता है। जो उससे बन पडे समाज की भलाई केलिए कर मे निष्कामकम की ही भावना भरी प्रतीत होती है। तुलसीदास जी ने भी पाखण्डवाद स्वाथवाद, ढागवाद को अफीम की तरह ही बताया है। स याम जो बाढ की तरह फला है, सभी वद्धावस्था का वस्तु था, मनु और कौटिल्य भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं तुलसीदास जी केलिए भी हितकर नही लगता। उन्हे यह भी मान्य नही है कि 'धम शोषण व्यवस्था [8] को सुदृढ करता है'— यारपीय धम का स्वरूप भले ही शोषण को बढाने वाला हो चच भले ही पूँजीवादी कारण हो किन्तु उपनिषद् गीता तथा मानवधम शास्त्र पर यह आरोप नही लगाया जा सकता। कौटिल्य की राज्यव्यवस्था तथा उसका अथतन्त्र साम्यवाद की तरह का होते हुए भी धम के उदात्त स्वरूप का विरोध नहा करता। धम की आत्मा और शरीर म भेद है। शरीर का मण्डन ही मानव करता

है, आत्मा, जो ज्ञान, विज्ञान और नीति के बंधन में है गतिशील है।

परिभाषा तथा शास्त्रपरिचय

काम शब्द का प्रादुर्भाव कमुः (इच्छा करना) धातु से है। ब्रह्म की जगत् सिसृक्षा[59] के मूल में भी काम तत्त्व है। वह एकाकी था, द्वितीय[60] की कामना के साथ उसने अनेक[61] की इच्छा की; इसलिए सृष्टि में प्रवृत्त होकर उसने लोकों का निर्माण किया। इस निर्माण में भी शिवशक्ति का रमण[62] हुआ। शैव आगमों के अनुसार नारी[63] शक्ति तथा पुरुष ब्रह्म के प्रतीक है। एक के बिना दूसरे की कल्पना अपूर्ण है। दोनों का आह्लाद ही सृष्टि है। यदि सृष्टि को यज्ञ माना[64] जाय तब उसका मूल काम होगा। काम गृहस्थाश्रम का उत्कृष्ट पुरुषार्थ है जो ईश्वररति में परिणत हो जाता है। धर्म अर्थ का फल सर्वप्रथम काम ही होता है। काम[65] मन का वीर्य है; वह मन को दबाने में समर्थ है। नासदीयसूक्त में इसे ब्रह्म की प्रथम सृष्टि रेत और बिन्दु का अग्रज बताया गया है। अथर्ववेद में काम को देवता मित्र बल देनेवाला, व्यापक, यजमान[66] को ओज देनेवाला मित्रीभाव रखनेवाला और साहस से प्रतिष्ठित बताया गया है।

कामसूत्र के आचार्य वात्स्यायन के अनुसार—'पंच ज्ञानेन्द्रियों की (आत्म संयुक्त मन के साथ रहकर) अनुकूल[67] प्रवृत्ति ही काम है।' स्थूल भाषा में मानसिक और शारीरिक सुखरूप ही काम है। काम वास्तव में सुख का हेतु है वह प्रजोत्पत्ति करनेवाला है। (कामात् सुखं प्रजोत्पत्तिश्च)। इस शास्त्र के आदि आचार्य स्वयं प्रजापति ही हैं। त्रिवर्गों[68] में काम का महत्त्व सर्वाधिक होने से इसके आचार्य शंकर के गण नान्दी बने, जिन्होंने एक सहस्र अध्यायों से युक्त कामशास्त्र का प्रसार किया तत्पश्चात् उसे उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु ने संक्षिप्त किया। उसे भी बाभ्रव्य ने १५० अध्यायों में संक्षिप्त किया, बाद में दत्तक चारायण गोनर्दीय घोटकमुख गोणिका पुत्र, आदिकों ने पृथक् पृथक् स्वतन्त्र प्रकरणों का निर्माण किया। महर्षि वात्स्यायन ने बाभ्रव्य के संक्षिप्त संस्करण को और संक्षिप्ततर कर कामसूत्र का निर्माण किया जो सात अधिकरणों में विभक्त है।

काम शास्त्र एक वैज्ञानिक ग्रन्थ है जिसमें शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान के साथ अन्य ललितकलाओं का समावेश भी है। इसका आधार गृहस्थजीवन है इसलिए उसमें सर्वविध शुभ अशुभ सभी तत्त्वों का समावेश है। कुछ तत्त्व परिवार के सुख को तथा उसकी नैतिकता को बढ़ावा देते हैं परन्तु कुछ ऐसे हैं, जो उसे विनाश की धारा में ढकेलते हैं। इन भयानक[69] तत्त्वों का वर्णन परिवार की रक्षा के लिए ही किया गया है; क्योंकि अनिष्ट के ज्ञान के बिना उससे त्राण पाना असम्भव है। तुलसीदास जी ने देशिक के यादवाभ्युदय की तरह काम के दोनों रूपों का चित्रण किया है। शूर्पणखा का प्रणयनिवेदन, बालि और रावण का परदारापहरण, कामशास्त्र का पुनभ

और पारदारिक अधिकरण के विषय हैं। रावण की चेष्टाएँ सीता को वश में करने के लिए ही थी। उसने दूतीकर्म की भी सहायता ली, परन्तु कामशास्त्र की स्थापना के अनुसार सच्चरित्र और पतिव्रता स्त्रियों पर सम्पूर्ण कुचेष्टाएँ असफल होती हैं, मानस में भी यही दिखायी देता है।

नायिका– स्वेच्छाचार करनेवाली– किन चेष्टाओं से पुरुषों को मोहित करती हैं उन्हें किन विधियों का आश्रय लेना चाहिए, काम[70] सूत्र का प्रयाज्योपावर्तनप्रकरण विस्तृतरूप से विवेचन करता है। दूती सच्चरित्र नायिकाओं की बुद्धि किस प्रकार विकृत कर देती है या कर सकती है दुश्चरित्र उनका प्रयोग किन उद्देश्यों से करते हैं इसे भी तुलसीदास जी ने काम शास्त्र के अनुसार मथराचरित्र में स्पष्ट किया है। पुनर्भू[71] सम्बन्ध तारा, मन्दोदरी तथा अन्य नारियों का काम शास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर ही कराया गया है।

काम एवं नारी

कामपुरुषार्थ का प्रधानोपादान नारीतत्त्व है। नारी के साहचर्य से गार्हस्थ्य का आरम्भ होता है। शास्त्रकारों ने नारी को भार्यारूप में ग्रहण करने के लिए अनेक विधियाँ बतायी हैं। सर्वोत्तमविधि विवाह है। विवाह किस प्रकार के पुरुष से नारी को करना चाहिए या किस नारी से पुरुष का होना चाहिए इस विषय में शरीर और मनोवृत्ति का ध्यान रखकर निर्धारित किया गया है। काम केवल शारीरिक तुष्टि ही है मानसिक तृप्ति भी है। इसलिए कामशास्त्र[72] विविध कलाओं को स्त्री पुरुष दोनों के लिए भी अध्ययनार्थ सीखने के लिये आदेश देता है। नारी परिवार का स्तम्भ है। इसलिए उसके आचार व्यवहार के साथ पाकशास्त्र, धनुर्विद्या काव्य और संगीत के ज्ञान की अपेक्षा रखी गयी है। संगीत कला और काव्य में रस है वे जीवन को सरस बनाने में अधिक योग देते हैं इनके अभाव में मनुष्य पुच्छविषाणहीन पशु[73] है।

कामशास्त्र यह जानकर संतुष्ट नहीं हो जाता कि मनुष्य जन्म से किस प्रकार की मनोवृत्ति का है या किन कमियों से युक्त शरीरवाला है वह औषधि[74] तथा शिक्षा के द्वारा उनके प्रतिकार का प्रयत्न करता है। अभ्यास से क्रोधी एवं चंचल स्वभाव के व्यक्ति भी अपने स्वभाव को संयत कर सकते हैं। औचित्य का ज्ञान भी कामपुरुषार्थ में आवश्यक है।

काम एवं नारीशिक्षा

स्त्रीशिक्षा के विषय में लोगों का मत विचित्र सा रहा है। कामशास्त्रकारों ने बड़ी दृढ़ता से स्त्रीशिक्षा का समर्थन[75] करते हुए उसे दो भागों में बाँटा है— कन्या के पिता के घर तथा कन्या के विवाह के उपरान्त पति के घर। (प्राग्यौवनात् स्त्री। प्रत्ता च पत्युरभिप्रायात् १।३।२) कामसूत्रकार ने पिता के घर में धर्मशास्त्र (नीति आचार विधि, अनुष्ठान शुचि अशुचि, राज्यव्यवस्था वर्णाश्रमधर्म, लोकधर्म इत्यादि)

अथशास्त्र- (धन उसका अर्जन हेतु साधन, कर, व्यापार, कृषि) पाकशास्त्र तथा गृह विज्ञान सम्बन्धी विद्याएँ, ललितकलाएँ और संगीत के साथ शरीर विज्ञान (कामशास्त्र का भाग) उसे अध्ययन करना चाहिए। वह, काम शास्त्र का प्रयोगशास्त्र पति के घर यौवनकाल में, या पिता के घर मौसी, बुआ, भावज, बडी बहिन तथा अपनी बडी सहेलियों से सीखे। शास्त्र की आज्ञा है कि इन उपर्युक्त अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि यौवन प्रविष्ट नारियों को, इस विद्या का रहस्य अनुभव के अनुसार शास्त्रमर्यादा में रहकर बतावें।

अर्थशास्त्र की सीमा में सम्पूर्ण ज्ञानविज्ञान का समावेश हो जाता है जिनका सम्बन्ध जीविका और धन से है। कामशास्त्र की सीमा में साहित्य कला, गृहविज्ञान मनोविज्ञान धातुविज्ञान, औषधिविज्ञान शरीरविज्ञान, तथा लोकव्यवहार हैं। इन शास्त्रों में कुछ ऐसी बातें हैं जो सबके लिए आवश्यक हैं कुछ का सम्बन्ध रुचि के अनुसार है। गृहविज्ञान मनोविज्ञान संगीत लोकव्यवहार नीतिशास्त्र, शरीरविज्ञान सामान्य औषधविज्ञान ऐसे विषय हैं, जो सभी नारियों केलिए उपादेय हैं। आज की नारी शिक्षा पाश्चात्य प्रणाली पर आश्रित है पावन वर्जित अपूर्ण है, उस छोटी छोटी बातों केलिए परमुखापेक्षी होना पडता है। जो छात्राएँ ज्ञानविज्ञान का अध्ययन करती हैं, उनमें उनका व्यावहारिक जीवन उपेक्षित सा हो जाता है यौवनावस्था पढने में समाप्तकर काम पुरुषार्थ से वंचित हो जाती है। अध्ययनकाल में अमर्यादित जीवन में पडकर भयानकगुप्तरोगों के पंजे में पडजाती हैं जिनका सम्बन्ध यौन अंगों और मन से है। कामशास्त्र में विभिन्न प्रकार के नारीजीवन का उल्लेख है जो आज भी समाज में परिवर्तित और विकृतरूप में पाये जाते हैं जैसे वेश्या गणिकाजीवन के बदले में कालगर्ल या अभिनेत्रीव्यवसाय। परन्तु गृहस्थजीवन की पुष्टि और प्रशंसा करना कामशास्त्र का प्रधान उद्देश्य है।

गृहस्थजीवन के लिए स्त्री और पुरुष दो प्रधान घटक[76] हैं दोनों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है किन्तु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं पोषक हैं, इसलिए दोनों को एक दूसरे की अपेक्षा तथा परस्पर दायित्व भी है। यह आवश्यक नहीं कि पुस्तक से ही ज्ञान कराया जाय, प्रयोगज्ञान[77] ही प्रधान है। प्रयोगज्ञान में कुशल पुस्तकज्ञान भले ही न करें किन्तु उनकी क्रियायें शास्त्रविरुद्ध नहीं होतीं। यदि सबसामान्य को शास्त्र ज्ञान न हो तो भी वह प्रयोगज्ञान रखता ही है। स्त्रियाँ[78] मन्दबुद्धि होती हैं यह तक अनुचित है। वात्स्यायन का कहना है कि राजपुत्रियां आमात्य पुत्रियां तथा गणिकाएँ शास्त्रज्ञान में कुशल एवं कुशाग्र देखी जाती हैं इसलिए उन्हें विविधशास्त्रों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

स्त्रीशिक्षा कहाँ हो सहशिक्षा हो या न हो इसपर कामशास्त्र तथा मनु का मत है कि वह घर में पिता के परिवार में ही हो। अभ्यास एवं अध्ययन का स्थान

सार्वजनिक न हो, उसे लोगों की भीड से मुक्त रखना चाहिए। कन्या केलिए अध्यापक गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट नारी ही उत्तम है। वह समवयस्का हो और बाल्यकाल से परिचित हो तो उत्तम है। कामशास्त्र का अध्यापन गम्भीर प्रकृति की अध्यापिका सफलता से नहीं कर सकती। अन्य उपयोगी विद्याओं की निर्देशिका मौसी, नौकरानी, बहिन, तथा गृहस्थ ब्राह्मणी या गृहस्थ जीवन के पश्चात् तापसी बनी ब्राह्मणियाँ हैं।

युवावस्थाप्रवेशकाल में पढ़ाई जानेवाली आवश्यक विद्याओं का नाम कला है। कामसूत्र की कलाएँ[80] गीत नृत्य लेखन, चित्रकारी, कागज और वस्त्र की कटाई मण्डल और अल्पना बनाना, कमरे में पुष्पादिक सजाना वस्त्र और शरीर का रंगना, मोती और मणियों का प्रयोग, शयनरचना जलतरंग बजाना जलस्थलक्रीडा, माला गूँथना नाट्यशाला या शृंगार विविध वस्तुओं से कलापूर्ण सामान बनाना हस्त शिल्प, ताश आदिक खेलों का जानना या हाथ की करामात, भोजन और पात्रनिर्माण, सीना, पिरोना और बुनना, लोकवाद्य बजाना पहेलीबुझाना, और बजाना, अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता कठिन श्लोक पढ़ना और बनाना विभिन्न शैली के पाठ नाटक और कहानी जानना और लिखना, समस्यापूर्ति बेंत के सामान बनाना स्वर्णकार और लोहार के सामान्य शिल्प का ज्ञान, गृहनिर्माणकला, धातु और रत्नपरीक्षा धातुरसायन मणिरसायन, वृक्षविज्ञान पशुपक्षीयुद्ध तोता और मैनों को पढ़ाना अंगुलिलिपि केश प्रसाधन और मर्दन, गुप्तभाषा विभिन्नभाषाज्ञान पत्तों से विविध शिल्प शकुन एवं निमित्तज्ञान यंत्रविद्या स्मृतिचमत्कार, सन्धीकरण, संक्षिप्तीकरण, कोषज्ञान छन्दज्ञान अलंकारज्ञान रूपकल्पना वस्त्र बदलना द्यूतक्रीडा बालक्रीडा, विनयशास्त्र अर्थशास्त्र व्यायाम एवं योगासन।

वास्तव में ६४ विद्याएँ ही नहीं अन्य उपयोगी विद्याएँ भी इनमें रखी जा सकती हैं जो इस काल और पात्र की अपेक्षा में उपयोगी हो। इनमें से कतिपय द्यूत आदिक विद्याएं छोड़ी भी जा सकती हैं जो परिवार केलिए अनुपयोगी हैं। अन्य शास्त्रों में विद्याओं की संख्या भिन्न भिन्न है। कलाओं में उपयोगी और मनोरंजनकारी दोनों ही शिल्प पठित हैं।

कला अभ्यासी के विषय में बताया गया है कि दुश्चरित्र गणिकाएँ भी कला और शिल्प के कारण समाज में पूजित होती हैं फिर कुलांगनाएँ कलाओं का अभ्यास कर परिवार को स्वर्ग क्या नहीं बना सकतीं? यह कला जहाँ परिवार के लोगों में आदर देती है पति के प्रेम को भी बढाती है विपत्तिकाल में समय बिताने का उपयोगी साधन है और विपत्तिकाल में सम्मानपूर्वक जीवनयापन का उत्तम आश्रय भी है। वात्स्यायन कलाग्रहणमात्र से ही सौभाग्यविवृद्धि मानते हैं स्यात् इनका प्रयोग क्वचित् असफल भी हो।

कलानां ग्रहणादेव सौभाग्य उपजायते।
देशकालावपेक्ष्यासां प्रयोगः संभवेन्न वा। १।३।२२ का सू

मानस म सीता और अनसूया, कैकेयी और उर्मिला कामशास्त्र के विविध पक्षो की जाननेवाली हैं तथा उन्हें प्रयोग करती देखी जाती हैं। मथरा, सखियाँ तथा पति ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्य भी अध्यापक रूप म आते हैं, यद्यपि उनकी कक्षा और पाठ्यक्रम का विधिवत् विवेचन नहीं है, परन्तु वात्स्यायन द्वारा गिनाए गए विषयो का उपयोग नारियाँ करती हुई पाई जाती है। अनुसूया तापसब्राह्मण की पत्नी हैं जो सीता को कामशास्त्रीय पातिव्रतरहस्य तथा उसका लाभ बताती हैं। मथरा कैकेयी को एकान्त म ज्यादा विश्वास म लेने को कहती हैं। वास्तव म यह कामशास्त्र की ज्येष्ठावृत्ति ही है [३]। उर्मिला कौशल्या का सहज प्रेम तथा समर्पण वसिष्ठ का वृत्त ही है। दशरथ का आचरण भी सहज होते हुए कामशास्त्र के अनुकूल है। वस्तुत व हीनव्यता का आसट यत्न है। सीता का प्रोषितपतिका जीवन, राम का सतत ध्यान पर पुरुष से द्वेष शृगार का त्याग इन प्रसगो म काव्य तथा कान्ति क्षय काम शास्त्र के अनुसार ही तुलसी ने प्रस्तुत किया है।

काम-कला और तुलसी-साहित्य

तुलसी का पुष्पवाटिका म सीताराम का मिलन तथा उनका मानसिकपरिचय एव अनुराग का अकुरण कामशास्त्र के अनुसार है। सखियो का पुन ध्यान का सकेत भी राम केलिए एक शिष्ट और शास्त्रीय प्रयोग ही है। विवाह के अवसर पर मगल गान, नृत्य, गीत एव वाद्य का नगर नारी वर्ग का होना उचित है तुलसीदास जी से समर्थित हैं। युवतिया जन्म विवाह और राज्य अभिषेक के अवसर पर मगलवाद्यवादन तथा मगलगान करती चित्रित हैं। कैकेयी का कौशल्या के विषय मे राजा से उपालभ सपत्नीदाह का चरम स्वरूप है। यद्यपि राजपरिवार की स्त्रिया के नाचने का सकेत तुलसीदास जी किन्ही कारणो से नहीं करते सम्भवत उनके युग म नृत्य उत्तरी भारत म वेश्यावृत्त मे चला गया था, परन्तु देवस्त्रियो या नगर नृत्य कई स्थानो पर चित्रित है। नारदमोह म भी कामशास्त्र के प्रयोग एव पुरुषक गुण के उपादान मिल जाते है एव पतिव्रता के जिन भी आचार कामशास्त्र म बताये गये हैं उनम अधिकाश का पालन तुलसी की नारिया करती हैं। सीता और कौशल्या ही नहीं राक्षसपुत्र की सुलोचना भी सतीत्व की सुरक्षा अपना कर्त्तव्य एव श्रेष्ठ धर्म मानती हैं।

कामशास्त्र मे माया और जादू का भी वर्णन है। मानस के अशुभपात्र—सूर्पणखा सुरसा ताडिका त्रिजटा छायाग्राहिणी तथा मारीचि आदि उनका उपयोग करते हैं। वशपरिवर्तन कपटप्रबन्ध परस्त्रीगमन एव उनका हरण कामपुरुषार्थ के अमगलपक्ष है। बालि द्वारा सुग्रीव की पत्नी का हरण रावण द्वारा सीता का हरण राक्षसियो द्वारा रावण का कौशल करना रामचरितमानस वर्णित करती और गीतावली मे कामपुरुषार्थ का एकता के साथ सिद्ध करते है।

तुलसीसाहित्य मे कामपुरुषार्थ के अनुष्ठान

तुलसीदास जी अपनी कृतियों मे काम के मर्यादित रूप को आदर्श मानते हैं। विवाह ऐसी संस्था है, जहाँ इसकी प्राप्ति अनायास एवं पूर्णरूप से होती है। केवल कामोपभोग ही गार्हस्थजीवन का पुरुषार्थ नहीं है मोक्ष भी है इसलिए तुलसीदास जी ने दायित्वविहीन काम को आदर्श नहीं माना, विवाह केलिए भी बाध्यता को स्वीकार किया। कुल तप और शील को ध्यान में रखकर ही स्त्री या पुरुष का चयन अपेक्षित है। सवर्णविवाह प्रत्येकदृष्टि से सर्वोत्तम है। यदि किसी कारण असवर्णविवाह हो भी तो पुरुष का वर्ण नारी से उच्च होना चाहिए ऐसी वैदिक मर्यादा है। सगोत्र विवाह का निषेध किया जाता है। विवाह का दायित्व माता, पिता एवं अभिभावक का है परन्तु इनके अभाव मे वधू या कुमारी का भी पुरुष चयन का अधिकार है जो स्वयं मे न होकर विवेक और धर्म से परीक्षा करके हो। सीता के स्वयंवर का औचित्य भी योग्य वर की परीक्षा से ही ग्रहणीय किया जाता है। विवाह में स्थायित्व होने पर ही सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं इसलिए योग्य पुरुष या स्त्री का चयन इसकी अनिवार्यता है। तुलसी साहित्य मे शूर्पणखा यहीं तक देती है कि तेरे समान पुरुष और मेरे समान नारी का संयोग[81] मिलना दुर्लभ है मैं कुमारी हूं इसलिए विवाह की अनुमति दो। वेदान्तदेशिक की रुक्मिणी भी शिशुपाल से विरक्ति दिखकर, कृष्ण को अपना पति इसी तर्क पर स्वीकार करती है।

ब्रह्मविवाह तथा ब्राह्मणत्व का विवाह त्याग पर आधृत होने से काम को गौण मानता है मुख्य सन्तान उत्पत्ति प्रधान किन्तु उसकी उपेक्षा नहीं करता। ऋषि मुनियों का गार्हस्थ्य रामचरितमानस मे स्पष्ट है। तुलसीदास जी ने किरातकुमारी को कामुकी बताकर इस व्यवहार का उपहास करने का प्रयास किया है।

मोक्ष और काम

मोक्ष मे काम को बाधक माना जाता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मोक्षसाधना काम के साथ हो ही नहीं सकती या कामोपभोग करने वाला संयत व्यक्ति मोक्षसाधना मे अनधिकृत है जैसा कि अद्वैती नास्तिकसम्प्रदाय जैन और बौध (हीनयान) लोग मानते हैं। वैदिकपरम्परा काम का निषेधन न कर उसकी अनिवार्यता[84] सिद्ध करती है। शरीर से अयोग्य व्यक्ति ही काम का त्याग कर सकते हैं अन्य के लिए कौटिल्य ने भी दण्ड का विधान किया है। वाम मार्गों ने वैदिक परम्परा की उपेक्षा कर मनमाने ढंग से तरुणसंन्यास की प्रथा आरम्भ की जो अवैदिक और अवैज्ञानिक परम्परा की देन थी।

तुलसीदास जी ने वेदान्तदेशिक की तरह विधिवत पत्नी का पाणिग्रहण किया था किन्तु बुद्ध की तरह आवेग में आकर उसे त्याग दिया था, जो उनके उद्दाम आवेग का परिणाम था न कि विवेक का। विवेक जागृत होने पर उन्होंने गृहस्थ-

जीवन का समर्थन किया। वेदान्तदेशिक सम्भवतः आजीवन गृहस्थमर्यादा में ही रहे या वानप्रस्थ तक, यह स्पष्ट करना असम्भव है। रामानुजपरम्परा में ब्राह्मणों की प्रपत्ति की दीक्षा यज्ञोपवीत के समय हो जाती है इसलिए वानप्रस्थ संस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। वैसे भी उनका वैखानसों का होता है अतः संन्यास का संस्कार अवश्य होता है।

तुलसी के मोक्षसाधक शंकरभगवान् विभीषण मनु आदिक गृहस्थ थे। हनुमान, काग भुशुण्डी तथा सुतीक्ष्ण ब्रह्मचारी थे जो नैष्ठिक थे। उन्हें वानप्रस्थ या संन्यास में रखना वैदिक भूल होगी। ऐसा मनु भी नहीं मानते। ब्रह्मचारी वर्ग में और संन्यासी के लिये काम बाधक है। गृहस्थ के लिए साधक है। मधुराभक्ति का उपासक तथा शाक्त काम का शोधनकर उसे भगवद्रति में परिणत कर देते हैं।

मनोविज्ञान, भक्ति संगीत और कला का नियामक, काम को ही मानता है। तुलसीदास का जीवन कितना सरस था लिखने की आवश्यकता नहीं काम के कारण ही उन्होंने भक्ति में सिद्धि प्राप्त की। उन्हें व्यक्तिगत कामसुख का अनुभव था, इसलिए भक्ति के पराह्न की कल्पना उन्होंने कामिहिं नारी पियारि जिमि प्रिया लागहु मोहि राम' कहकर की और भगवान् के माधुर्य की कामना की। वे गार्हस्थ्य का त्याग कर चुके थे इसलिए पुनः स्थूल काम की कामना नहीं करते, परन्तु रति जो काम का भाव है त्यागना नहीं चाहते भगवान् से निरवरति की कामना बार बार करते हैं इसका विस्तृत विवेचन भक्तिप्रकरण में किया जाएगा।

काम[83] काम के लिए का सिद्धान्त भक्ति का भी बाधक है इसलिए इसे अधम कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति लोकायतिक असंयत तथा शिश्नोदरपरायण मान जाते हैं। इनके जीवन में मर्यादा नहीं रहती, इसलिए ये अवैदिक होते हैं। तुलसीदासजी ने ऐसे प्राणियों की भर्त्सना की है। इन्हें लम्पट चोर लबार की उपाधि देकर इनसे बचने को कहा है।

संक्षेप में तुलसीदास जी वेदान्तदेशिक की तरह मर्यादितकाम का समर्थन वैदिकभावना से करते हैं। उसे वरदान मानकर ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं, अभिशाप समझकर त्यागने का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करते। वय के अनुसार सहजत्याग का समर्थन अवश्य करते हैं।

अपवर्ग या मोक्षपुरुषार्थ

भारतीय साधना में यह परमपुरुषार्थ चरम पुरुषार्थ और निःश्रेयस के नाम से जाना जाता है। विभिन्न दर्शनों के अनुसार मोक्षविषयक मान्यताएँ पृथक पृथक हैं। मोक्ष शब्द मुचधातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ छोड़ना या त्यागना है। मोक्ष की सबकी यह परिभाषा दुःख का त्यागना ही है। न्याय[84] वैशेषिक[85] सुखदुःख दोनों का त्याग शेष सभी दार्शनिक तीनों[86] प्रकार के दुःख का त्याग ही मोक्ष में निरूपित

करते है। योगशास्त्र[87] स्वरूप में अवस्थिति शांकरवेदान्त तथा बौद्धदर्शन अपरोक्षानुभूति या ब्रह्मानुभूति वैष्णववदाजितगण ब्रह्म की परानुरक्ति, पराभक्ति या नित्यलीला या सेवा ही मोक्ष बताते हैं। मोक्ष को वल्लभवेदान्ती[88] आत्मानुभूति या जीवानुभूति बताते हैं, वेदान्तदेशिक तथा शेष रामानुजी आचार्य (तिगले) इसे जीवात्मानुभूति या जीवात्मरति बताते हुए कैवल्य नाम रखते हैं, जो मोक्ष और संसार के मध्य की स्थिति है। उनका मोक्ष वैकुण्ठ की प्राप्ति है जो परमपद के नाम से वेदों में समाम्नात है। इसी को वल्लभाचार्य मतानुयायी शुद्धपुष्टि या लीलारस मानते हैं, जो ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव है।

सभी दार्शनिक[89] स्वीकार करते हैं कि मोक्ष, ज्ञान के बिना नहीं होता। ज्ञान दो प्रकार का होता है— तत्त्वज्ञान और सामान्यज्ञान। तत्त्वज्ञान भी दो प्रकार का है — शास्त्रज्ञान और अनुभवज्ञान। अनुभव के भी यथार्थ और अयथार्थ दो भेद हैं। यथार्थ अनुभव कारण और कार्य भेद से दो प्रकार का होता है। कारण भी दो हैं – जड और चेतन। सांख्य दोनों का अनुभव अनिवार्य मानता है योग आत्मानुभव (चेतना) से ही सन्तुष्ट हो जाता है। वेदान्त योगशास्त्र के अनुभव से इसकी विलक्षणता बताता है। सम्भवतः उसकी भूमिका समाधिज अनुभव है। समाधि में जीवात्मा अनुभव कैवल्य सम्पन्न होता है। परमात्मा के साथ प्रीति युक्त अनुभव की धारावाहिकता भक्ति की पारावस्था होती है। कैवल्य का अनुभवानन्द क्षुद्र होता है, भक्ति की आनन्दानुभूति वृहत् या वृहण।

भक्ति में आगम और आगमाय मोक्ष की न तो उपेक्षा है न उनका अनिवार्यतः सेवन। कैवल्य में ये दोनों अति आवश्यक हैं। भक्ति से भी कैवल्य की सिद्धि होती है, ऐसा योगशास्त्र तथा भक्तिशास्त्र का मत है परन्तु उत्कृष्ट भक्ति के उपासक भक्ति से कैवल्यसंज्ञक मोक्ष नहीं चाहते, क्योंकि वहाँ ईश्वर से वियोग रहता है। पराभक्ति के साधक को अनिच्छा होने पर भी कैवल्यपद मिल जाता है परन्तु भक्त उसका तिरस्कार करता है। शैवाचार्य तथा शैवदार्शनिक (शाक्त भी) कैवल्य को ही परमपुरुषार्थ मानते हैं क्योंकि वे शिव के साथ तादात्म्य को ही कैवल्य मानते हैं। द्वैतवादी शैवों का कैवल्य वैष्णवों के समकक्ष ही है।

नास्तिकदर्शनों[90] में परम्परानुसार जैन बौद्ध और चार्वाकों की गणना होती है। जैनों का मोक्ष[91] आत्मानुभूति है जो योगियों की तरह स्वरूपावस्थान है। उनका आनन्द क्षणपरिणामी[92] है जो उत्पत्तिविनाशधर्मा है। आस्तिकों के आनन्द और जैनों के आनन्दविषयकमान्यता में भेद है। जैन आनन्द को भोग और उपभोग दो भागों में बाँट कर व्याख्या करते हैं। आस्तिक आनन्द को अखण्ड और शाश्वत् मानते हैं। बौद्धों का मोक्ष सुख दुःख के अभाव की स्थिति है जो चार्वाकों और न्यायवैशेषिकों के निकट है। चार्वाक शरीरस्थ ही सुख दुख मानते हैं। शरीर या मन

के नष्ट हो जाने पर उन्हें परम शांति मिल जाती है। वैशेषिक और नैयायिक भी परम शांति ही चाहते हैं, परन्तु उनकी आत्मा मोक्ष में रहती है। उनका साम्य एक अंश में ही है, सर्वांश में नहीं। जन लोगों का मोक्ष (आनन्द) स्थिर नहीं होता इसलिए दुःख का होना भी सम्भव है। बौद्धों की आत्मा ही नहीं फिर मोक्ष का भोक्ता कौन ? शरीर तो रहता ही नहीं, मनका विनाश भी निश्चित रूप से है, पर धर्म और मोक्ष केलिए त्याग और साधना क्यों की जाती है ? आलयविज्ञान को आत्मा मानने पर उनका ज्ञाता एक समूह होगा जो क्षणधर्मा है इसलिए किसी एक आत्मा को मानकर ही पुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव है। चार्वाकों केलिए जिह्वा तृप्ति ही अपवर्गसुख है, जो रोगों का कारण है, इसलिए उनका निःश्रेयस या उत्कृष्ट सुख हो ही नहीं सकता।

श्रुतियों में चार प्रकार के मोक्ष बताए गये हैं जो क्रमशः सालोक्य सारूप्य सामीप्य और सायुज्य है। ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्म की तरह ऐश्वर्य भोगना सालोक्य है ब्रह्मलोक में ब्रह्म के रूप की तरह रूपवान होना सारूप्य है ब्रह्म के पास रहना निकटता का अनुभव करना सामीप्य है और ब्रह्म से संश्लिष्ट होना सायुज्य है। अद्वैत वेदान्ती चतुर्थ मोक्ष को ही शुद्धमोक्ष मानते हैं शेष को ईश्वर के साथ जोड़ते हैं। उनका ईश्वर सतोगुणी मायाविशिष्ट है इसलिये सालोक्यादि मोक्षत्रय भी मायामय (व्यावहारिक) होना चाहिए।

द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्ती जिनमें द्वैताद्वैतवादी भी है ईश्वर को ही पूर्ण और शुद्धब्रह्म मानते हैं इसलिए उनका ईश्वर माया से शुद्ध है माया विशिष्ट नहीं। उनके मोक्ष की चारों स्थितियाँ उत्कृष्ट है। वेदान्तदेशिक क्रममुक्ति स्वीकारकर सायुज्य को सर्वोत्कृष्ट मानते है। वे कैवल्य को भी, जो इन चारों से पृथक है क्रममुक्ति का एक सोपान मानते है। पिगले मतानुयायी कैवल्यसुखभोगनेवाली जीवात्मा को सदा केलिए ब्रह्मसुख से वंचित करते हैं। जैसे पतिपरित्यक्तानारी की स्थिति है वैसे कैवल्यप्राप्तजीव की स्थिति है। जीवनमुक्ति रामानुजसम्प्रदाय में अमान्य है वेदान्तदेशिक इस शब्द का प्रयोग भाक्त मानकर करते हैं। शंकराद्वैतवादी जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि यह परमहंस परिव्राजकों को ही मिलती है जो संन्यास आश्रम ग्रहण करते हैं पर भक्ति सबको सुलभ है।

जीवनमुक्ति का अर्थ ब्रह्मनिष्ठ होना है। अपरोक्षानुभूति समाधि में होती है उससे सकल अज्ञान नष्ट हो जाते हैं, वह ब्रह्म और जीव की एकता का अनुभव कराती है। जीवित रहनेपर भी जीव के चित्त से कर्तृत्व भोक्तृत्व समाप्त हो जाता है इस पर अतीत एवं भावी किसी भी कर्म का प्रभाव नहीं होता, इसलिए जीवितावस्था में ही मोक्षसुख भोगनेवाला जीवन्मुक्त[56] कहा जाता है। वेदान्तदेशिक का मत है कि शरीर के रहने से जीवात्मा का सम्बन्ध भी रहता है इसलिए उसके प्रारब्ध कर्मों का

भोग होना है ऐसी स्थिति म उसे मुक्त न मानकर मुक्त के समान माना जा सकता है। वास्तविक मोक्ष शरीर के नष्ट होनेपर जब जीवात्मा परमपद को प्राप्त करता है, ब्रह्म सश्लिष्ट होता है तभी होता है।

अद्वैतवाद का कथन है कि मोक्ष कहीं बाहर गमन करने से नहीं होता यहीं प्रत्यगात्मबोध[96] होन से होता है।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो न तु तत्त्वत ।
गुणस्य माया मूलत्वात् न मे मोक्षो न बन्धन ॥

वास्तव में बन्धन और मोक्ष होता ही नहीं बन्धन और मोक्ष प्रकृति का होता है वही चिद्रूप में पुरुषार्थ भी करती है, क्योंकि मन बुद्धि और अहकार का सघात ही जीव अद्वैतवाद म स्वीकृत है जो अणु है।

वेदान्तदेशिक जिस प्रकार कैवल्य को स्वर्ग से उत्कृष्ट मानकर मोक्ष से भिन्न मानते हैं तुलसीदास जी भी उसी स्वर एव लय म उसे स्वीकार[97] करते हैं। ज्ञान से मोक्ष[98] मिलता है, सभी वेदान्ती मानते हैं परन्तु ज्ञान की मान्यता उनकी पृथक है। वेदान्तदेशिक न तो आत्मा को ज्ञान मानते हैं न अपरोक्षानुभूति का सायुज्य। उनके अनुसार ज्ञान एक पृथक द्रव्य है जो आत्मा म है। आनन्द की राशि आत्मा म है परन्तु वह आत्मा आनन्दमय परमात्मा के साथ होता है।[99] तुलसीदास जी विदेहमुक्ति मानते हैं जीवन्मुक्ति जो शकराचार्य की मान्यता[100] है उन्हे स्वीकार्य नहीं है। ज्ञान से भक्ति श्रेष्ठ है तुलसीदास जी मानते हैं। वेदान्तदेशिक भी भक्तिवादी हैं। वेदान्तदेशिक भक्ति और प्रपत्ति दो रूपों मे मोक्ष देखते हैं, तुलसी दोनो केलिए मुक्ति का प्रयोग करते है किन्तु दास्य भाव पर भी बल देते हैं। माया वेदान्तदेशिक की तरह तुलसी को भी मान्य है किन्तु मोक्ष की अनेक विधाओं म भक्ति और प्रपत्ति भी है जबकि शकराचार्य ज्ञान तथा लोकाचार्य प्रपत्ति पर आग्रह करते हैं। ज्ञान शब्द शास्त्रज्ञान और तत्त्वज्ञान केलिए भी होता है इसलिए तुलसीदास जी भी परा-भक्ति में ज्ञान के बिना सिद्धि सम्भव नहीं मानते। वृत्तिज्ञान तुलसी तथा देशिक दोनों को मान्य है। अद्वैतवेदान्ती भी योगियों की तरह अनुभूति स्वीकार करते हैं परन्तु उनके यहाँ अद्वैतानुभूति दृश्यद्रष्टा म भेद का (स्वगत—परगत) सर्वथा नाश होना है। तुलसीदास जी ब्रह्म और जीव को समानान्तर मानते हैं, उनके यहा ब्रह्म और जीव सहज सघाती हैं। एसा न माननवाला को व भ्रम कहते हैं।

पुरुषार्थचतुष्टय के पोषक वैष्णवसम्प्रदायों म रामानुज की औदीच्य शाखा का विशेष स्थान है जिसके मार्गदर्शन का श्रेय वेदान्तदेशिक को ही है। वेदान्तदेशिक ने सदाशिवदृष्टि से तो लोक और वेद दोनो को अपनाया ही अपने जीवन म उनका उपयोग कर उन्हें व्यावहारिकरूप म सबके सम्मुख प्रस्तुत भी किया। वे उच्च कोटि के वेदाभ्यासी मीमासक पाण्डित्यपूर्णसमालोचक कवि तथा मौलिक उद्भावनाओं के

मनी दार्शनिक तो थे ही, लोकोपयोगी वस्तुओं के निर्माता भी थे। शिल्प वस्तु एव मूर्तिविद्या मे निष्णात भी थे। व महान् धर्माधिकारी होकर राज या वेजारा का काय भी गौरव से कर सकते थे। वे सफलपिता, आदर्शपति कुशल अध्यापक एव नम्र समाजसेवक भी थे। ऐसे व्यक्ति का प्रभाव परवर्ती विभिन्न सम्प्रदायो पर तो पडा ही, तुलसी का वदिक व्यक्तित्व उनकी उपेक्षा न कर सका। उन्होने वेदान्तदेशिक के मस्तिष्क और हृदय का लाभ उठाकर जनता की महान् भाषा म महान् ग्र थो का सजन किया जिनमे चतुवग की प्रतिष्ठा साफल्य के साथ की गयी है।

धम अथ काम और मोक्ष चारो तत्त्वो पर ध्यान रखकर मानव जीवन को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न दोनो व्यक्तियो ने किया है। अन्य भक्तो और सन्तो न गृहस्थाश्रम को हीन तथा काम को जघन्य मानकर उसकी भत्सना करन का प्रयास किया है। वर्णाश्रम धम मे शूद्र साधना मे अपेक्षित रहा है अन्य जातियों की स्थिति भी बहुत अच्छी नही मानी जा सकती परन्तु प्रपत्तिविद्या को उत्कृष्ट घोषित कर उनकी उपयोगिता तथा महानता का शखनाद वेदान्तदेशिक और तुलसीदास दोनो ने समान रूप से किया है।

षष्ठ सोपान

पद-टिप्पणी

१–जँह लग साधन वेद बखानी सब कर फल हरि भगति भवानी। रा मा उ १३५।७, २–मान स द पृ ए१ ३–मनु० १।२६ ४–कलि सुपथ पाखण्ड। दोहावली ४५६, ५–यथावायु समाश्रित्य वतन्ते सवजन्तव। तथा गृहस्थमाश्रित्य वतन्तेसर्वाश्रमा। यस्मा त्त्रयोप्याश्रमिणो न नेना तेचा वहम्। गृहस्थेनैव धाय ते तस्मा येष्ठाश्रमोगृही। मनु० ३।७७ ७८ ६–योसू १।१।२ ७–श्रीमद्भगवद्गीता २।४७ ८–रा मा उ १०२।१४, ९–दोहाव०५६० १०–रा मा कि १०।७ ११–रा मा अयो १७१ १२–रा मा बा १५४।१ १३–धमशास्त्र का इतिहास पृ ३४ पी वी काणे। १४–नोदनति विधि निषेधात्मक श्रौतीविधि उपदेश मडगृह्यते सहि ईश्वराज्ञारूपतया से मी पृ ३१ १५–विधि निषधमय कलिमल हरनी। रा मा बा १।६ १६–कहहिं वेद इतिहास पुराना विधिप्रपञ्च गुण अवगुन साना। रा मा बा ५।३ १७–सवत्रदवेत्यवधानाव्यवधानाभ्याम् विष्णुरव यष्टव्य इति वेन्वेन त निणय। अतएव उच्यत वेदाविप्रा केनचश्चैव राशि परिमाण टीका, १८–तथा काल महेनस्य पचाम्नाया मयोन्निता। उद्ध व ाम्नाय समुन्दिष्ट वचिक कम तस्य तत्। तत्प्रमाणा वेदास्यु तन्शा स्मृतयस्तथा। तदगानि गायत्र्य दिरच देवता। ब्रह्मबीज तथा क्षेत्र सस्कारात ब्राह्मणमता। भरतत्र १०।१४ १६ १९–शु यजु मा ३२।८ तथा ऋग्वेद १०।९० २०–तु दा चि क पृ १४७–तुलसी के दार्शनिक विचार-बा कि कौव।

२१ रा मा उ ६६।१, १०२।४, कवि उ ८४ ८५ वि प १३६।४, २२–रा मा उ ८६।२, २३–रा मा उ ९७।१ ८,९८।१ ७, १०० क, २४–वही २० ९८।१ १०० क २५–वही १०२।४ कवितावली उ ८४,८५ २६–रा मा उ २०, २१।१ २७–मनु १।३१ गुप्त आ नारा २८–दान प्रतिग्रहञ्चव ब्राह्मणानापकल्पयत् १।८८ तथा सरजूपारी ब्राह्मण वंशावली मा खेलाडीलाल बनारस। २९–मनु १ ९६ ३०–मागेउँ भीख त्यागि निज धर्मा। रा मा अयो २०४।४ ३१–वही २०४।२, ३२–मनु १।९६ ३३–भ गी ४।१३, १८।१३ पा गृह्य सूत्र छान्दोग्य ब्राह्मण विवाह पद्धति वायुनन्दन, ३४–मनु १०।७८, ७९ ३५–रा मा बा १८९।३ १९६।१ २०४।२ ३६–अध्याप्यध्ययन शील स्यत् न व्याख्यान परोयति । नार परि उप ३७–वही कौपीन युगल कन्था दण्ड एक परिग्रह।' १२८।, ३८–ऐतरेय ब्राह्मण १।१४ ३९–अष्टाध्यायी ४।२।१२१ ४।३।६७ ४०–राजहु काज अकाज० कविता० अयो ४१–ज सुराज प्रिय प्रजा दुखारी० रा मा उ ४२–रा मा बा १३०।१ २, १५३।२ २०५।२ ३ ४३–वि प ४४।८ १३६।१० गीता उ २४।१ २, ४४ रा मा अयो १७२।२ ४५–रा मा अ ४६–रा मा अयो ७१।३ १२८।२ १७२।२ २१।४ ४७–गीता ७।२५ २६ ४८–सा दर्शन पृ २२१ ४९–को अ ६।७ ५०–का सू १।२।२६, ५१–ए हि आफ इमे थाट पृ १०८ ५२–को अथ शा २।२९ ५३–वही २।२८ ५४–कवि उत्त ९७ ५५–को अथ शा ३।१३ ५६–ए कम्प स्टडी प्लेटो एण्ड तुलसी पृ २८८, ५७–भा द पृ ३५१ ५८–वही ५९–व अर उप १।४।१ ६०–वही १।४।३ ६१–तै उप २।३ ६२–शिव शक्ति समायो गात् जायते सृष्टि कल्पना ६३–शंकर पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी ॥ ६४–अथर्ववेद १९।५९।१, ६५ ऋग्वेद १०।१२९।४ ६६–अथर्ववेद १९।६।५२।२ ६७–का सू पृ ११ ६८–वही १।१।५ ६९–वही ५।१।१, ७०–वही ३ ४।५ ७१ वही ४।२।४१ ७२–वही १।२।१२ १५ ७३–साहित्य संगीत० संगीत दर्पण ७४–का सू पृ ७३ ९७ ७५–वही १।३।४ ७६–पू मी ध पा ५५ ७७–का सू १।३।४, ७८–वही १।२।११, ७९–वही १।२।१२ ८०–वही १।३।१५ ८१–रा मा अर १६।८ ८२–ऋग्वेद १०।१५। ३६ श ब्रा ५।२।१।१० ऐ ब्रा ८।७।२।३ विष्णुधर्मसूत्र ३२।१ ८३–का सू १।५।३८ ८४–या सि मु पृ १७३ ८५–व सू १।१।२, ८६–सा का १ ८७–यो सू क ८८–स त दी भा २।५ ७ ८९–वै सू १।१४ या सू १।१।२ त यो वा ५।७३। ३६ ब्र वा पृ ३५ ९०–मनु २।११ ९१–त सू १०।३ ९२–ज द आ पृ २०९, ९३–वही ९४–स र पृ २७, ९५–वे सार पृ ९३, ९६–वही पृ १००, ९७–रा मा उ १०२ ख।१ २ ९८–रा मा अर १५।१ ९९–वही, १००–सोमम भगति भगत सुख नाई।, १०१ रा मा उ १५। मिलइ जो संत होइ अनुकूला ॥

— • —

श्री ।

सप्तम सोपान

वेदान्तदेशिक और तुलसी की

भक्ति और प्रपत्ति

भक्ति मन की रागात्मिका वृत्ति है। यह[1] परम अनुरक्ति है। परम अनुरक्ति प्रियतम से ही सम्भव है। प्रियतम का वरण होता है। यह कार्य अनायास नहीं होता। वरण के लिए व्यवसायात्मिका वृत्ति अपेक्षित होती है। बुद्धिपूर्वक वरण ही प्रेम में उपयोगी होता है। महर्षि नारद के अनुसार ईश्वर ही प्रियतम है। उसके प्रति की गई भक्ति ही परम प्रेम रूपा है— सात्वस्मिन् परम प्रेम रूपा। प्रेम क्षुद्र नहीं होता। वह भूमा का प्रसाद है। इसलिए अमृत है। इसे पाकर ही जीव कृतकृत्य हो जाता है, सभी सिद्धियों को पा लेता है अमृत को प्राप्त कर तृप्त हो जाता है उसे अन्य किसी वस्तु की वाञ्छा नहीं होती। उसके मन से चिन्ता द्वेष एवं विषयासक्तियाँ समाप्त हो जाती है। लौकिक एवं वैदिक क्षुद्र कामनाएँ उसमे नहीं रहती। भगवान् मे ही अनन्यता रहती है। भगवद्भिन्न वस्तुओं में औदासीन्य देखा जाता है। उदासीनता घृणा या द्वेष नहीं है और न तटस्थता ही है। लौकिक और वैदिक कर्म में भगवद्बुद्धि रखना ही उदासीन होना है। अनन्यता शास्त्र की उपेक्षा नहीं सिखाती। परमप्रेम होने पर भी शास्त्र का अभ्यास होना ही चाहिए ऐसा न होने से जीव के पतन की सम्भावना अधिक रहती है। यह भक्ति साध्य और साधन दोनों रूपों में देखी जाती है। वेदान्तदेशिक भी दोनों रूपों को मानते हैं।

स्वामी रामानुजाचार्य के अनुसार अविच्छिन्न तैलधारा की तरह भगवत्स्मृति ही भक्ति है। स्वा० मधुसूदन सरस्वती के अनुसार चित्त की द्रुति ही भक्ति का मूल है। ज्ञान से भक्ति की भिन्नता का कारण चित्त परिणाम ही है। ज्ञान में चित्त शान्त रहता है परन्तु भक्ति में द्रवित हो जाता है। वल्लभाचार्य ने भक्ति को पुष्टि से अभिन्न बताया है। भक्ति की पराकाष्ठा उनके अनुसार शुद्ध पुष्टि है। चैतन्य तथा अन्य भक्तों की मान्यता प्रेम की ही है। वेदान्तदेशिक भक्ति का अंग नवधाभक्ति या प्रपत्ति भी मानते हैं। जिस प्रकार भक्ति प्रपत्ति का अंग है वैसे ही प्रपत्ति भी भक्ति का अंग है। लोकाचार्य प्रपत्ति को अंगी ही मानते हैं अंग नहीं। भक्ति और प्रपत्ति का अंग हो सकती हैं। स्वामी मधुसूदन सरस्वती के मत में ब्रह्मविद्या भक्ति से पृथक् है। द्रवित चित्त मे भगवदाकाराकारित वृत्ति ही भक्ति है। यह वृत्ति सविकल्पक होती है (द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्ति)। मन जो द्रवीभावत्व को न प्राप्त होकर निर्विकल्पक सच्चिदानन्दवृत्ति धारण करता है वह ब्रह्मज्ञान है। भगवद्भक्ति सगुणब्रह्म अर्थात् मायावच्छिन्न ईश्वर की ही हो सकती है। उसके गुणा

का श्रवण और तत्सम्बन्धी ग्रन्थो का परिशीलन भक्ति के साधन हैं। तत्वमसि आदि औपनिषदिक वाक्यो के द्वारा अपरोक्षानुभूति की साधना होती है। भक्ति का फल प्रेम की पराकाष्ठा है। ज्ञान का फल अनार्थो का नाश तथा तत्कारणमूलक अज्ञान की निवृत्ति है। ब्रह्मविद्या म साधनचतुष्टययुक्त परमहसपरिव्राजक को ही अधिकार है अन्य को नही। भक्ति म प्राणिमात्र को अधिकार है। यज्ञ, दान तथा अन्य पुण्यकाय दोनो में उपकारक हैं। भक्ति का सुख लोक और स्वग के सुख से पृथक है। भक्ति सुखेच्छुओ केलिए मीमासा का आरम्भ नही होता, उनकेलिए वेदान्त व्यथ है।' भक्ति सुखासक्तान्प्रति तस्या अनारम्भात्। जीवनमुक्त भी भगवद्भक्ति की कामना करते हैं।

रसज्ञ[6] इस परमपुरुषाथ बताते हैं। रस का अनुभव करने वाले भी इसका समथन करते हैं। समाधिसुख की तरह भक्तिसुख भी स्वतन्त्र पुरुषाथ है। मोक्ष के निकट होने के कारण मोक्ष के अन्तर्भूत हो जाने के कारण अथवा भोगधमजन्यता के कारण, धम मे अन्तभूत होने के कारण, भक्ति सुख को भी भागवत् धमजन्यता के कारण धर्मान्तभूत होने से, श्रद्धा जडो केलिए पुरुषाथ कहा जा सकता है। भक्त को ससारात्मक मोक्ष की आवश्यकता न होने के कारण भी 'भक्तियोग' नाम समीचीन है। इसलिए भक्तियोग पुरुषाथ है क्योकि वह परमानन्दरूप है। इस निर्णय में कोई वमत्य नही है। तुलसीदास इसे 'अनुपम सुख मूला' बताते हैं।

चित्त के द्रवित होने पर उसमे भगवदाकार के प्रविष्ट हो जाने से (उसम) सभी जगत् का प्रमाण भगवद्रूप मे ही उपपन्न होता है। अत एव ब्रह्म विदेवैताद्दश (वेदान्तदर्शनिक) जिनका सिद्धान्त है वे निरस्त हो गये। द्रवावस्था स उत्तम मध्यम अधम भक्तो की पेक्षा होती है। उसमे सिद्धो की कोई कोटि नही होती। तस्य ब्रह्म विदा द्रवावस्थाया अनपेक्षितत्वेन उत्तम मध्यम प्राकृत भक्तेष्वगणनीयत्वात्। भक्ति-रसायन।[6]

भक्ति मे तीन प्रकार की चित्तभूमिया सम्भव हैं — सतोगुणी १ उत्तम, सत, रज मिश्रित २ मध्यम तथा ३ प्राकृत।[7] प्राकृतभक्ति में तमागुण भी सक्रिय रहता है। ज्ञान या समाधि म चित्तवृत्ति शान्त रहती है। भक्ति म द्रवावस्था होने से उसम हलचल होना सम्भव है। चित्तद्रुति अनेक कारणो से होती है इसलिए भक्ति एव भक्तों की भी अनेक कोटियाँ होनी हैं। ये भेदोपभेद स्वतन्त्र रूप से नहा है। यथा—

चित्तद्रुते कारणाना भेदात् भक्तिस्तु भिद्यते–२

भक्तेस्तूक्त लक्षण या विनेपोन, तेषामेव स्वतन्त्रतया किन्तु चित्तद्रुतिकारणाना विशेषादिति

भगवान्[8] परमानन्द स्वरूप स्वय मन प्रविष्ट होकर प्रतिबिंबितरूप मे स्थायिभाव होकर रसरूप म परिणत होते हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद होता है। बिम्ब ही उपाधिवशात् प्रतीयमान होता हुआ उपाधिनिष्ठ प्रतिबिम्ब कहलाता है। भगवान् और उनके प्रतिबिम्बभूत रस म कोई भेद नहीं हैं। भक्ति रस परमानन्दरूप

निर्विवाद है। आलम्बन विभाव और स्थायिभाव म एकता नही है। बिम्बप्रतिबिम्ब म व्यवहार सिद्धि के लिए भेद दृष्ट है, यथा ईश्वर और उसके प्रतिबिम्ब जीव म है। तुलसी इसे नही मानते। (वे अश अशी भाव मानते हैं।)

भगवान् परमानन्द स्वरूप स्वयमेव हि।
मनो गतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कल ॥१०॥ भक्ति रसाय।

भक्ति पुरुषार्थरूपा भी है और साधनरूपा भी। भजन करना अर्थात् अत करण का भगवदाकारता धारण करना ही भक्ति है इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ से फलरूपा भक्ति ग्रहण होती है। वह परमपुरुषार्थरूपा ही है। दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा चित्तभगवदाकार धारण करता है वह साधनरूपा करण व्युत्पत्ति से, श्रवण, कीर्तनादिकरूपा भक्ति है। अत्र करण व्युत्पत्या प्रथम भक्ति शब्द भागवतेषु प्रयुक्त द्वितीयस्तु भाव व्युत्पत्या फले।— तस्मात् साधन फल भेदेन भक्ति द्वविध्योपपत्ति।

भक्ति की दस भूमिकाएँ हैं। पहली भूमिका साधुसेवा दूसरी उनकी दया का पात्र होना, तीसरी श्रद्धारूपा– उनके धर्मों मे हैं चौथी हरिगुणानुवाद श्रवण और इनमे प्रेम उत्पन्न होना, पाचवी स्वरूपानन्दभूता छठी प्रेमवद्धि सातवी स्फुरणरूपा आठवी भगवद्धर्म मे निष्ठा नवी बाह्य पदार्थ मे भी भगवद्गुणो का अनुसन्धान करना, दसवा प्रेम की चरम परिणतिरूपा होती है—

प्रथम महता सेवा तद्दया पात्रता तत। श्रद्धाथ तेषा धर्मेषु ततो हरि गुण श्रुति ॥२४॥
ततो रत्यकुरोत्पत्ति स्वरूपाधिगति स्तत। प्रेम वद्धि परा नन्द तस्याथ स्फुरण तत॥३५॥

भगवद् धर्मनिष्ठा ऽतस्तस्मिस्तद् गुण शालिता।
प्रेम्णोऽथ परा काष्ठेत्युदिता भक्ति भूमिका ॥३॥
भक्ति रसायन प्रथमोल्लास पृ –८।

उपयुक्त भूमिकाओ म दसवी भूमिकातक की मर्यादा साधनाभ्यासरूपा है, इससे परे अयत्न साध्यरूपा है। अष्टमी प्रेमाभिव्यक्तिरूपा है। नवमी फलभूता है। इस प्रकार भगवान के गुणो के तुल्य भागवत मे भी दशमी भूमिका म गुणो का आविर्भाव होता है। प्रेम की पराकाष्ठा विरहावस्था मे प्राण त्याग तक पहुँच जाने से होती है। वल्लभदर्शन की मान्यता इससे मिलती है परन्तु क्रमभेद है तुलसीदास की रचनाओ मे यह किंचित् परिवर्तन से सुलभ है। व दोनों अवस्थाओ म इन भूमिकाओ को पाते हैं।

महर्षि नारद के अनुसार भक्ति के दो भेद हैं, शुद्धा[9] और गौणी। शुद्धा साध्यरूपा है आनन्दमयी है। मूकास्वाद की तरह है किसी किसी प्रेमास्पद[10] पात्र म प्रकट होती है। भगवान्[11] की कृपा से या भगवद्भक्त की कृपा स इस फलरूपा भक्ति का अनायास उदय होता है।[12] वह कर्म ज्ञान और योग से भी अधिक उत्कर्ष वाली है। इस मे समर्पण करनेवाले को विषय और उसकी आसक्ति का त्याग अपेक्षित

है।[19] उसका साधन ज्ञान है। यह[14] भक्ति रति ही है, जो परमात्मा और जीवात्मा की होती है ऐसा महर्षि शाण्डिल्य का मत है। भक्त[15] इसे पाकर निखिल ब्रह्माण्ड मे प्रेम की पराकाष्ठा देखता है, सुनता है, वर्णन करता है। वास्तव म इसका विवेचन अनिर्वचनीय ही है। अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप गौणीभक्ति साधनरूपा है जो परा मे सहायिका है या लोकपणा मे भी सह यिका[16] भेद से तीन प्रकार की है सतोगुणीभक्ति रजोगुणीभक्ति और तम प्रधानाभक्ति तथा आर्तभक्ति,[18] अर्थार्थी भक्ति जिज्ञासा वत्तिमती भक्ति।

यह भक्ति[19] शान्तस्वरूपा और परमानन्दस्वरूपा है। इसमे किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती क्याकि सभी लोक वेद भगवान् को निवेदित होते हैं। लोक व्यवहार[20] भक्ति म हेय नही है, फल जो स्वार्थ भाव से प्राप्त किया जाता है, अनासक्तभाव या भगवद्भाव स नहीं किया जाता हेय है।

प्राय[21] ससार का मूल अज्ञान माना जाता है यह उचित नहीं है। ससार का कारण जीव म भगवद्भक्ति का अभाव ही है एसी महर्षि शाण्डिल्य की मान्यता है। ससार[22] की उत्पत्ति, स्थिति विनाशादिक भाव वास्तव मे आविर्भाव तिरोभाव रूप ही हैं जो क्रिया फल के सयोग से प्रतीत होत हैं। यह विश्व[23] भगवान् स पृथक नहा है उसका स्वरूप ही है।[24] यह जडप्रकृति ही माया है जो उसकी[25] शक्ति भी है। भगवान् व्यापक[26] है तथा नामरूपात्मक जगत् व्याप्य है। ससार ही भगवान्-मय है। उसक भिन्न कुछ भी नही है। किंचित् परिष्कार के साथ वेदान्तदर्शन और तुलना इस मानत है। जगत् उनके यहाँ स्वभ व है या स्वरूप।

भक्ति क अग ज्ञान और याग दाना ही हैं। ईश्वरप्रणिधान गौणीभक्ति के अन्तर्गत है जो समाधि केलिए साधनभूता हैं। उपनिषदा म देवभक्ति के विषय में कहा गया है। वह भक्ति ईश्वर के प्रति ही है। वह भक्ति मुख्य है क्याकि शेषज्ञान और योग उसी की अपेक्षा रखते है— सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् १।२।१० शा०। लोक म भी देखा जाता है कि दर्शन के बाद ही प्रीति होती है, इसलिए परमार्थ मे भी ज्ञान या दर्शन क ब द ही भक्ति की सिद्धि हाती है। यह भक्ति ज्ञान तप और कर्म सबसे श्रेष्ठ है। गीता अध्याय ६ श्लोक ४६ म भी यही बात हैं। श्रद्धा और भक्ति मे भेद है, श्रद्धा ही भक्ति नहीं है। वह कर्म का अग भूत है। वह ज्ञान भी नहीं है द्वेष म भी ज्ञान होता है। भक्ति के उदय से ज्ञान का क्षय हाता है। 'तयोपक्षयाच्च।'[27] ज्ञानी का भी प्रपन्न होना बताया गया है, इसलिए ज्ञान प्रपत्तिरूप नही है जैसे सकाम अज्ञानी अन्य देवता की शरण लेते हैं परन्तु वह शरणागति ज्ञान से सर्वथा भिन्न ही है। वेदान्तदर्शक इस लौकिक या सकुचित धर्मभूतज्ञान कहते हैं। श्रुति में ब्रह्मकाण्ड भी है। वह भक्ति केलिए ही है। वह ज्ञान केलिए नहीं है, जसा कि कतिपय आचार्य मानते हैं। ब्रह्मकाण्ड अज्ञान अन्य का ज्ञान कराता है कर्मकाण्ड और भक्तिकाण्ड

भी अनात अथ का नान कराते हैं, इसलिए महर्षिशाण्डिल्य के अनुसार तीनो काण्ड समान है। भक्ति केलिए यह काण्ड आरम्भ होता है इसलिए इस ब्रह्म काण्ड को भक्तिकाण्ड भी मानना चाहिए (ब्रह्मकाण्डतु[28] भक्तौतस्यानुज्ञानाय सामान्यात् । भक्ति और नान एव साथ रहकर मुक्ति म सहायक हैं यह मत भी समीचीन नही। यह समुच्चयवाद भी भक्ति को प्रधान मानने से खण्डित हो जाता है।[29] एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्त । १२।१७) देवविषयक भक्ति जो उपनिषदो म पठित है ईश्वर मे अभिन्न ही है क्योकि ईश्वर के स हृचय स ही अन्य दवा की भक्ति है जो मुख्यरूप म ईश्वर केलिए ही है देव भक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात् ।

वेदान्तदशिक के मतानुसार भक्ति ही मोक्ष का उपाय है। नानादिक भक्ति के साधन हैं। भक्ति भी क्वचित् नवधादि भेद से साधन बन जाती है। ज्ञान परपरा सम्बन्ध से ही मोक्षप्रद माना जाता है। भक्ति एक प्रकार की बुद्धि है जिसे प्रीति रूपा धी कहा जा सकता है। यह ब्रह्मविद्या ही है। ब्रह्मविद्या से भक्ति का विरोध नही है। महनीयविषय म प्रीति ही भक्ति है। यह प्रीति ज्ञान से भिन्न न होकर एक विशेष कोटि का नान ही है। यह ज्ञानस्मृति से सम्बंधित है। स्मृति ही भक्ति है परन्तु इस म स्नेह भी रहता है। यह अतिशय आनन्द स्वरूप हृदय गुहा में उपासना स्वरूप है, जो पराभक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। तुलसी भी नान को परम्परा सम्बन्ध से मोक्षप्रद मानत हैं। परा भक्ति की सिद्धिप्राप्तिहेतु वर्णाश्रमधर्म तथा यथोचित् कर्म का अनुष्ठान अनिवार्य है—

नन्निष्पत्यै[30] फलेच्छोप धिविरहित कर्मवर्णाश्रमार्हे ।

यह कर्मानुष्ठान सकाम नही होना चाहिए। यदि फल की कामना करनी ही हो, तो फलरूप म भक्ति की ही कामना करनी है। देह गेह द्वारा सुत और धनादि की कामना नही करनी चाहिए। निष्काम भक्ति तुलसी भी मानत है।

भक्ति को ही नान ध्यानादि शब्दो से वदो म बताया गया है। यही मोक्ष का परम उपाय है। यह समफलविषया है। यदि कही भक्ति को नान का साधन बताया गया है तो वह पराभक्ति[31] नही है साधन या नवधा भक्ति ही समझना चाहिए। भक्ति साध्य प्रापक नान अपि भक्तिलक्षणोपेतम्। सर्वार्थसिद्धि जावसर २ २६। भक्ति के द्वारा[32] जिस नान की प्राप्ति बतायी गयी है वह पराभक्ति ही है। प्रीत्यादयश्च नान विशेषा इति उद्यत सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ २०४। ध्यानादि शब्द उपनिषदो म भक्ति केलिए ही आए हैं यह[33] ध्रुवास्मृति भक्ति ही मोक्ष का प्रधान कारण है। ध्रुवानुस्मृतिरिह विहिता ग्रंथि मोक्षाय सव। ग्रंथि मोक्ष मे उसी को छान्दोग्योपनिषद म बताया गया है। तदनुसार आहार शुद्धि से सत्वशुद्धि होकर ध्रुवा स्मृति होती है। ध्रुवास्मृति स सभी ग्रंथियों का मोक्ष[34] होता है। छा०उ० ७।२६।२। वेदो म आत्मा को देखना चाहिए, उसका देखन पर उस ब्रह्म को दखता है इत्यादि

बाधया को देखा जाता है। वेदान्तदेशिक का कहना है कि स्पष्टदृष्टि भी विशदरूप से स्मृति को ही संकेत करती है। दृष्टि शब्दस्तु स्मृतिमेव विशिनष्टि। दृष्टि केवल चाक्षुष प्रत्यक्ष में ही संकुचित नहीं है अन्य इन्द्रियप्रत्यक्ष में भी इसका विस्तार है, क्योंकि स्मृति शब्द का बाहुल्य है, इसलिए लक्षणा से दृष्टि का अर्थ स्मृति करना उचित ही है। गीता में भी भक्ति का ही चरमोपाय बताया गया है इसलिए भक्ति ही वेदान्त विहितसाधनभूतज्ञान है। न्यायपरिशुद्धि में भी वेदान्तदेशिक ने कहा है कि प्रीति रूपात्मक ज्ञान ही भक्तिरूपात्मक है जो प्रकरणवश समाधि कहा जाता है। प्रीतिरूप मेव ज्ञानं प्रकरण विशेषात् समाधि। यह भक्तियोग दहरविद्या, उपकोशलविद्या वैश्वा नरविद्या, मधुविद्या आदि भेदों में जानी जाती है। इनमें किसी एक विद्या का आश्रय लेकर भक्त मोक्ष प्राप्त कर सकता है क्योंकि मोक्ष में फल तारतम्य नहीं है।

भक्तों की दो कोटियाँ हैं एकान्ती और अनेकान्ती। प्रथम कोटि के वे भक्त हैं, जो भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवता की उपासना नहीं करते। जो कुछ माँगना होता है भगवान् से ही माँगते हैं। वे भगवत् पारायण होकर देवताओं से कहते हैं—

त्वयापि[35] प्राप्तमैश्वर्य यतस्त तोषयाम्यहम्।
नाहमाराधयामि त्वाम् तव बद्धोयमञ्जलिः॥
त्वं प्रहर वा मा वा मयि वज्रं पुरंदर।
नाहमुत्सृज्य गोविन्दमपरानाराधयामि भो॥

हे देव। आपने जिस भगवान् से ऐश्वर्य प्राप्त किया है उस भगवान् को प्रसन्न करने में संविग्न हूँ आपकी उपासना की मुझे अपेक्षा नहीं है। सविनय निवेदन कर रहा हूँ। आप चाहें तो हे इन्द्र, मेरे ऊपर वज्र प्रहार करें। मैं गोविन्द के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना नहीं कर सकता।' ऐसे भक्त भगवान् की कृपा के पात्र बन जाते हैं। देवगण भी उन्हें प्रणाम करने लगते हैं। विष्णुधर्म में कहा भी गया है—

द्रवन्ति[36] दैत्या प्रणमन्ति देवता नश्यन्ति रक्षास्यपयान्ति चारयः।
यत्कीर्तनात् सोद्भुत रूप केसरी ममास्तु मांगल्यविवृद्धये हरिः॥

जिस भगवान् का कीर्तन करने पर असुर भागने लगते हैं। देवता प्रणाम करने लगते हैं राक्षस नष्ट होते हैं शत्रु दल भाग जाता है वे अद्भुत रूप धारी नरसिंह विष्णु हमारा मंगल करें।'

अन्य[37] भक्ति भी दो प्रकार की होती है प्रयोजनान्तर परक भक्ति, २ अनन्यप्रयोजनभगवद्भक्ति या प्रेम। प्रथम प्रकार की भक्ति गणिकालकारतुल्य निकृष्ट है, द्वितीय पतिव्रतालंकारतुल्य उत्कृष्ट है। अनेकान्ती भक्त भगवान् तथा अन्य देवताओं की उपासना करते हैं ये निकृष्ट भक्त माने जाते हैं परन्तु वे भक्त जो विष्णु[38] परिवार बुद्धि से कर्त्तव्य भाव से भगवान् की प्रसन्नता के लिए अन्य देवताओं की उपा

सना करते हैं, उत्कृष्ट भक्तो मे आते है। भगवान् तथा उनके भक्त देवताओ से जिनम शकर, पावती, गणेश, गरुड, हनुमान, प्रजापति तथा भास्कर मुख्य हैं पराभक्ति की याचना करने वाला भक्त भी उत्कृष्ट ही है।

वेदान्तदेशिक के सिद्धान्त के अनुसार परमपद या पराभक्ति प्राप्ति केलिए नव सोपानो पर आरुढ होना पडता है। उन्हे क्रमश १- विवेक २ निर्वेद ३ विरक्ति, ४ भीति ५ प्रसादन, ६- उत्क्रमण, ७ अर्चिरादि ८ दिव्यदशप्राप्ति, ६ पराप्ति कहा गया है।

विवेक का तात्पय भगवत्तत्त्व का ज्ञान है। जीव परमात्मा का ज्ञान जीवका कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का ज्ञान, ससार के दुख का ज्ञान आदिक है, जो भगवान् की कृपा तथा जीव की साधना स मिलता है। निर्वेद विवेक होने के बाद होता है, जीव सासारिक अवस्था से निर्विण्ण होता है वह अपनी वतमान अवस्था पर करुणक्रन्दन रत हो जाता है, उसे किसी प्रकार का सुख भोग एव ऐश्वय मे नही मिलता, वह पाप करने से डरता है। यह तभी सम्भव है जब निर्वेद विवेकयुक्त हो।

निर्वेद के बाद शुद्ध वैराग्य उत्पन्न होता है। यह सुख भोग के साधन, शरीर, सम्पत्ति, लोकलोकान्तरप्राप्ति ऐश्वय, निधिपद और अधिकार सबसे होता है। कवल्य स, जो जीवात्मरतिरूप है, परन्तु परमात्मरति से शून्य है भक्ति की साधना मे वराग्य होता है। वराग्य के कारण पुन ऐश्वय एव उसके कारण नाना प्रकार के दुखो से जीव डरता है। वह ब्रह्मपद रुद्रपद इन्द्रपद को भी ठुकराता है। एक भक्ति की ही कामना करता है। यह भीति जो ससार से होती है उस भक्ति म विनियुक्त करती है जो पूण म ौवनान्कि है। भक्ति स भगवान् को प्रस न क ने केलिए जीव प्रयत्न करने लगता है। भक्ति से उसकी स्वत महिमा बढती है, इन्द्रादिक दवता उससे डरने लगते ह सिद्धियाँ और विधियाँ उसकी चेटी बन जाती हैं वह अन यता का त्याग न कर भगवान् पर पूण निर्भर होता जाता है फलत शरीर पय त उसे भगवद् भक्तिजन्य ऐश्वय मिलता ही है।

शरीरपात क बाद वह उद्धव लोग मे गमन करता है। शरीरपात के पहले भक्त अपने पुरातन कर्मों का प्रायश्चित करता है। भगवान् अमित प्रभाव स उसकी सहायता करते हैं। वह शरीर से भी घृणा करने लगता है उसे त्यागने केलिय इच्छुक तथा भगवान् की दिव्यसेवा केलिये उत्सुक हो जाता है। शरीरपात भगवान् करते हैं उसकी आत्मा स्व द होकर उत्क्रमण करती है। उसे अर्चिरादिक[30] देवता सम्मान सहित ले जात हैं। शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता उत्तरायण सवत्सर और वायु के अभिमानी देवता सूय तथा चन्द्रादिक यथा मर्यादा अपनी अपनी शक्ति से आग ले जात हैं। वह अन्य स्थानो को पार कर विरजा नदी म पहुँचता ह हाँ स वह स्नान कर मोक्ष के विविध रूपो को दखता हुआ वकुण्ठ म पहुँचता ह। यह वकुण्ठ ही दिव्य

सना करते हैं, उत्कृष्ट भक्तो में आते हैं। भगवान् तथा उनके भक्त देवताओ से जिनम शंकर, पार्वती, गणेश, गरुड, हनुमान, प्रजापति तथा भास्कर मुख्य हैं पराभक्ति की याचना करने वाला भक्त भी उत्कृष्ट ही है।

वेदान्तदशिक के सिद्धान्त के अनुसार परमपद या पराभक्ति प्राप्ति केलिए नव सोपानो पर आरुढ होना पडता है। उन्हे क्रमश १ विवेक २ निर्वेद ३ विरक्ति, ४ भीति, ५ प्रसान्न, ६-उत्क्रमण, ७ अचिरादि, ८ दिव्यदेशप्राप्ति, ९ पराप्ति कहा गया है।

विवेक का तात्पय भगवत्तत्त्व का ज्ञान है। जीव परमात्मा का ज्ञान, जीवका कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का ज्ञान, ससार के दुख का ज्ञान आदिक है, जो भगवान् की कृपा तथा जीव की साधना स मिलता है। निर्वेद विवक होने के बाद होता है जीव सासारिक अवस्था स निर्विण्ण होता है वह अपनी वतमान अवस्था पर क रुणक्रन्दनरत हो जाता है, उसे किसी प्रकार का सुख भोग एव ऐश्वय मे नहीं मिलता, वह पाप करने से डरता है। यह तभी सम्भव है जब निर्वेद विवेकयुक्त हो।

निर्वेद के बाद शुद्ध वैराग्य उत्पन्न होता है। यह सुख भोग के साधन शरीर, सम्पत्ति, लोकलोकान्तरप्राप्ति एश्वय, निधिपत्र और अधिकार सबसे होता है। कैवल्य से, जो जीवात्मरतिरूप है, परन्तु परमात्मरति स शून्य है भक्ति की साधना म वैराग्य होता है। वैराग्य के कारण पुन ऐश्वय एव उसके कारण नाना प्रकार के दुखो से जीव डरता है। वह ब्रह्मपद रुद्रपद इन्द्रपद को भी ठुकराता है। एक भक्ति की ही कामना करता है। यह भीति जो ससार स होती है उस भक्ति म विनियुक्त करती है, जो पूर्ण म विनाशिक है। भक्ति से भगवान् को प्रसन्न करने केलिए जीव प्रयत्न करने लगता है। भक्ति से उसकी स्वत महिमा बढती है इन्द्रादिक देवता उससे डरने लगते हैं, सिद्धियाँ और विधियाँ उसकी चेटी बन जाती हैं, वह अनन्यता का त्याग न कर भगवान् पर पूर्ण निर्भर होता जाता है फलत शरीर पर्यन्त उसे भगवद् भक्तिजन्य ऐश्वय मिलता ही है।

शरीरपात के बाद वह उद्धव लोग मे गमन करता है। शरीरपात के पहले भक्त अपने पुरातन कर्मो का प्रायश्चित करता है। भगवान् अमित प्रभाव से उसकी सहायता करते हैं। वह शरीर से भी घृणा करने लगता है उस त्यागने के लिये इच्छुक तथा भगवान् की दिव्यसेवा केलिये उत्सुक हो जाता है। शरीरपात भगवान् करते है, उसकी आत्मा स्व छ होकर उत्क्रमण करती है। उसे अचिरादिक[3] देवता सम्मान सहित ले जाते हैं। शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता उत्तरायण सवत्सर और वायु के अभिमानी देवता सूय तथा चन्द्रादिक यथा मर्यादा अपनी अपनी शक्ति से आगे ले जात हैं। वह अन्य स्थानो को पार कर विरजा नदी म पहुँचता है वहाँ स वह स्नान कर मोक्ष के विविध रूपो को दखता हुआ वकुण्ठ म पहुँचता ह। यह वकुण्ठ ही दिव्य

देश है जहाँ भगवान् अनन्त ऐश्वर्य से युक्त होकर भक्त की रुचि अनुसार साकेत, गोलोक, वृन्दाबन आदि का स्वरूप बनाकर भक्त को लीला में सम्मिलित कर मोक्ष सुख का अनुभव कराते हैं।

वह सायुज्यमोक्ष प्राप्त कर भगवान् के सकल शुभ गुणों का अनुभव करता हुआ उनकी नित्यभक्ति में लीन रहता है। वहाँ भगवान् के सम्मुख वेद मन्त्रों से अलौकिक स्तवन का अवसर उन्हें मिलता है जिस गाने और सुनने से अपार आनन्द उन्हें मिलता है। परमानन्दमारुह्य पद्मदेवी प्रेम पात्रस्याच्छिद्रित महामणेः कैंकर्य स्वीकृत्य प्रणम्य प्रमुद्य स्तोत्राणि गीत्वा नर्तित्वा, अश्रुतपूर्वप्राचीनवेदगीतानि श्रुत्वा च दुर्लभ महानन्द प्रत्याहिक वृद्धिप्रयोजकरहित महाकैंकर्यकरणस्य हेतुभूता प्रीति अलभामहि विधिना मदिया वर्तामहे। परम पद सोपान– नवम् सोपान। महात्मा तुलसीदास ने नव सोपानों को सात सोपानों में स्वीकार कर लिया है। स्वामी रामानन्द जी ने भी ऐसे ही सात सोपानों को माना है।

नवधा भक्ति

नव प्रकार की भक्ति को श्रीमद्भागवत्[40] में नवधाभक्ति कहा गया है जो क्रमशः १ श्रवण २ कीर्तन, ३ स्मरण, ४ चरणसेवा, ५ अर्चा, ६ वन्दन, ७ भृत्य भाव ८ मैत्री और ९ आत्मनिवेदन रूप में जानी जाती है। यह (श्रवणादिक) भगवान् के गुणों एवं कथाओं का ही हुआ है। सेवा भगवान् तथा उनके परिवार के देवताओं की अपेक्षित है यह पांचरात्रों का मत है। सख्य और आत्मनिवेदन भगवान् के साथ ही होता है।

वैष्णव आचार्यों में अनिवार्य[41] इसे साधन भक्ति मानते हैं। नवधा भक्ति के उपरान्त ही पराभक्ति आरम्भ होती है। स्वा० मधुसूदन सरस्वती का कथन है कि पराभक्ति में भी नवधाभक्ति चल सकती है। वेदान्तदेशिक[42] साधनरूप में तो मानते ही हैं मोक्षस्वरूपकभक्ति में वेदगान तथा उसका श्रवण स्वीकार कर श्रवण कीर्तन स्वीकार कर तो लेते हैं, किन्तु भाषा और भाव की अलौकिकता भी मानते हैं जो मानुष देवादिक उच्चारण से कोमल एवं मधुर हैं। मधुसूदन जी इस भक्ति को ब्रह्मानुभूति से पृथक् मानते हुए चित्तद्रुति होने पर श्रवणादिक नवधा भक्ति का साध्य रूप में भी मानते हैं। वेदान्तदेशिक मोक्ष सुख में ही श्रवणादिक द्वारा अनुभूति विशेष तथा कैंकर्य आदि द्वारा स्वभाव विशेष प्रतिपादन करते हैं आत्म निवेदन तो हो चुका रहता है। महर्षि शाण्डिल्य के अनुसार नवधा भक्ति साधनरूपा है। श्रवणादिक में से एक के अनुष्ठान से भी परा भक्ति की सिद्धि सम्भव है। महर्षि के शब्दों में– पराकृत्यैवसर्वेषां तथा ह्याह। ।२।२।८४ ईश्वर तुष्टेरेका अपि बली। २।२।६३।

यह पराभक्ति की सिद्धि परमेश्वर के प्रसाद पूर्वक देती है। एक से भी भगवान प्रसन्न होकर भक्त का मनोरथ पूर्ण करते हैं। गीता में यज धातु का जो

प्रयोग है, वह सकाम यजन का ही है, निष्काम यज्ञ का फल ही भगवत्पदप्राप्ति है। योग के ध्यान का नियम नहीं है, केवल भगवान् में मन लगाने केलिए ही इसका विधान है। तुलसीदास[43] नवधा भक्तियों को परा की सहायिका भी मानते हैं। एक[44] बार का किया गया स्मरणकीर्तनादि भी पापपुंज को दग्ध करने वाला है। धर्मशास्त्रों में जो विविधव्रत बताए गये हैं उनके समान ही नवधाभक्ति फलदती है परन्तु इसमें मुण्डनादिक अन्य प्रायश्चित्तों की अपेक्षा नहीं है। इस भक्ति में उच्च ब्राह्मण से लेकर अधम चाण्डाल यवन आदि जातियों का भी अधिकार है। इसमें सामान्यतः अहिंसा, सत्य अमोघ अस्तेय आदि की तरह अधिकारी भेद का विचार नहीं है। महर्षि शाण्डिल्य का कथन है —

अनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् ।।२।२।७८।।

श्री वेदान्तदेशिक भी इस प्रकार की गौणी भक्ति को जो प्रपत्ति में सहायक है, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य[45] की तरह सबकेलिए बिनाभेदभाव के उपादेय समझते हैं।

भक्ति और आसक्तियाँ

भक्ति एक रागानुगा वृत्ति है, यह पहले स्पष्ट किया गया है। यह राग दो प्रकार का होता है— हीन एवं शुद्ध। हीन, लौकिक विषयक राग है जो इन्द्रियों एवं उससे सम्बन्धित विषयों में होता है। शुद्ध राग ही भगवद् विषयक होता है। इसी राग से आसक्ति का भी बोध होता है। यह राग ही एकादश प्रकार का होकर एकादश आसक्तियाँ कहलाता है। महर्षि नारद ने स्पष्ट किया है कि एकधा पि अने कधाभवति सूत्र ८२। तदनुसार प्रथम आसक्ति गुण माहात्म्य सम्बन्ध है। इसमें भक्त भगवान के गुणों का माहात्म्य सुनता है उससे विशेष प्रेम दिखाता है। भगवान के गुणों को सुनकर या पढ़कर कम्प स्वेद स्वर व्याधिक से युक्त हो जाता है।

रूपासक्ति दूसरी प्रकार की आसक्ति है। भक्त इसमें भगवान के विविध रूपों को देखकर किसी एक पर आसक्त होता है उस रूप के प्रति तन्मय हो जाता है। उसे अद्भुत आनन्द दर्शन मात्र से ही होने लगता है। अपर आसक्ति पूजा में होती है। भगवान् की पूजा में ही भक्त रागयुक्त रहता है। पुष्प चन्दन मालादिक सम्भार के सम्पादन में और समर्पण करने में वह तन्मय रहता है, और एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। एक अन्यासक्ति दास्यसञ्ज्ञक है। इसमें भक्त भगवान के मन्दिर या भक्तों के रूप में विविध प्रकार की सेवा करता है। भगवान के उत्सवों में झाँकियों में तथा नित्य राजभोग में उनकी परिचर्या करते हुए उनमें विशेष रुचि दिखाता है। उसके चित्त की द्रुति होती है।

स्मरणासक्ति चौथी आसक्ति है इसमें भक्त भगवान की विविध लीलाओं का स्मरण कर, भावविभोर हो जाता है। उसकी आँखों से अश्रुपात होने लगता है।।

आनन्द से प्रफुल्ल हो जाता है। सख्यासक्ति में सखिभाव से मन में ही भगवान् का स्मरण करता है तथा पूजादिक बाह्य व्यवहारों में भी भगवान् के श्रीविग्रह से मित्रवत् व्यवहार करता है। कान्तासक्ति सातवीं आसक्ति है। इसमें भक्त भगवान् को पतिरूप में समझता है। भगवान् के साथ मानसिक रति का स्मरण करता है, मधुरभाव के गीतों को सुनता है या स्वयं रचना करता है। कुछ सखिसम्प्रदाय के आधुनिक भक्त अपना नाम भी स्त्रीवाचक रखते हैं तथा बाह्यवेष भूषा भी स्त्री की तरह धारण करते हैं। वास्तव में यह आसक्ति मानसिक है, बाह्य आचरण से इसका सम्बन्ध उपहासास्पद ही है परन्तु आजकल यह प्रचलित हो चुका है। इस प्रकार के साधक अधिकतर कृष्णोपासक हैं। अयोध्या तथा बिहार के कुछ साधक रामभक्त भी मधुर भाव की उपासना करते पाये जाते हैं। तुलसीदास[10] (और वेदान्तदेशिक) मानसिक स्तर पर इसे मानते थे।

वात्सल्यरूप में भगवान् से आसक्ति भी देखी जाती है। नन्दयशोदा पुत्ररूप में ही भगवान् की भक्ति करते थे। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में भी बाल गोपाल की उपासना इसी आसक्ति के अन्तर्गत आती है। यह रामभक्तिशाखा तथा कृष्णभक्ति शाखा के साकार उपासकों में पायी जाती है। निराकार उपासना में इसकी सत्ता नहीं है। तुलसी के राम के पिता दशरथ और कैकेयी भी वात्सल्य भक्ति करती हैं। आत्म निवेदनासक्ति महर्षि नारद के अनुसार नवम आसक्ति है। इसमें भक्त अपने सर्वस्व इहित जीवन को भी समर्पित कर आनन्द का अनुभव करता है। वास्तव में यह आसक्ति स्वतन्त्र नहीं है। सभी आसक्तियों में यह व्याप्त है। तन्मयासक्ति दशमी आसक्ति है इसमें भक्त भगवान् से अभिन्न ही अपने को समझता है। वह इस आसक्ति में नित्य साहचर्य सुख का अनुभव करता है। यह तन्मयता न प्रकृत और विकार दोनों अर्थों में नहीं है केवल प्राचुर्य अर्थ में है इसलिए भक्त भगवान् में अपने को माता की गोद की तरह लीन समझता है। उन्हीं में क्रीडा और रमण का अनुभव मानसिक रूप से करता है।

अन्तिम आसक्ति परमविरहासक्ति है। इसमें भक्त दास्य, सख्य या कान्ताभाव से भक्ति करता हुआ वियोगावस्था का अनुभव करता है। वह भगवान् को पाने के लिए छटपटाने लगता है। इसमें प्रलाप, उन्माद भ्रम और त्रास आदिक स्थितियों में जाता हुआ क्षण भर भी जीना नहीं चाहता। वास्तव में भक्ति की पराकाष्ठा ही यह आसक्ति है। यद्यपि इसे शृंगार और वात्सल्य से पृथक् मानना गौरव है तथापि महत्त्व की दृष्टि से यह सर्वोपरि है। सिद्धान्ततः तुलसी इन्हें अस्वीकार नहीं करते। वेदान्त-दर्शन भी इनका अनुमोदन करते हैं। दशरथ कौशल्या तथा सीता में परम विरहासक्ति मिलती है।

सम्पूर्ण आसक्तियों को पाँचों भावों में अन्तर्भूत कर लिया गया है। वे पाँचों

भा ा ह ाग शात सख्य, वात्सल्य' दास्य और मधुर नामो से जाने जात है। गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति और त मयासक्ति सभी भावा म सवनिष्ठ हैं केवल विरहासक्ति, माधुय, सख्य, वात्सल्य और दास्य म- मेरे विचार से समाहित है। बहुत से विचारक दास्यभाव म विरहासक्ति नहा मानते। दास्य भी प्रेममूलक होता है पशुपक्षी भी विरह का अनुभव करते देखे जात हैं जिसम दास्यभाव ही है। द स्यभाव दात्सल्य या का ताभाव की तरह रागयुक्त सयोग एव वियोगधर्मा होता है। माधुय पतिभाव का न होकर पितृभाव या रक्षकभाव का होता है। लोक मे श्वान या गौ इत्यादि अपन पालक या रक्षक के वियोग म व्याकुल देख जाते हैं। न तो वहाँ का ताभाव रहता है और न वात्सल्य या स्य ही रहता है। वहाँ शुद्धरूप म दास्य या सव्यसवकभाव ही रहता है। शा तभाव म चित्त म व्याकु लता के अभाव से विरह का रहना असम्भव है।

यदि चित्त की द्रुति को भक्ति माना जाय ता शा तभाव मात्र ज्ञान का भाव होगा, जसा कि अद्व तवेदा त या साख्यन्त्र मानत है। मधुसूदन स स्वती जा न शात को भक्ति म स्थापित किया है इसलिए उनकी परिभाषा द्रुतिमूलक अपूण है। निर्वेद के बाद चित्त शा त होता है भक्ति म स्फुरण होता है। यही ज्ञान और भक्ति का भेदक तत्त्व उ होने स्वीकार किया है।

वेदा तनैष्ठिक न द्रुति को भी ज्ञान ही कहा है इसलिए उनकी परिभाषा म शा तरस तथा शा तभाव रखा जा सकता है दूसरी बात यह है कि मधुसूदन जी यह स्पष्ट नही करते कि ईश्वर म मायारहित शुद्ध है या म यासहित शुद्ध। वे भी ता साका रब्रह्म अर्थात् माय वच्छिन्नब्रह्म की पराभक्ति बताते हैं और कभी यह भी कह देत हैं कि निरुपाधिक ब्रह्म की ही भक्ति अभीष्ट है। यदि मायावी सगुचित् ब्रह्म की भक्ति परमपुरुषाथ मानन ह तो शुद्ध ब्रह्म स अवश्य निकृष्ट होगी। यदि शुद्धब्रह्म की भक्ति मानते हैं तो वह निराकारभक्ति होगी साकार नही। निराकारभक्ति भी द्व त म ही सम्भव है अद्वत म नहो क्योकि ज्ञान के बाद द्वत का नाश हो जाने पर पराभक्ति किसकी कौन करेगा ? यदि अज्ञान सहित पराभक्ति वे मानते है तो वह गौणीभक्ति होगी पराभक्ति नही होगी। भक्ति आचार्यों का सव सम्मत् सिद्धा त है कि पराभक्ति ज्ञान पूवक होती है अज्ञान पूवक नही। इसलिए अद्वैत सिद्धा त के अनुसार केवल गौणीभक्ति ही सम्भव है जा शकराचाय महाराज का भी इष्ट है। श्रीमद्भागवत[17] मे भी भक्ति और ज्ञान को एक ही भगवान् कपिल न कहा है। तुलसी[18] भी ज्ञानो म ऐक्य मानत हैं।

तुलसीसाहित्य मे आसक्तियाँ

तुलसीदास जी निजी रूप म दास्य[19] भक्ति करत हैं। हनुमान् और लक्ष्मण भी दास्यभक्ति करत हैं गिरि और हनुमान् म भेद नहीं है। कौशल्या यशोदा व

से भक्ति करती है परन्तु विभीषणसख्यभाव की। सीता तथा मिथिला की नारियाँ कान्ताभाव से आसक्त हैं। काकभुशुण्डी भारद्वाज और याज्ञवल्क्य भी दास्यभाव मे ही रुचि लेत हैं। मानस म सभी भाव हैं, परन्तु प्रधानता दास्य की है। वेदान्तदेशिक अच्युतशतक मे दास्य और मधुर दानो भावो पर झुकते हैं। परम विरहासक्ति कौसल्या और सीता के अतिरिक्त दशरथ म मिलती है भरत और लक्ष्मण भी इससे पृथक नही हैं। रूपासक्ति प्राय सभी भक्तो मे हैं। गुण माहात्म्यासक्ति तुलसी भारद्वाज, भरत, केवट शबरी आदि म मिलता है। पूजासक्ति सभी म प्राय है।

भक्ति शरणागति और वर्णाश्रम

भक्ति और शरणागति पृथक है या अपृथक इस विषय म प्राचीन ग्रन्थ मौन प्रतीत होते हैं। भक्ति प्रपत्ति तथा शरणागति शब्दो का प्रयोग साथ-साथ दिखाई दता है। रामानुजाचाय की परम्परा अवतारो से सम्पृक्त है इसलिए उनके यहाँ दोनो का पृथक रूप म दखा गया है। निम्बार्क[50] सम्प्रदाय शरणागति सहित भक्ति करता है। उसके अनुसार पराभक्ति शरणागति रहित हो ही नही सकती। माध्व सम्प्रदाय भी भक्ति म शरणागति आवश्यक मानता है। इसम वल्लभाचाय की भी स्वीकृति है। वेदान्तदेशिक भी भक्ति और शरणागति को अन्योन्याश्रित मानते हैं परन्तु भक्ति को ब्रह्मविद्या तथा द्विज के लिए उपादेय बताते हैं। लोकाचाय भी भक्ति का प्रपत्ति से भिन्न तथा दोनो को निरपक्ष मानते हैं। रामानन्द जी भी लोकाचाय के अनुसार ही मत व्यक्ति करत हैं।

भक्ति और प्रपत्ति की मान्यता रामानुजसम्प्रदाय म दो प्रकार की है। वेदान्त देशिक के विचार से प्रभावितपरम्परा द्विजो के लिए जो समथ है भक्ति अनिवाय मानती ह और उस भिन्न जिन्हें वेदविद्या अज्ञात है शरणागतिविद्या उपादेय बताती है। दूसरी परम्परा लोकाचाय की है जिसम रामानन्दाचाय तथा सखिसम्प्रदाय के आचाय भी आते हैं शरणागति तथा भक्ति का पृथक मानती हुए शरणागति का सबके लिए अनिवाय मानती है। भक्ति और शरणागति म मौलिक भेद यह है कि कमवशात् भक्त का पुनजन्म ग्रहण करना पडता है कमक्षय के पश्चात् ही उस मोक्ष मिल सकता है प्रपत्तिविद्या म इसकी आवश्यकता नही। दूसरी बात यह भी महत्त्व पूर्ण है कि शरणागति म महाविश्वास अपेक्षित है, भक्ति म विश्वास की कमी भी हो सकती है। तीसरा भेद यह है कि भक्ति साधनरूपा भी है शरणागति सिद्धोपाय है। भक्ति का नित्य अभ्यास करना पडता है शरणागति जीवन म एक बार होती है। भक्ति म प्रायश्चित्त तथा वर्णाश्रमधम का पालन अनिवाय है शरणागति म भगवान् का शरणवरण ही पर्याप्त है। यह ब्रह्मास्त्र की तरह अमोघ है। शरणागति म सभी धर्मो का त्याग करना पडता है यहाँ तक कि नित्यनैमित्तिककम भी आवश्यक है केवल भगवान् की सेवा ही पर्याप्त है। भक्ति म अनक आसक्तियाँ हैं शरणागति म कैकय या दासता

ही अपेक्षित है। शरणागति में विष्णु या उनके अन्य अवतारों के प्रति अनन्यता ही अपेक्षित हैं, अन्य देवों की उपासना यथोचित पालन करने के कारण या इन्द्रादि देवताओं की पूजा करनी ही पड़ेगी।

भक्ति म वर्णाश्रमधम की मर्यादा रह सकती है प्रपत्ति मे वर्णाश्रमधम अनिवाय नही है। भागवतधम ही अनिवाय है। भागवतधम म अष्टाक्षरी मत्र, गुरु-उपासना वष्णवसेवा, तीर्थ-यात्रा, आदि आते हैं। प्रपन्न भगवान् से किसी वस्तु की याचना नही करता। भगवान् स्वय सभी वस्तुएँ उसके लिए प्रदान करते हैं, जसे, मार्जारी अपने बच्चे के लिए करती है। प्रपत्ति म भी भक्ति की तरह गुरु एव मत्र की आवश्यकता है, किन्तु आपत्तिकाल म इनके बिना भी शरणागति सम्भव है। लोकाचार्य के अनुसार तप्तमुद्रा तिलक, नामकरण मत्र आदिक प्रपन्न के लिए आवश्यक हैं। ये प्रपन्न के स्वरूपज्ञान तथा ऐश्वर्यलाभ म सहायक हैं। प्रपन्न ब्राह्मण तथा श्वपच म कोई भेद नही है। ब्राह्मण का आचरण उत्तम होने के कारण श्वपच को भी उसे स्वीकार करना चाहिए केवल वदिकविधिविधान का ही त्याग करना चाहिए। शरणागति भगवत्कृपा से ही होती है। श्री जी पुरुषकार रूप मे सहायता करती हैं। इस मत के अनुसार प्रणवमन्त्र सबको सुनाया जा सकता है। लक्ष्मी और नारायण साकार श्री विग्रह सहित ही शरण्य है।[61]

दूसरी विचारधारा के आचाय वेदान्तदेशिक हैं। उनके अनुसार भक्ति और प्रपत्ति वर्णाश्रमधम म अनुष्ठेय हैं। भक्ति म जिन्हे अधिकार नही उन्हे ही प्रपत्ति करणीय है। प्रपत्ति म धमम त्र का त्याग करना अनुचित है। आश्रम और वर्ण के अनुसार देश काल का ध्यान होना चाहिए। धम जो काम्य[62] है या निषिद्ध है, वही त्याज्य है पर निष्कामभाव से नित्यनमित्तिक एव निष्कामधम भक्ति और प्रपत्ति दोनो को बढाने वाले हैं। इस मत के अनुसार लक्ष्मी या नारायण म से किसी की प्रपत्ति भी दोनो की प्रपत्ति है क्योकि शक्ति और शक्तिमान म अभेद सम्बन्ध है पति और पत्नी म पार्थक्यबुद्धि जडबुद्धि ही करते हैं। नवधाभक्ति शरणागति का अग हैं तो शरणागति भी पराभक्ति का अग ही है इसलिए ये दोनो अन्योन्याश्रित हैं प्रणव मत्र शूद्रो के लिए त्याज्य है, अन्य बीज सहित ही अष्टाक्षरमन्त्र ग्राह्य हैं।

प्रपन्न को कोई अपराध नही करना चाहिए। यदि यह हो जाय तो प्रायश्चित्तसहित पुन शरणागत होना चाहिए। प्रपन्न को भी भक्त की ही तरह भगवान् की शरण ग्रहण कर अपने शुभकर्मों को करते रहना चाहिए। जिस प्रकार बन्दर का बच्चा अपनी माँ को पकडकर ही सुरक्षित रहता है उसी प्रकार भक्त या प्रपन्न भगवान् से सम्बन्ध जोडकर तथा उसके आदेशरूप सद्धम का पालन करके ही परम पुरुषार्थ पा सकता है उसका त्याग कर अकमण्य बनने से वह भगवत्प्रीति का अधिकारी नही बन सकता। भगवान् ने हाथ, पाँव आँख कान, व्यर्थ रहने के लिए नही

बताए हैं अपनी लीला के सम्पादन के ही लिए हम प्रदान किए हैं इसलिए यथा मर्यादा, यथाशक्ति भगवद्बुद्धि से सक्रिय रहकर ही, उन्हें प्रसन्न किया जा सकता है। यदि भगवान् धर्म की स्थापना के लिए अवतार ग्रहण करते हैं तो भक्त का कर्त्तव्य है कि वह भी धर्मरक्षा में सहायक हो। भगवान् को धर्म एवं मर्यादा प्रिय है इसलिए भी प्रपन्न को भगवान् का शासन मान्य होना चाहिए। भगवान् विष्णु को ब्रह्मण्य कहा जाता है ब्राह्मण धर्म एवं वेदों का रक्षक माना जाता है। गो एवं ब्राह्मण की रक्षा केलिए ही विशेषकर विष्णु नीचे उतरते हैं इसलिए शरणागत या प्रपन्न ब्राह्मण वेद और गो का तिरस्कार कर या अहंकारवश अपने को बड़ा समझ कर भगवत्प्रसाद या अनुग्रह का भागी नहीं बन सकता।

प्रपन्न भले ही भगवत्धर्म के सात्विकमार्ग के अनुसरण करने के कारण पवित्र होता है, परन्तु उसे यह अधिकार नहीं कि वह वैदिक एवं लौकिक मर्यादा को तोड़कर मनमाना करे। उसे ब्राह्मण का पद नहीं मिल सकता। वह भगवद्ध्यान तथा परम पुरुषार्थ केलिए प्रयत्न करने में ही ब्राह्मण के समान है। अपने अन्य कर्मों के लिए मर्यादा का त्याग करने में वह ब्राह्मण से भिन्न उसी प्रकार है जैसे कोई स्त्री अपनी माता, ननद बहिन सास तथा भावज से भिन्न है। शरीर समान होने के कारण जठानी का धर्म वह नहीं निभा सकती और न ननन्दा या सास का ही। यदि वह ऐसा करे तो लोक और वेद दोनों जगह निन्दा का पात्र बनेगी। वह पाप की भागिनी बनेगी। लोक में वर्णाश्रम भी इसी न्याय के हिसाब से है रक्त साम्य में भी मर्यादा है। परस्पर प्रेम एवं कर्त्तव्य बुद्धि होने पर भी परिवार में मर्यादा है उसी प्रकार परस्पर प्रेम होते हुए समाज में भी मर्यादा है। वेदान्तदेशिक के अनुसार लोकाचार्य का यह कथन उचित नहीं कि भगवत्प्रपन्न बराबर हो जाते हैं, और उनमें कोई भेद नहीं होता। यदि ऐसा मानना उनको इष्ट भी हो तो जीवात्मा की दृष्टि से ही होना चाहिए शरीर के सम्बन्ध से नहीं।

प्रपत्ति में सभी कर्म ही भगवान् को निवेदित होने हैं। अन्तर्यामी की भी प्रपत्ति होती है। योगविद्या भी प्रपत्ति एवं भक्ति में सहायक है। भगवान् और भक्त दोनों में एक दूसरे को क्षमा करने की भावना तथा एक दूसरे पर आकर्षित रहने का भाव देखा जाता है। प्रपत्ति में अविश्वास होने पर वह ब्रह्मास्त्र की तरह निष्फल होती है।

भक्ति-प्रपत्ति में साधक बाधक-तत्व

भक्ति दो रूपों में देखी जाती है, साधन और साध्या। साधनभक्ति में अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो विघ्न और अन्तराय बनकर आते हैं और अनेक सहायक भी होते हैं। उन तत्वों में सात्विक का भी अधिक महत्व है। यदि सांसारिक भोगेच्छु लोगों को मुमुक्षु लोगों का सान्निध्य मिले तो साधक की स्थिति डावाँडोल हो जाती है। वह ध्येय

से विचलित होकर लोकोन्मुख हो जाता है। इसी प्रकार यदि ऐसी वस्तुएँ भी उसके जीवन मे अधिक मिलें जो इन्द्रियों को लुभानेवाली हो, तो भी वह पथ भ्रष्ट हो सकता है। इसीलिए महर्षि नारद[53] का कहना है कि लोकहानि होने पर चिन्ता भक्त को नहीं करनी चाहिए। दुष्ट स्त्री नास्तिक, शत्रु तथा धनविषयकवार्ता भक्त को सुनना नही चाहिए। अभिमान, दम्भ क्रोध मोह लोभ निन्दा असूया मोह मत्सर का त्याग भी भक्त को अवश्य करना चाहिए। ये भगवद्भक्ति के उपघातक हैं। उनके अनुसार अहिंसा, सत्य शौच दया आस्तिकता, आदि समाचारों का अनिवार्यरूपमे पालन करना चाहिए। भक्ति स सम्बन्धित सच्छास्त्रों का मनन तथा उनमे आदिष्ट कर्मों का अनुष्ठान भी करना चाहिए। लाभ, सुख, दुःख, इच्छा हानि, लाभ, आदि का जिस प्रकार ह्रास हो वह यत्न निरन्तर जागरूक होकर करना चाहिए। भगवान् से प्रतिकूल लोगों के प्रति उदासीन होना चाहिए। भगवान् के अनुकूल लोगों से प्रेम करना चाहिए। लोक और वेद में जो कर्म भगवत्प्रेम में सहायक हो उनको करना तथा जो बाधक हो, उनका त्याग करना चाहिए। भक्ति सिद्ध होने पर भी शास्त्र की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

श्रीमद्भागवत[54] महापुराण में व्यास जी ने लिखा है कि धर्म अर्थ और कामये जीव के सहायक नहीं हैं इनका त्याग ही उचित है। सप्तम स्कन्ध में नारद युधिष्ठिर से कह रहे हैं कि वैराग्यसिद्ध होने पर भगवान् में तन्मयता अनायास हो जाती है। यदि भक्ति योग असफल हो जाय तो भी वैराग्य नहीं होता —

यथा वैरभ्य बन्धेन मर्त्य तन्मयता इयात् ।
न तथा भक्ति योगेन इति मे निश्चिता मति ।।२६।।

भगवान् कपिल भी अपनी माता से स्पष्ट कहते हैं कि मन अहंकार काम क्रोध लोभ मोह मत्सर से रहित सुख दुःख को सम समझने वाला शुद्ध मन से वैराग्य एवं ज्ञान युक्त होकर भक्तिसहित प्रकृति का उदासीन तथा जीवात्मा का अणुरूप में स्वयं प्रकाश देख लेता है। ब्रह्म की सिद्धि में सबके आश्रय भगवान् की उपासना के समान अन्य कोई श्रेय मार्ग नहीं है।

उनका मत है कि जो लोग वैदिक विधि से धर्म अर्थ और काम की सिद्धि के लिए कर्म करते है देवयन और पितयन का अनुष्ठान करते हैं भगवान् के गुणानुवाद से अरुचि रखते हैं उनका जीवन निकृष्ट है। इससे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्ति मे सकाम उपासना का निषेध है यह भगवद् भक्ति मे सहायक नहीं। गीता में भी सात्त्विक भाव से निष्काम कर्म तथा ध्यान आदिक को भगवद्भक्ति में सहायक माना गया है। वेदान्तदेशिक[55] ने ज्ञान वैराग्य तितिक्षा अष्टांग योग कीर्तन सत्सगति आदि को भक्ति और प्रपत्ति में सहायक तथा इन्द्रिय लोलुपता लाभ मोह, व कुसंगति इत्यादि को भक्तिविघातक माना है। तुलसी[56] भी ऐसा ही कहते हैं।

गो० तुलसीदास जी ने भक्ति के प्रतिपादन के ही लिए अपने ग्रन्थों की रचना की है, इसलिए उनके मानस, गीतावली, विनयपत्रिका, कवितावली वैराग्यसंदीपनी, आदिक प्रधान कृतियों में भक्ति के स्पष्ट सुव्यवस्थित श्रुतिसम्मत विचार मिलते हैं। यह वैदिकपरम्परा में सभी मानते हैं कि भक्ति में प्रीति आवश्यक है। भक्ति भी चित्त की वृत्ति है जो अनुभूति ही है स्मृति से पृथक् नहीं है। स्मृति भी अनुभूति की ही होती है। यह प्रीति उत्कृष्ट एवं सघन होती है। इसमें मातृत्व रहता है। इसमें प्राणों से भी ज्यादा अनन्यता होती है। लोक में देखा जाता है कि लोभी सब कुछ दे सकता है छोड़ सकता है, परन्तु अपना धन कदापि नहीं दे सकता। कृपण का धन प्रेम उसी प्रकार अनुपम होता है जिस प्रकार काम से पीडित मनुष्य नारी से प्रेम करता है वह गृह, परिवार समाज शरीर जीवन और धन की चिन्ता छोड़कर नारी की सन्तुष्टि में ही एकचित्त हो जाता है उसे भोजन अच्छा नहीं लगता कार्य करने की प्रवृत्ति नहीं होती हित की बात भी अहितकर लगती हैं केवल उसे अपनी प्रिया की बातें अच्छी लगती हैं। ऐसी अनन्यता पुत्रप्रेम या पितृप्रेम में नहीं होती। गो० तुलसीदास जी भी इसी प्रकार के प्रेम की अनन्यता भक्ति में स्वीकार करते हैं। यही पराभक्ति है अनन्या भक्ति है, नारद की परम विरहासक्ति है जिसे तुलसीदास जी स्वीकार करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी जिस भक्ति की कामना विनयपत्रिका में गणेश, सूर्य शंकर, भवानी भैरव गंगा काशी चित्रकूट, हनुमान् लक्ष्मण, राम वैदेही भरत आदि सबसे वन्दना कर याचना करते हैं वह अनन्या, निर्भरा, रतिरूपा रघुवीर पद प्रीति ही है। यह प्रीति स्मृति या बुद्धिरूपा है। गो० तुलसीदास स्वयं कहते हैं—

तुलसी तव तीर-तीर सुमिरत रघुवंशवीर।
विचरत मति देहि मोहि महिष कालिका ॥ वि प -१७

यह सामान्य धी या मति नहीं है महनीय प्रीति है इसलिए मानस में प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु आप मेरी बुद्धि में सदा प्रिय लगें। जिनकी यह मान्यता कि मोक्ष मे परम शान्ति होती है सुख दुःख नहीं होता वहां तो चित्त में शान्ति या जडावस्था सम्भव है किन्तु जहाँ आनन्द भी स्वीकृत है वहाँ उसकी मुक्ति शान्ति से कम होगी ? आत्म स्फुरण होगा ही। आनन्द दुःख का अभाव मात्र नहीं है सुख की अनुभूति है। अनुभूति निष्क्रिय नहीं होती यह प्रीति ही है। चित्त की द्रुति आनन्द अनुभूति में होती है। द्रुति में गति होती है स्थिर नहीं इसलिए आनन्दानुभूति में चित्त विकार न रह सके भी तरंग तो होना ही है। लोक में भी सुखातिरेक काल में चित्त और मति में गति स्फुरण उल्लास देखा जाता है। दुःख काल में कोई सर्वथा निष्क्रिय नहीं रहता वह उन्मत्त जैसा हो जाता है। यही अवस्था ज्ञान और भक्ति में भी देखी जाती है।

सूत्रों में एक ही अर्थ प्रतिपादित है। आत्मा का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा दोनों होता है। यह जिस प्रकार जीवात्मा की प्रीति भक्ति मानते हैं, जो भक्ति शास्त्र में कहीं भी नहीं है (उसे कैवल्य बताया गया है) उसी प्रकार परमात्मा की परानुरक्ति भी मान सकते थे। वास्तव में सूत्र का अविकल अक्षरशः अर्थ होगा विरोध। (वैर भाव) रहित आत्मरति अर्थात् परानुरक्ति भक्ति। ऐसा ही शाण्डिल्य कहते हैं। रति और प्रेम समानार्थक सभी जगह माना जाता है। अब यदि जीव की स्वयं की रति भक्ति माना जाय तो लोकविरुद्ध तथा शास्त्रविरुद्ध भी होगा रति सदा आलम्बन सहित होती है जो स्व से पृथक् होता है। इसलिए आत्मा का अर्थ परमात्मा मानना ही उचित है। दोनों सूत्रग्रन्थों में परमात्मा की रति ही समाम्नात है इसलिए डाक्टर उदयभानुसिंह [8] का अनुवाद दुर्बल प्रतीत होता है। अग्रिम पंक्ति में अद्वैतयोगी की चर्चा है लेकिन उनका नाम नहीं दिया गया है। यदि सुतीक्ष्ण जी की बात अभीष्ट है तो वह ज्ञान जीव का न होकर राम का होता है इसलिए अद्वैतयोगी की बात या आत्मा की रति उनके मत के अनुसार नहीं बनती।

पुनश्च वे एक जगह ज्ञान और भक्ति में भेद देख कर भी वासना और संस्कार में अभेद देखते हैं। यदि चित्त की वृत्ति ही भक्ति है तब ज्ञान से क्या भिन्न है? ज्ञान भी तो भक्ति की तरह चित्तवृत्ति ही है। ज्ञान के अनेक प्रकार हो सकते हैं जैसे चित्त की अनेक प्रकार की परिणति। यदि आनन्द की अनुभूति या ज्ञान को भक्ति कहा जाय तो उन्हें क्या असंगति होगी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। आनन्द में भी चित्त की द्रुति होगी और भक्ति में भी। यदि कारण भेद से ज्ञान और राग में भेद करते हैं तब भी उनका पक्षपाती मत नहीं ठहरता। सत्ताज्ञान में चित्त निर्विकल्पक अनुभव कर सकता है शान्त रह सकता है, पर आनन्द के प्रत्यक्ष में वह स्फुरित हो उठेगा उसी को तो वे द्रुति कहेंगे और बर्फ से पानी की तरह द्रुति मानेंगे तब घन चित्त वस्तु आकार कैसे ग्रहण करेगा? भारतीय दर्शन में चित्त का वस्तु आकार ग्रहण करना ही वृत्ति माना गया है। तदाकाराकारित चित्त ही वृत्ति संवित् आदि नाम पाता है। अहं के साथ सम्बन्ध जुटना अनुव्यवसाय है जो प्रमात्मकज्ञान होता है। मुझे आनन्द हो रहा है यह अनुव्यवसाय है जो ज्ञान या संवेदन ही है। यदि अपने सुख का स्वतः ज्ञान न होगा तो फिर कौन उसको बतायेगा? ज्ञान स्वयंप्रकाश्य होता है इसलिए वह भक्तिसुख से (प्रीति से) पृथक् कैसे होगा? उनके मत में भक्ति धर्मभूतज्ञान है इसलिए द्रुति नामक शब्दाडम्बर केवल पर्याय का अपलाप नहीं किया जा सकता। ज्ञान वेदन संवेदन प्रीति अभिन्न ही सिद्ध होते हैं।

* अपि च जिस प्रकार ब्रह्मविद्या में अद्वितीय की अनुभूति होती है उसी प्रकार भक्ति में भी सम्भव है। भक्ति की तरह ज्ञान भी साकार का होता है ऐसा मत मीमांसकों का है जैन लोग भी मानते हैं। साधनभेद भी ज्ञान में नहीं है। महावाक्य में

श्रवण मात्र से किसी को ब्रह्मज्ञान आज-तक नहीं हुआ, शमदमादिसाधनषट्क का अभ्यास सभी मानते हैं। शबराचार्य जी भी शाण्डिल्यविद्या को उपकारी मानते थे। योगसूत्र भी ईश्वरप्रणिधान की बात करता है। श्री मद्भागवतपुराण में कपिलमुनि भक्ति से भी ज्ञान की बात करते हैं महावाक्य से नहीं। इसलिए उभयपक्षी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान उपासनासिद्ध है परभक्ति भी उपासना की अपेक्षा रखती है। दोनों में शास्त्रज्ञान आवश्यक है इसलिए तत्त्वज्ञान को भक्ति मानने में कोई दोष नहीं दिखाई देता। प्रेमप्रवण भगवदानन्द ही है। इस विषय में उपनिषद् तथा शाण्डिल्यसूत्र में भक्ति को अमृतमय बताया गया है जो आनन्दमय से पृथक नहीं है। भक्ति भगवान् और जीव के बीच का नित्यधर्म है जो आनन्द ही ठहरता है। शाण्डिल्य ने ज्ञान से जहाँ भक्ति का भेद किया है वहाँ प्रीति से भिन्न ज्ञान का ही प्रसंग है। ज्ञानमात्र भक्ति न होकर प्रीतिरूपी ज्ञान ही भक्ति है।

गो० तुलसीदास जी के विचार से ज्ञान और भक्ति अभिन्न हैं। दोनों सांसारिक दुःख को दूर करने वाले हैं। पराभक्ति और अपरोक्षज्ञान एक ही हैं। शास्त्रज्ञान तथा नवधा साधनाभक्ति परम्परासम्बन्ध से परमज्ञान पराभक्ति में उपकारक है। वास्तव में भक्ति ही संसार से मुक्ति दिलाने वाली है। 'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः' का तात्पर्य वेदान्तदर्शिक की तरह पराभक्ति[80] तुलसीदास जी भी मानते हैं। इसलिए वे (काकभुशुंडीजी के मुख से) मानस में कहते हैं –

> श्रुतिसम्मत हरिभगतिपथ संयुत बिरति बिबेक ।।७.१००।ख।
> भगतिहि ज्ञानहि नहीं कछु भेदा उभय हरहिं भव संभव खेदा।।७।११४।८
> श्रवणादिक नव भक्ति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं।३।१५।८
> बारिमथे घृत होय बरु सिकता ते बरु तेल।
> बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।।रा० मा० ७।१२२

तुलसीदास जी तथाकथित अद्वैत एव सांख्यशास्त्रसम्मतज्ञान[80]–मार्ग के पक्षपाती नहीं है। उनका[81] यह मत भी नहीं है कि महावाक्य ज्ञान से ब्रह्मानुभूति होती है। *उनका कहना है कि अन्धकारावृत गृह में दीपक का नाम लेने या उसका* विवादवर्णन करने से अन्धकार दूर होते किसी ने नहीं देखा चित्र में कामधेनु देखकर किसी ने अभीप्सित फल प्राप्त नहीं किया उसी प्रकार केवल महावाक्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेने में कोई भवपार नहीं कर सकता। जिस प्रकार मधुसूदन सरस्वती परम हंस को ही, जो संन्यस्त है ज्ञानविद्या में अधिकारी मानते हैं तुलसीदास जी नहीं मानते। *उनके अनुसार संन्यास का लिंग धारण करना ही ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है।* *गीता के अनुसार मन से संन्यास लेकर चाहे जिस आश्रम में रहता हुआ भी ब्रह्मविद्या* का अधिकारी है। द्विजभक्तिरूपी ब्रह्मविद्या तथा अद्विजप्रपत्तिरूपी ब्रह्मविद्या का अधिकारी है। संन्यास का अनधिकारी भी स्त्री के मरने पर तथा सम्पत्ति नष्ट होने पर पट

पालने के लिए, शूद्रादिक धारण कर लेते हैं जिन्हें वेदविद्या में अधिकार नहीं है। प्रपत्ति जो अधिक फलवती सरल तथा सब सुलभ है उनके लिए अधिकृत है।

तुलसीदास जी भक्ति में शरणागति सहायक मानते हैं। यह शरणागति गुरु के प्रति भगवद् भक्तों के प्रति भगवत् पार्षदों के प्रति तथा श्री या सीता के प्रति स्वयं करते हैं। अंत में वे भगवान् की शरणागति करते हैं। भक्त या प्रपन्न किसी से द्वेष नहीं करता, यह भक्ति का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। अनन्य होना किसी के प्रति द्वेष करना नहीं है। यदि पतिव्रता अपने पति के प्रति एकनिष्ठ या अनन्य होती है, तो इसका अर्थ कदापि नहीं कि अपनी ननद बहिन या सहेली के प्रति की उपेक्षा करती है उनसे द्वेष करती है श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है कि वैष्णवों के शिव बहुत प्रिय हैं। श्रीनिम्बार्क वल्लभ और रामानुजाचार्य शिव की नित्य उपासना करते हैं वेदान्तदर्शिक भी ब्रह्मा और शिवमहित सीतारामगृहमधिन् का सम्मान करते ही हैं। तुलसीदास जी अवैष्णव नहीं थे वेद शास्त्रज्ञ थे, इसलिए अपनी आर्य परम्परा से उन्होंने शास्त्रतः जो कुछ भी उन्हें वैदिक जान पड़ा उसे सहर्ष स्वीकार किया। रामानुजाचार्य के काल में शैव लोगों से वैष्णवों का वैर बढ़ रहा था। इसके आरम्भ करता लिंगयती शैव थे जो मद्रास में थे। उसका प्रभाव तत्कालीन तद्देशीय वैष्णव सम्प्रदाय पर पड़ा था जिसे वेदान्तदेशिक ने अस्वीकार कर दिया। आज रामानुज के मैसूर में रहनेवाले अनुयायी शिवपूजा करते हैं। तोताद्रि और कांची पीठ वाले अनुयायी नहीं करते जो वरवर मुनि के समर्थक हैं इसलिए वैष्णव जगत् में एक अदा को देख कर ही तुलसी को समन्वयवादी का झण्डा देना असंगत है। वैष्णवधर्म अहिंसावादी एवं करुणाप्रधान है।

तुलसीदास जी ने मानस के आदि में मंगलाचरण उसी प्रकार किया है जिस प्रकार व्यास जी ने पुराणों में तथा ऋषियों ने आगमों में किया है। हिन्दू समाज चाहे वैष्णव हो या जैन या बौद्ध गणेश और सरस्वती की वन्दना करता है। गो० तुलसीदास जी भी मानस में पवित्र तक सर्वप्रथम गणेश की वन्दना करते हैं। कारण स्पष्ट है वे लोक और वेद दोनों का साथ लेकर चलना चाहते हैं। भवानीशंकर की वन्दना रामचरितमानस में श्रद्धा विश्वास और गुरु तीन रूपों में की गयी है। शंकर वैष्णवों के गुरु हैं जो पुराणों और आगमों से सिद्ध है। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय या वल्लभसम्प्रदाय में इन्हें गुरु माना ही नहीं जाता सम्प्रदाय का प्रणेता भी माना जाता है। तुलसीदास जी ने इन्हें परम ज्ञानी भेदबुद्धिनाशकर्त्ता बोधमयगुरु ही माना है किन्तु पवित्र मानस में शंकर के श्रुतियों का इतना बड़ा स्थान है हनुमान् जी को भी शिव का अवतार ही गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है। शिव परम भक्त हैं गतीमोह में स्पष्ट है। रामानुजसम्प्रदाय में भगवद्भक्त की सेवा का विधान है। भक्त एक दूसरे की वन्दना करते हैं। वेदान्तदेशिक ने तो यतिसिद्धान्त में स्पष्ट कहा है कि भगवद्भक्तों

या उनके परिवार के देवों से भक्ति की ही याचना करनी चाहिए। तुलसीदासजी अज्ञान नाश केलिए तथा भक्ति की दृढ़ता केलिए शिव की शरणागति जो अंगरूप में है, करते हैं। वास्तव में शिव परात्परगुरु हैं। गुरु का वष्णव साधना में ही नहीं, किसी भी साधना में महत्त्व है। गुरुद्रोह बहुत बडा पाप माना जाता है। तुलसीदास जी इस निमित्त ही शिवद्रोह को विष्णुभक्ति का उपघातक मानते हैं। कबीर भी गुरु की महिमा मुक्तकण्ठ से गाते हैं। नाथसम्प्रदाय के प्रवतक गुरुगोरख और मत्स्यनाथ भी गुरु की महिमा स्वीकार करते हुए कहते हैं गुरु गहि रहिला निगुरा न रहिला—।

एक प्रश्न सामने उपस्थित होता है कि तुलसी ने भक्तिपथ स्वीकार किया है या प्रपत्ति। अवतक के रामानुजी विचारधारा प्रभावित समालोचकों का कहना है कि वे प्रपत्ति की वकालत करते हैं परंतु बात वसी नहीं है। उन्होंने प्रपत्ति अंगीरूप में नहीं ग्रहण किया वेदान्तदेशिक की तरह अंगरूप में ही स्वीकार किया। यह अंगी उनके यहाँ पराभक्ति थी। ऐसा न करने का कारण उन्हें भक्ति में अधिकार था तथा वे शरीर और मन से स्वस्थ थे उन्हें अपने पौरुष पर विश्वास था, इसलिए अकारण भक्ति को छोडकर प्रपत्ति मात्र पर आरूढ नहीं हुए। स्वयं बार बार भक्ति की ही याचना करते हैं। यद्यपि उन्होंने विनयपत्रिका में प्रपत्ति के पोषक पदों की रचना की है। दोहावली का चातकप्रेम भी उसके समर्थन में रखा जा सकता है। लक्ष्मी जी का पुरुषकाररूप में प्रार्थना विनयपत्रिका में मिलती है। शरण शब्द का स्पष्ट प्रयोग भी है। इतना होने पर भी उपसंहार भक्ति से है। चाहे रामायण हो या विनयपत्रिका, दोनों के अन्त में भक्ति की ही याचना ध्वनित है। ज्ञान या प्रपत्ति नहीं। इसलिए तुलसी साहित्य का प्रतिपाद्य ज्ञान या प्रपत्ति नहीं भक्ति है निरंतर साधन प्रपत्ति है या नवधा भक्ति है।' अनन्य भक्ति

प्रपत्ति साध्यरूप में हो या साधनरूप में गुरु और भगवान् के अतिरिक्त श्री या उनके अवतारी रूपों की शरणागति अनिवार्य होती है। डा० रामदत्त भारद्वाज के अनुसार भगवान् के प्रति प्रेम की अनन्यता ही प्रपत्ति है। प्रपत्ति में सब धर्मों का त्याग है। त्यागी को श्रद्धावान् और अनसूय होना चाहिए। ऐसे भक्त को ही भगवान् आश्वासन देते हैं कि मैं सब पापों से तेरी रक्षा करूँगा। जो लोग ईश्वर के प्रसाद की कामना करते हैं वे पाखण्ड को छोडकर शुद्ध हृदय से उसकी शरण में आ-जाते हैं। वे उनकी माया का अतिक्रमण करते और निरभिमान हो जाते हैं। प्रपत्ति ही एक मात्र मुक्तिमार्ग है और उसकी सिद्धि हो जाने पर गावके के प्रयत्न की कोई जरूरत नहीं। परमात्मा स्वयं उसका सब कार्य और सुलभ बना देता है।

उपर्युक्त मत वेदान्तदेशिक का नहीं है। यह मत लोकाचार्य वरवर मुनि तथा रामानन्द जी का मान्य है। वेदान्तदेशिक और तुलसी प्रपत्ति में धर्मत्याग अपराध मानते हैं। तुलसीदास भी धर्म का त्याग अनुचित मानते हैं—

दादर मन कहु एक आधार। दैव दैव आलसी पुकारा ॥

वेदान्तदेशिक और तुलसी दोनों ही निष्कामकर्म को भक्ति और प्रपत्ति में आवश्यक मानते हैं। वेदान्तदेशिक जहां 'निषिद्ध काम्य रहित, कुरु मानितय कर्म' कहते हैं तुलसीदास का मत है—

> बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निहकाम।
> तिनके हृदयकमलमँह करौं सदा विश्राम ॥१६॥ रामा अरण्य

व श्रुतिसम्मतनिर्दोषपथ भक्ति को मानते हैं। जहाँ धर्म और कर्म का अखंड साम्राज्य है उन्हें इस अकर्मण्यवाद पर आक्रोश भी है वे इन धर्म त्यागियों को रामानन्दी होकर भी फटकारते हैं—

> श्रुतिसम्मत हरिभक्तिपथ संयुत विरतिविवेक।
> तहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पथ अनेक ॥७।१८०॥ रामा

श्रुतिसम्मतपथ उपासना ही है। उपासना प्रीतिरूपा है जो अन्तर्याग और बहिर्याग के भेद से प्रस्फुटित है। अन्तर्याग मानसयजन है वस्तुयजन बहिर्याग है। यजन के बिना मोक्ष मिल जाय, ऐसा सम्भव नहीं है। पानी से मथकर घी प्राप्त करना बालू से तेल निकालना सभव भले ही हो भगवान् से प्रीति के बिना मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है। गो० तुलसीदास जी का अकाट्य सिद्धान्त है कि—

> वारि मथे घृत होयबरु सिकता ते बरु तेल।
> बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल ।दोहावली

शान्तिपद अद्वैत का अनुभव मात्र नहीं है। आत्मपरमात्म का मिथुनी भाव है। यह प्रीतिमय है जो पाँच भावों एवं एकादश आसक्तियों में परिणत है। यह जड़ी भाव नहीं है जहाँ कि न्यायवैशेषिक का शान्तभाव है। 'न तत्पद पुर इव परिस्फुरन् सर्वांगमिव आलिंगन्' विशेष चमत्कार है परमरस है रस की काष्ठा और परागति है इसलिए भगवान् की अनुभूति रसमय कही जाती है। रसो वै सः। तदनुसार तुलसीदास जी के अनुसार सायुज्यमुक्ति ही भक्ति नहीं है भगवत् लीला में भगवान् से पृथक रहकर भी प्रीतिसुख पानपूर्वक भोगा जा सकता है। नारद हनुमान् तथा भरत आदि इसी प्रकार के भक्त हैं। वे बाह्यरूप में संसारी की तरह कार्य करते देखे जाते हैं। दूत का कार्य सेवा का कार्य, युद्ध तथा राज्य आदि कर्म संसार से पृथक नहीं हैं परन्तु इन भक्तों को संसार की तरह चित्त में ग्लानि नहीं है। इन्हें तो इन कार्यों में भी प्रीति की पराकाष्ठा का सुख मिलता है। हनुमान् अनवरत परिश्रम करके भी नहीं थकते। भरत नन्दी ग्राम में राज्य स्व से अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। नारद तथा कौशल्या की स्थिति भी पृथक नहीं है। मानस के अनुसार कौशल्या दशरथ के वियोग से उतनी दुःखी नहीं जितनी राम के न पहुँचने से दुःखी है। हनुमान् जी सीता और रामचन्द्र को सिंहासन पर बैठा देख कर प्रेमपूर्वक हर्ष के उद्रेक में नाच उठते हैं—

जयति सिंहासनासीन सीता रमण निरखि ।
निभर हृदय नत्य कारी ॥ वि प पद २७ गीताप्रेस

हनुमान् जी न केवल रामावतार मे ही भगवान् राम का साथ देन हैं वे कृष्ण अवतार म भी भगवान् कृष्ण के साथ अजुन की सहायता करते है। वे साम गान म विशेष प्रीति रखते हैं। वे पूण ज्ञानी, पूण भक्त और नित्य मुक्त जीव हैं।

जयति भीमाजुन व्याल सूदन गव हर
धनजय रथ त्राण केतू । वि प २८

तुलसीदास जी ज्ञान के बिना भक्ति को विरूप समझते हैं (भक्ति का भूषण ज्ञान) व स । यह ज्ञान दो प्रकार का है शास्त्रज्ञान और अपरोक्षज्ञान। शास्त्रज्ञान के बाद योगविद्या स अपरोक्षज्ञान होता है। यह अपरोक्षज्ञान ब्रह्मविद्या का पूवरूप है। इसी ज्ञान की ध्रुवास्मृति जो प्रीतिरूपा है भक्ति है। उनको यह स्वीकार है कि भक्ति ज्ञान से भूषित होती है ज्ञान ध्यान स पुष्ट होता है और ध्यान की सिद्धि सब विध त्याग से होती है। त्याग होने पर ही चित्त की ध तावस्था आती है जो निर्वात दीप की तरह भगवद काराकारित होने म सक्षम होता है। योगशास्त्र इसे समाधिसिद्धि कहता है। भक्तिशास्त्र भगवद्धी मानता है। तुलसीदास जी इस तथ्य को बडी ही स्पष्ट भाषा म स्वीकार करत हैं। अलवारो न विशेष कर शठकोपन भी योगविद्या और ज्ञान को भक्ति के लिए आवश्यक बताया है। वेदान्तदेशिक उनस सहमत हैं परन्तु उनकी व्याख्या वर वर मुनि और लोकाचाय स भिन है। वेदान्तदेशिक की व सैं तिगल लोग अप्रामाणिक नही मानते परन्तु उनकी उक्तियो को तोड मरोड कर साम्प्रदायिक अर्थ लगाते हैं। यद्यपि डा० मलिकमुहम्मद का यह मत कि प्रबन्ध म अलवारभक्तों का शरणागतितत्त्व का जो स्वरूप दिखाई देता है वह सम्पूर्ण शरणागति या प्रपत्ति ही है और वही प्रपत्ति का आदर्श स्वरूप है। अलवार भक्तों ने अपने वास्तविक अनुभव के आधार पर ही सम्पूर्ण शरणागति को उचित सिद्ध किया था। इसलिए उन्होंने अनेक पदों म शरणागति पर विशेष बल दिया है।' उचित ही माना जाता है परन्तु इसम संशोधन की आवश्यकता है। डाक्टर साहब ने जिस सम्पूर्ण शरणागति का प्रकरण उठाया है वह तिंगले सम्प्रदाय को मान्यतावाली ही सम्पूर्ण शरणागति या प्रपत्ति है जो न तो विष्णु देवता के स्वभाव या काय के अनुकूल है न किसी अलवार का व्यक्तिगत अनुभव। अलवारो या अलवारों ने यह अधिकांशस्थलों पर स्वीकार किया है कि विष्णु वदिक और पौराणिक देवता हैं उनकी लीला वदिकविधि और वदिक अध्यात्म के पोषण के लिए है सवक स्वामी का विरोधी नहीं होता सहायक होता है। प्रत्येक अलवार (या आदाल) प्रीति के साथ लोकधम का पालन करता पाया गया है। इसम विष्णुचित्त और अण्डाल (गोदम्मा) विशेष ध्येय हैं। इन्होंने सम्पूर्ण समपण के बाद भी धम का सवथा त्याग नहीं किया। इनके किसी पद मे ऐसी प्रेरणा नहीं है। इसी

सवार के सभी पद उपनिषदों और योग शास्त्रो के अनुवादसदृश प्रतीत होते हैं। प्रपत्ति-विद्या न तो अलवारो ने नई बतायी न अलवन्दारो ने। इसके आदि आचार्य विष्णु हैं, जो वेदगर्भ हैं उनका नाम ही वेद है। ऐसी परिस्थिति में प्रपत्ति को नवीन बताना कहाँ तक उचित है इसे सुबुद्धिजन सोच सकते हैं। भरतमुनि तक ने इसे पुराना सिद्ध किया है।

पुष्टिमार्ग और वेदान्तदेशिक

वेदान्तदेशिक के सिद्धान्त वेदवाद से प्रभावित है इसलिए उसमे मर्यादा का आधिक्य है। पुष्टिमार्ग श्रीमद्भागवत से प्रभावित है, इसलिए क्वचित् वेदमार्ग का त्याग भी सम्भव है। वेदान्तदेशिक ने यहाँ ब्रह्मविद्या अर्थात् वेदविद्या को भक्ति कहा है। वल्लभाचार्य ने मात्र परम सुदृढ स्नेह को भक्ति कहा है जो भगवन्माहात्म्यज्ञान पूर्वक होता है। वह भी केवल प्रभु के अनुग्रह से ही सम्भव है। यद्यपि वल्लभाचार्य ने वेदवाद का त्याग नहीं किया परन्तु वेदवाद का प्रवाह और मर्यादामयपुष्टिमार्ग घोषित कर शुद्ध पुष्टि से पृथक कर दिया तथा उसका महत्त्व पुष्टि से अवर मानकर उसकी हीनता भी परोक्ष मार्ग से स्वीकार कर ली है। वेदान्तदेशिक जहाँ निखिलव्यापार का उपासना का अंग मानकर गीताकार एवं उपनिषदो से अपना स्वर मिलाते हैं वल्लभाचार्य स्पष्टतः घोषित करते हैं कि उपासना मे कर्मकाण्ड की प्रधानता है और पुष्टिमार्ग में भावना की प्रधानता। इसीलिए वे विष्णु को सेव्य न बताकर श्रीकृष्ण को सेव्य बताते हैं। वेदान्तदेशिक विष्णु के सभी विग्रहो को सेव्य बताते हुए पुरातनपरम्परा से ऐकमत्य रखते हैं।

पुष्टिमार्ग जहाँ प्रवाहमार्गी जीवों को भगवान् के मन मे उत्पन्न बताते हैं वेदान्तदेशिक इसे मानने को तयार नहीं है। उनके यहा सभी जीव नित्य है, सभी भगवत्प्रेम के अधिकारी हैं, केवल अन्तर अज्ञान के कारण है। ससारी भोगेच्छु हैं इसलिए वे भगवान् के प्रेम से पृथक प्रतीत होते है। यदि वे भी भगवान् का प्रेम या शरणा प्राप्त करना चाहें तो भगवान् का हृदय खुला है। वे भी भगवान् की भक्ति प्राप्तकर सायुज्य प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष या परमभक्ति के सम्बन्ध मे भी दोनो में मौलिक भेद है। वल्लभाचार्य लीला को सायुज्य से पृथक मानते हैं जबकि वेदान्तदेशिक सायुज्य में भी लीलारस मानते हैं। प्रीति के विषय में दोनो में समानता है। वेदान्तदेशिक के अनुसार वल्लभ की भक्ति को प्रपत्ति मे रखा जा सकता है जो शूद्रो केलिए उपादेय है। वल्लभाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार वेदान्तदेशिक को और तुलसीदास को मर्यादापुष्टि मे स्थान मिल सकता है शुद्धपुष्टि एवं पुष्टि पुष्टि के अधिकारी वे नहीं हैं। यद्यपि अपने श्रीमुख से उन्होंने पुष्टि को हीन नहीं बताया है परन्तु मर्यादापुष्टि की अपेक्षा से यही ध्वनित होता है।

तुलसीदास जी अपने भजनपथ को निगमाचार्य कहकर श्रुतिपथ बताते हैं,

मन्त्रजप और नामजप पर विशेष बल दिया है। मन्त्र कितना भी छोटा हो, वह ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक का साधक के वश में कर देता है। मन्त्र के वश में ब्रह्मा विष्णु, महेश तथा सभी देवगण भी हैं। गो० तुलसीदास जी का विश्वास है कि मन्त्र मोक्ष का दाता भी है। मन्त्र का जप अर्थ स्मरणपूर्वक होता है, इसलिए ध्यानवृद्धि में भी सहायक है। मन्त्र आगम और निगम भेद से दो प्रकार के हैं। प्रणवमन्त्र दोनों स्थानों पर पठित हैं परन्तु यह परमलघुमन्त्र नहीं है। तुलसीदास जी के मत से राम का परमलघुरूप र ही है जो रकार अकार और मकार के संयोग से बनती है। उलटा जाप करने वाले बाल्मीकि महर्षि भी अभीष्टफललाभ कर चुके हैं। इसलिए यह नाम नामी राम से भी बड़ा है। इसके वश में राम रहते हैं, इसलिए जापक पर भी राम की कृपा होती है। जिस पर राम की कृपा होती है उस पर देवदानव सब की कृपा होती है। यह अमंगल का दूर करनेवाला मंगल का आगार है। इस मन्त्र को उमा सहित पुरारी जपते हैं—

उहि मह रघुपतिनाम उदारा। अति पावन पुरानश्रुतिसारा।

मंगल भवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी ॥१॥ ग बा का

भक्ति में प्रपत्ति या शरणागति भी सहायक है। शरणागति के विषय में गीता एवं बाल्मीकि रामायण तो विशेष सदभग्रन्थ हैं ही समस्त वैष्णव पुराण तथा वैष्णव तन्त्र भी प्रपत्ति न्यास और शरणागति का विवेचन करते हैं। अलवार अल म्भार तथा वेदान्त के वैष्णव सम्प्रदाय भी अपने भक्तिसिद्धान्त में शरणागति का प्रयोग करते हैं। श्वेताश्वतर, मुण्डक और छान्दोग्योपनिषद् भी शरणागति की विशेषता बताते हैं। इसलिए जिनका यह मत है कि अलवारों से ही शरणागति का आरम्भ हुआ, आधारहीन प्रतीत होता है अलवार साहित्य में अवश्य शरणागतिविद्या का सांगो पांग विवेक मिलता है। अलवारों से पहले ही शरणागति का सिद्धान्त बहुचर्चित हो चुका था। तुलसीदास जी ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में शरणागति का प्रयोग शब्द और सिद्धान्त दोनों प्रकार से किया है। अहिर्बुध्न्य संहिता तथा लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार शर णागति में ६ तत्त्व बताये गये हैं—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनं। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्य षड्विधा शरणागति। लक्ष्मी तन्त्र १७।७८

अर्थात् भगवान् के अनुकूल रहना उनसे प्रतिकूल जन तथा भावना का त्यागना, भगवान् के ऊपर अटूट विश्वास गुरु की शरणागति आत्मनिवेदन तथा भगवान् के सम्मुख दीनता का अनुभव करना यह शरणागति की छ विधायें हैं। तुलसीदासजी इनको उसी तरह मान्य देते हैं जैसे वर्णाश्रमनैतिक तथा निवार्काचार्य और मध्वाचार्य।

तुलसीदास के विविध साहित्य में भगवान् और उनके भक्तों के प्रति आनुकूल्य मिलता है। विनय गीतिकाव्यों में भी अपनी अनुकूलता की अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकारों

म करते पाय जाते हैं।

प्रपत्ति में भगवद् विरोधी तत्वों का त्याग किया जाता है। दुजनों की सगति नास्तिकशास्त्र एव अशुभ आचरण भगवद् विरोधी माने जाते हैं। तुलसीदास ने सबके त्याग को उचित ठहराया है—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही। वि प

कुछ लोगो का मत है कि सामाजिक बन्धन तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य भावना भी प्रपत्ति म बाधक है परन्तु तुलसीदास जी की इस त्याग म रुचि नहीं है। गृहस्थ को इस प्रकार के त्याग स हानि है। उसे धम का त्याग तो करना ही नही चाहिए अन्यथा भगवान् का प्रतिकूल उसे स्वय बनना पडेगा। भगवान् की भक्ति मे जो नाते या सम्बन्ध बाधक हैं उनका त्याग ही तुलसीदास जी का सिद्धान्त है। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम म गृह और नाते का त्याग ही धम है। उसका न त्याग करना अवश्य भगवद् विरोधी आचरण है। धम का अनुष्ठान करने म विरक्ति दृढ होती है उसस योग सिद्ध होता है योग स ज्ञान प्राप्त होता है ज्ञान स प्रेमभक्ति मिलती है जो मोक्ष प्रदान करने वाली है।

भगवान् ही एक मात्र रक्षक है यह दृढ विश्वास प्रपत्ति का तीसरा अग है। वास्तव म यह प्रपत्ति की रीढ है। इसके अभाव मे प्रपत्ति और भक्ति में कोई भेद नही रहेगा। वेदान्तदेशिक और तुलसी म इस विचार की दिशा म समानता दिखाई देती है। महाकवि सूर की अब की राखि लेहु भगवान् वाले पद में इस तत्त्व का समथन करते हैं। तुलसीदास विनय पत्रिका म राम पर अपनी आश्रयता विशेष रूप से दिखाते हैं। कवितावली म भी अपने को राम का ही गुलाम मानते हैं। वे बडे विश्वास से कहते हैं—

१ जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतित पावन जग केहि अति दीन पियारे। वि प २०१
कौन देव बराई बिरद हित हठि हठि अधम उधारे।

३ यत् पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।
वन्देऽह तमशेषकारणपर रामाख्यमीश हरिम्॥ रा मा बा

दोहावली म भगवान् के रक्षक रूप पर तुलसीदास जी का विश्वास दृढतर दिखाई देता है। उनका कहना है कि निखिल चिन्ताओ का त्याग करो, भगवान् राम के उन चरणो का स्मरण करो जिन्होने पाषाणी शिला को भी शापमुक्त कर दिया। तुम्हारी कामना पूरी करेंगे—

गठिव धते परतीति बडि, जेहि सबको सब काज।
कहत थोर समुझत बहुत गाय बढत अनाज॥ दोहा० ४५३।

जानकी नाथ बिना तुलसी जग दूसर सो करि हो न हहा है। कवि उत्तर

सोये सुख तुलसी भरोसो एक राम के । कविता उत्त

प्रपत्ति का चौथा पट्टू गोप्तत्ववरण है। यह गुरु की कृपा रूप मे हाता है। कुछ लोगो के अनुसार भगवान् का ही हाता है। सिद्धान्तत गुरु की कृपा ही उचित है, इसम भगवान् की कृपा भी आ जाती है क्योंकि भगवान् भा अन्ति गुरु ही है। साधना काल म गुर ही निकट रहना है जो विश्वास उत्पन्न करने मे सहायक होता है। तुलसीदास जी और वेदान्तदेशिक गुर की शरणागति ही स्वीकार करत हैं। गोस्वामी जी कहते हैं—

वदऊ गुरुपदकज कृपासिन्धु नररूप हरि ।

महामोहतमपुज जासु वचन रविकरनिकर ।।५।। रा मा बा।

यहाँ ध्वनित है कि गुरु सव प्रथम वरेण्य है कारण कि वह मोह का नाशक है, भगवान् मे रुचि उत्पन्न करता है अनुराग की वद्धि करान वाला है प्रमरस क आस्वादन तत्त्वो म रुचोत्पादक है अमृतचूर्ण की तरह सभी प्रकार के सासारिक भवो से रक्षा करनेवाला है। गोस्वामी जी ने अपना गुरु नरहरि को चुना था। उन्हें नररूप में हरि ही मानकर उनका गोप्तत्व स्वीकार किया था। उत्तरकाण्ड के काग भुशुण्डी उपाख्यान मे शिष्यद्वारा गुरु की उपेक्षा हान पर गुरुद्वारा शिष्य की रक्षा करता दिखाया गया है।

आत्म निवदन प्रपत्ति का पचम अग है। भक्त अपना सवस्व भगवान् या आराध्य को समर्पित कर देता है। धन जन शरीर और गृह ही नही अपनी जीवात्मा को भी भगवान् के चरणो म अर्पित कर अपने को धन्य मानता है। यही न्यास विद्या का चरम तत्त्व है। यह अकिञ्चनत्व प्रपत्ति की साधना म विश्वास के बाद उसी की तरह दूसरा आवश्यक तत्त्व है। तुलसीदास जी ने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओ मे आत्म निवेदन की दिशा म उचित सकेत दिया है। प्रपत्ति का षष्ठ अग कार्पण्य है। इसका दूसरा नाम दीनता है। जीव ईश्वर के ऐश्वय के समक्ष अपने को अकिचन समझता है। यह भगवान् की दया और करुणा की कामना है। वेदान्तदेशिक के अच्युतशतक तथा अभीतिस्तव आदि ग्रन्थों म दीनता अभिव्यजित है। तुलसीदास जा के साहित्य म भी कार्पण्य[78] प्रचुरमात्र मे सुलभ होता है।

भक्ति प्रयच्छ रघुपुगव निर्भरा म । सुन्दर श्लोक नाथ जीवत्रय मामा मोहा सो निरन्तरइ तुम्हारेहि छोहा वि, का २१२

काल करम गुन दाप जग, जीव तिहारे हाथ

तुलसी रघुवर रावरो जानु जानकी नाथ ॥१७६॥ दोहावली।

का काहू के द्वार परो जो हौ सा हौ राम क। प १०७।क उ

भक्तिप्रपत्ति मे गुरु का महत्त्व

गुरु शब्द का अथ अ धकार को दूरकर शिष्य को प्रकाश म लानवाला बनाया

जाता है। विश्व की अखिल साधनाओं में गुरु का महत्त्व स्वीकृत है। भक्ति में भी गुरु अपनी उपयोगिता और महिमा दोनों ही दृष्टि से प्रसिद्ध है। वेदान्तनिष्ठ वैदिक मर्यादावाद के अभिमानी आचार्य हैं इसलिए वहाँ गुरु का महत्त्व और उपयोगिता विशेषरूप से है। गुरु के विषय में प्रायः कहा जाता है कि वह दो प्रकार की भूमिका में दिखाई पड़ता है, लौकिक विद्या का अध्यापन कर्त्ता तथा अध्यात्म या साधना के क्षेत्र में शास्त्रज्ञानसम्पादनकर्त्ता एवं शास्ता के रूप में। वैदिकपरम्परा विद्यादाता गुरु को ही गुरु मानती रही है चाहे वह किसी प्रकार की हो परन्तु अध्यात्मविद्या की तरह उसके अध्यापन एवं अनुशासन को भी विशेष महत्ता मानी जाती रही है। वेदान्तदेशिक ने दोनों प्रकार के गुरुओं को विशेषसम्मान दिया है परन्तु गुरु का महत्त्व अपनी गरिमा की रक्षा-तक ही है। यदि गुरु पतित हो जाता है या उक्त मार्ग से विश्वास खो देता है तब वह उस विश्वास एवं श्रद्धा का भाजन नहीं जिसे वह प्रथम परिस्थिति में पा सकता था। शास्त्र में ऐसे गुरुओं के त्याग की व्यवस्था है। गुरु तथा उनके पूर्ववर्ती समस्त जन जो आदि गुरु की अभिविधि में पाये जाते हैं पूज्य हैं। भगवान् के सिंहासन के पास उनकी पूजा तो होती ही है उनके निर्माल्य का प्रथम अधिकार भी इन भक्ति के गुरुओं को ही है।

वेदान्तदेशिक की परम्परा के अनुसार गुरु का जिस प्रकार महत्त्व सम्पादन है तुलसी साहित्य में उसी प्रकार गुरु की अनिवार्यता देखी जाती है। गुरु के प्रति श्रद्धा पूजा बुद्धि शरणागति तथा उसका अनुगमन तुलसीदास के साहित्य में भी मिलता है। अपने साहित्य के निर्माण काल में परमगुरु विद्यागुरु, तथा अध्यात्मगुरु का जिस प्रकार उल्लेख श्री देशिक करते हैं, गोस्वामी जी भी उसी पथ पर अनुगमन करते हैं। वास्तव में यह प्रभाव नहीं है एक पुरातनपरम्परा है जिसे भारत की सभी विचारधाराएँ, स्वीकार करती हैं। तुलसीदास जी[76] स्वयं अपने गुरु की वन्दना मानस में करते हैं। वसिष्ठ जी की वन्दना दशरथ जी तथा रामचन्द्र जी भी करते हैं। विश्वामित्र जी विद्यागुरु हैं। रामलक्ष्मण[77] युगलकिशोर उनका अनुशासन मानते हुए उनकी सेवा करते पाये गये हैं। उनके शयन के पश्चात् सोने जाना और प्रबोधन के पहले जग जाना उनकी दैनिक चर्या तो है ही गुरु के कार्यों में सहायता करना भी देखा जाता है। पुष्प लाना, लकड़ी लाना, पूजा के लिए व्यवस्था करना, दोनों भाइयों का रुचिकर एवं सहज व्यापार था।

वय एवं पद की दृष्टि से भी गुरुता मानी गयी है। माता पिता भाई आदि पूर्वोत्तर क्रमसे बड़े माने जाते हैं। वे भी लोक एवं कुल व्यवहार तथा कतिपय विद्याओं के गुरु माने जाते हैं। तुलसी के उदात्तपात्र गुरुओं की सेवा करते मिलते हैं। अध्यात्मसाधना में भी इन गुरुओं के प्रति श्रद्धा उपयोगी मानी जाती है।

गुरु[78] के चरणकमल की सेवा तीसरी भक्ति गोस्वामी जी स्वयं मानते हैं।

गुरु के बिना ज्ञान होना सम्भव नही है। गुरु के अनुग्रह से ही ज्ञान सुलभ हो सकता है। अनुग्रह केलिए विनय और सेवा अपेक्षित है। गुरु के भी कुछ कर्त्तव्य हैं वह चाहे जिसे ज्ञान नही दे सकता। उसे अधिकारी[79] की परीक्षा करनी होती है। काकभुशुण्डी के उपाख्यान में उनके गुरु अधिकारी समझ कर ही ज्ञान देते हैं। ज्ञान का अर्थ उक्त प्रकरण में शास्त्र ज्ञान से ही है जो तत्त्व विषयक है। साधना में अधिकारी को ही क्रमशः ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का उपदेश दिया जाता है।

योग्यगुरु की उपेक्षा से भक्ति में या ज्ञान में अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है काकभुशुण्डी जी को अपने पूर्वयोनि में गुरु की अज्ञानवश में उपेक्षा करने में शंकर के शाप का भाजन बनना पड़ा। तुलसीदास जी ने गुरु का नररूप में हरि मानकर वंदना की है। अस्तु वेदान्तदेशिक और तुलसी के यहाँ भक्ति में लक्ष्मी के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक गुरु है। इसी परम्परा में कबीर ने भी गुरु की भूरि भूरि प्रशंसा की है—

सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान।

दोनो आचार्यों के अनुसार भागवतसेवा और भक्ति

वैष्णवसाधना में भागवतसेवा का स्थान सर्वोपरि है। वेदान्तदेशिक ने स्थान स्थान पर यह स्वीकार किया है कि भगवत्सेवा की तरह उनके भक्तों की सेवा भी महत्त्वपूर्ण है। उनके जीवनवृत्त से स्पष्ट है कि उन्होंने ज्ञान और कर्म के अवलम्बन की अपेक्षा हरिदासों के पदत्राण[80] (वयं तु हरिदासानां पदत्राणावलम्बिनः ।। वेदान्तदेशिक स० अ०) का अवलम्बन श्रेयस्कर बताया था। तुलसीदास जी ने भी भगवान् से प्रेम करने वाले के पग का पानही[81] को अपने शरीर के चाम से बनवाने की कामना की है। तुलसीदास जी के मत से अतीत और संत ही भगवद् भक्त हैं जिनकी चित्तवृत्ति चंचलता का त्याग कर शान्त हो गयी है। अहंकार की आग उनपर काबू नही पाती, जिसमें सारा संसार जला करता है। साधु संत या भक्त सब तरह से हीन भले ही हों जैसाकि सांसारिक लोगों का मत है तथापि उनकी कुलीनों से कोई समता नही है। कुलीन लोग दिन रात संसार में अभिमान की आग में जलते रहते हैं और भक्त भगवान् का नाम रात दिन जपता रहता है।[82] दास या भक्त भगवान् के नाम से अनुरक्त रहता है वह स्वर्गलोक और भूलोक के सुखों का त्याग कर देता है।[83]

भक्ति में तुलसी का वैशिष्ट्य

गो० तुलसीदास जी की भक्ति उपाय और उपेय दोनों रूपों में प्रतीत होती है। नवधा भक्ति जहाँ चित्त की शुद्धि के लिए नितान्त आवश्यक है पराभक्ति स्वयं ज्ञान या योगविद्या का भी साध्य है। भक्ति और प्रपत्ति दोनों एक ही सत्य के दो रूप है अधिकारी भेद से अनुष्ठान की प्रक्रिया और साधनमात्र में भिन्न हैं। प्रपत्ति में जहाँ अनन्य विश्वास तथा आत्मनिवेदन की परम आवश्यकता है भक्ति में प्रीति की पराकाष्ठा तथा आश्रमधर्म का अनुष्ठान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

तुलसी की भक्ति के सिद्धान्त के समवाद से गठबंधन में वेदान्तदेशिक की भूमिका बड़ी पुष्ट प्रतीत हो रही है। वेदान्तदेशिक की भक्तिप्रपत्ति को ही तुलसी का मानस वेदवाद का तूर्य बजा कर अपनाता प्रतीत होता है। तुलसी के समकालीन अन्य भक्त जहाँ साखी और दोहरा (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग। निगम नियोगतें सो कलि ही छरासो है। कवि उत ८४) कहकर मन माने ढंग से भक्ति का स्वरूप प्रतिपादन कर रहे थे तथा कुछ भक्ति के आचार्य प्रेम के बल पर शास्त्र एवं श्रुति की उपेक्षा (भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं वेद पुरान।३३२ दोहावली) कर रहे थे तुलसीदास ने इस सत्य का प्रतिपादन किया कि भक्ति का पक्ष ही श्रुतिपथ है। श्रुति की जहां उपेक्षा की गई है वहाँ भक्ति का अस्तित्व नहीं है।

तुलसीदास ने भक्ति में जहां दास्यभाव पर विशेष बल दिया वहाँ अन्य भाव उपेक्षित भी नहीं हुए। मधुर भाव की रामभक्ति में बीजवत् अपनी सत्ता स्थापित कर चुका था जिसे परवर्ती आचार्यों में विशेष रूप से देखते हैं। पुष्टिमार्गी जहाँ मर्यादा एवं प्रवाह पुष्टि में अरुचि दिखा रहे थे[84] और अवदिक पुष्टि पुष्टि तथा शुद्ध पुष्टि के कायल थे तुलसी ने मर्यादा पुष्टि या थोती सनातनीभक्ति का ही चतुर्युगी बताकर कलि में भी उपादेय (सर्वाधिक) घोषित किया।

परम्परा से चले आ रहे लोकविश्वास तथा लोकधर्म जो उपादेय एवं हितावह थे, उनकी भक्ति में उपयोग उत्साह के साथ किया। वेदान्तदेशिक ने तीर्थों पर विश्वास प्रकट किया है उनकी भक्ति का आरम्भ ही तिरुपति से है जो मुख्यात तीर्थ है। गो० तुलसीदास ने भी चित्रकूट, प्रयाग, काशी, और अयोध्या आदिक तीर्थों तथा गंगा की महिमा का ध्यान रखकर उनका भक्ति में उपयोग किया है। तीर्थों की अन लिप्त तथा दयनीय स्थिति से मानो क्षुब्ध होकर एक जैसे उद्गार प्रकट करते हुए प्रतीत होते हैं। श्राद्ध तथा अन्त्येष्टि आदि की कटु आलोचना जैन और बौद्ध करते आ रहे हैं तुलसी ने अपने नायक राम से उस पर श्रद्धा व्यक्त करायी है।

प्रपत्ति को लोगों ने त्याग या संन्यास का प्रतिरूप कहा था परन्तु वेदान्त देशिक की तरह तुलसीदास जी ने वर्णाश्रम की मुद्रा लगा कर वेद को माध्यम बनाकर मनमुखी आचार्यों को चेतावनी भी दे दी कि वस्तुतः उनका भक्तिपथ सिद्धान्तविहीन है। प्रपत्ति को जहाँ रम्यजामातर ने मोक्ष का एक मात्र साधन बताया था वेदान्त-देशिक ने अनेक विद्याओं की तरह उसे भी निश्चित किया। तुलसी ने भक्ति के साथ प्रपत्ति तथा शरणागति को भी स्वतन्त्र साधन[85] स्वीकार कर एक देशी सम्प्रदायवाद की घोर उपेक्षा की—

कुछ लोग स्वीकार करते हैं कि तुलसी साम्प्रदायिक व्यक्तित्व वाले नहीं थे परन्तु वे भूल जाते हैं कि वैदिक धर्म उपासना एवं आचार की दृष्टि से शाखा प्रतिशाखाओं में बँटा है जिसका समर्थन तुलसी करते हैं। वेदान्तदेशिक भी मानते हैं कि

पाचरात्र की अपेक्षा शाखाचार ग्राह्य है। शाखाओं की सख्या सहस्रो म है। साम्प्रदायिक होना अपराध नही है, सम्प्रदायविहीन होना अराजकता का समर्थन है। उपासना मे सकीर्ण होना और हृदय से क्षुद्रता का समर्थन दोनो दो वस्तुएँ है। तुलसी सकीर्ण वदिक सम्प्रदाय के थे कहने मे कोई औचित्य नही, क्योंकि स्वच्छन्द वाद से (गोरख नाथी तथा कबीर पथी आदि लोगो से) उनके मत म विरसता स्पष्ट हो है।

भक्तिरसविवेक मे वेदान्तदेशिक और तुलसी का योगदान

रस शब्द का उपयोग पुरातन वैदिक साहित्य म परमतत्त्व के लिए होता है। यह शब्द अनुभूति का भी द्योतक है। रसमयी अनुभूति सुखात्मक होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह लोकोत्तरचमत्कारिणी[६१] होती है क्योकि सुखात्मक मानने पर दुखात्मक मानना अनिवाय हो जाता है। न्यायदर्शन की मान्यता है कि सुख और दुख म समभाव है अर्थात् सुख के बाद दु ख स्वत हो जाता है दु ख के बाद सुख सदा नही रह सकता। साख्यशास्त्र सुख में भी दु ख का अश पाता है, क्योकि आत्मा के अतिरिक्त सभी भावपदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। दुख भी सुख से सवथा शून्य नहीं रहता क्योकि सतोगुण अभिभूत होकर उसमे रहता ही है। वेदान्तदर्शन सुख शब्द से भिन्न आनन्द की कल्पना करता है, जिसमे न्याय की मान्यता को छोड दिया गया है। रामानुजवेदान्त तथा उनके परवर्ती समस्त वष्णववेदान्ती सुख को ही आनन्द मानते हैं जिसे दो कोटियो म विभाजित करते हैं—प्राकृतसुख और अप्राकृतसुख। प्राकृतसुख ही जगत् का आनन्द है जो जगत् म इन्द्रियो से सुलभ होता है पर अप्राकृतसुख वकुण्ठ म मिलता है जहाँ त्रिगुणात्मिका प्रकृति नही रहती। यह शुद्धसत्त्व या धमभूतज्ञानरूप ही सुख होता है जो सवथा सुवचनीय ही होता है, न कि अनिवचनीय। जिसकी सत्ता है, वेदान्तदेशिक के अनुसार वह अनिवचनीय नही हो सकता। सुख प्रत्यक्ष अनुभूति है अत वह सुवाच्य है। आनन्द आत्मा का स्वरूपनिरूपक धर्म है इस हेतु प्रकृत सस्पर्श रहित होकर जीवात्मा भी कवल्य स्थिति मे आनन्द का अनुभव करता है जो भावात्मक है न कि दु ख का अभाव मात्र।

रस सुखात्मक अनुभूति है जो पर और अपर रूप से वेदो म बताया गया हैं। भक्तिसूत्र मे इसे परानुभूति बताया गया है। यह जीव के प्रति क्षुद्र ब्रह्म के प्रति पर और जगत् के प्रति मोहक कहलाता है। भक्ति और रस को पृथक करके ब्रह्म की भूमिका मे नही देखा जा सकता। लोक म वासनावशात् होनेवाला आनन्द लोकोत्तर कैसे माना जा सकता? लोक का अथ सामान्य जन माना जाय तब लोकोत्तर का अथ परिष्कृत आनन्द सम्भव है किन्तु सासारिक अनात्मज्ञानी रसिक का आनन्द वही नहीं, जो योगी या भक्त का आनन्द है। रस की दो प्रकारता ही भक्तिरस की अनिवार्यता तथा लौकिक रसों की हेयता सिद्ध करती है। मधुसूदन सरस्वती सत्त्वोद्रेक से भक्तिरस की सत्ता मानते है परन्तु यह सत्त्व रज और तम से अनभिभू होने पर भी

इनसे अस्पृष्ट नहीं है, इसलिए भक्ति के आचार्यों का मान्यता से भिन्न है। भक्ति क आचाय सतोगुण और शुद्ध सत्व दो पृथक पदाथ मानत हैं। शुद्धसत्व प्रकृति से परे आत्मा का अधिकरण है सतोगुण आत्मा का विरोधी मोहजनक है।

रस के आचार्यों न शान्तरस म ही भक्तिरस या भक्ति का अन्तभूत किया था जिसे परवर्ती आचार्यों ने विशेष कर मधुसूदनसरस्वती तथा रूपगोस्वामी ने अस्वीकार कर भक्ति को पृथक रस घोषित किया या जिसमें अनेक रस भाव तथा अनुभाव सम्मिलित हुए, किन्तु आलम्बन भगवान्[62] ही थे या भगवती अन्य कोई जीव नहा। लौकिक रसों में कोई भी व्यक्ति आलम्बन बन जाता है। काव्यरस हो या समाधिरस प्रवृत्ति या ससार रहने पर लौकिक ही होगा इसलिए भक्ति भी लौकिक अलौकिक भेद से दो प्रकार की होनी ही है। लौकिकभक्ति अज्ञानी भक्तों की होती है अलौकिकभक्ति ज्ञानी भक्तों म होती है। भक्तिभेद से भक्तिरस म भी तारतम्य देखा जाता है। साहित्य के क्षेत्र म एक ही रचना भावभूमि के अनुसार भिन्न प्रकार की हो जाती है। अज्ञानी सासारिक सुखों म लिप्त भक्त मीरा के काव्य को पढ़कर लौकिक आनन्द ही प्राप्त करेगा पर ज्ञानी आत्मरमण करनेवाला भक्त भगवान् के समाधिसुख का अनुभव करेगा। तुलसी की रचनाएँ भी श्रोता या पाठक की मानसभूमि के अनुसार ही लौकिक या अलौकिक रस का आस्वादन करा रकती हैं। कवितावली का शृगार भले हो उदात्त हो, परन्तु लोकभूमि स पृथक नही है। मानस की सीता मर्यादा की रक्षा म नारित्व ही समाप्त कर देती है परन्तु उनका जीवन लोकविरुद्ध दो लोकाप्रत्यक्ष नही है। सक्षेप म प्राकृत नव रस हो या भक्तों द्वारा सिद्धान्तित चवणा की दृष्टि से द्रष्टा या श्रोता (पाठक) सापेक्ष हैं। जहाँ भगवान् का आलम्बन स्वीकार कर शृगार वीर वात्सल्य आदि रसो का निबन्धन किया जाता है वहीं भक्तिरस अभिव्यक्त उस सामाजिक म होगा जो पूर्ण आत्म ज्ञानी है। मधुसूदन सरस्वती ने शान्तरस और चित्तवृत्ति की परास्थिति को भिन्न बताया है परन्तु जगत् से निर्वेद होने पर ही शान्तरस प्रस्फुटित होता है भक्ति का स्थिति भी जगत् म नहीं है वह भी निर्वेदपूवक हो भागवत मे बतायी गयी है। वेदान्तदेशिक और तुलसी के यहाँ भी निर्वेद की अनिवार्यता है। परमपदसोपान म वेदान्तदेशिक ने इस उपनिबद्ध किया है।

जिन विद्वानो की यह मान्यता है कि भक्ति एक स्वतन्त्र रस है उन्ह यह भी मान्य होना चाहिए कि भक्ति में भी नव रस हैं। प्राय काव्य के नवरसो का भक्ति से पृथक मानने की भ्रान्ति हिन्दी के विद्वानो मे रही है वास्तविकता यह है कि काव्य के नवरस ही भक्ति के नवरस हैं भेद केवल आलम्बन का है। यदि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की चन्द्रावली नाटिका' शृगाररस की है तो उसे भक्ति स पृथक कर के नही देखा जा सकता। सिद्धान्तत तुलसी का विचार भी मूल नवरसो को मानते हुए भक्तिरस और प्राकृतरस मानने का है।

डा० उदयभानु सिंह का मत है 'उन्होंने भक्तिरस का व्यवहार दो अर्थों में किया है— एक काव्यशास्त्रीय है दूसरा आध्यात्मिक। काव्यशास्त्र के अनुसार शब्दनिबद्ध, विभावों, अनुभावों और संचारी भावों की भावना से विकसित भगवद्रति भक्तिरस है। आध्यात्मिक अर्थ में भक्ति स्वयमेव रस है। भक्त के मन में प्रतिबिम्बित परमानन्दस्वरूप भगवान् ही स्थायी भावता और रसता को प्राप्त होता है। इन्द्रियों की आनन्दमयी भगवद्‌रूपता भी भक्तिरस है।'

एकाध विद्वान् रामचरित मानस को काव्य न मानकर भक्ति रस का ग्रन्थ मानते हैं। उनके वचन का सैद्धान्तिक निष्कर्ष यह निकलता है कि भक्तिरस काव्यरस व्यावर्तकम् है। यह मत तुलसी सम्मत नहीं है।'

उदयभानु सिंह का यह मत तुलसीदास के विरुद्ध है। काव्यशास्त्रीयमत आध्यात्मिकमत का न तो त्याग करता है न उसका व्याघातक बनता है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजन में अति स्पष्ट शब्दों में 'सद्यः पर निर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजा' कहकर तथा अन्यत्र भी चतुर्वर्ग फलप्राप्ति का निमित्तत्व स्वीकार कर काव्यशास्त्र का क्षेत्र तथा ध्येय स्पष्ट कर दिया है। रसानुभूति में तारतम्य है। प्राकृत रसानुभूति से अप्राकृत रसानुभूति की तरफ कवि और पाठक को ले जाना ही उत्कृष्ट कविकर्म है। यह अनुभूति इस जन्म में हो या जन्मान्तर में हो कवि सचेष्ट उसी के लिए है। भेद इतना ही है कि वह उपक्रम या वीरक्रम है काव्य सुकुमारक्रम है। सभी भक्तों ने अपनी भक्तिमयी उद्गार काव्य के माध्यम से ही प्रकट किया है जो उनकी भक्ति की अनुभूति ही है। इस अनुभूति का साधारणीकरण सामान्य पाठक को नहीं होता। सामान्य पाठक अपनी सामान्यवासना के अनुसार स्थूल अनुभूति का ही अनुभव करता है, जो उत्कृष्ट आनन्द का पूर्वक्रम या जागतिक आनन्दमात्र ही है।

मालवीय जी इसे उच्छृंखल काव्यग्रन्थों से पृथक् करने के लिए ही रामचरित मानस को काव्य कहना उसका अपमान करना मानते हैं। वस्तुतः अध्यात्मरामायण और वाल्मीकीरामायण भी महाकाव्य है श्रीमद्भागवत पुराण का दशमस्कन्ध भी उत्कृष्टकाव्य है। वे चरित को निर्मल करते हुए जीवन को विमल करते हैं और भक्ति रस की वारिधारा भी अविच्छिन्न रूप में उनमें प्रवाहित होती है।

गो० तुलसीदास काव्य का गंगा की तरह पवित्र तथा सबकी भलाई करने वाला मानते हैं। काव्य और भक्ति काव्य में कोई भेद नहीं है। वरशरचिरा दोनों हैं केवल आलम्बन भेद से ही मालवी जी ने भक्तिरस का ग्रन्थ माना है। उदयभानु सिंह नव रसों में मूर्धन्य भक्तिरस मानते हैं और तुलसीदास ने भी नवरसों से भिन्न भक्तिरस माना है ऐसा सिद्धान्त तुलसी पर आरोपित करते हैं तुलसी स्वयं भक्ति नवरसमयी मानते हैं न कि नवरसों से भिन्न। मानसरूपक में स्वयं तुलसीदास जी कहते हैं—

' नव रस जप तप जोग विरागा। ते सब जल चर, चार-नडागा।

मत सभा चहुँ दिसि अवराई। श्रद्धारितु बसन्त सब गाई॥
भगति निरूपन विविध विधाना। हरि-पदरतिरस बद बखाना॥
सम जम नियम फूल फल नाना। रा मा बा का ३७।५

डा० उदयभानुसिंह का मत है कि मानस को पढ़कर व सुनकर जो काव्यानन्द मिलता है वह भक्तिरस है और यदि भगवद् रति का उदय होता है, तो वह भक्तिभाव है। पहले का अनुभव सहृदय, काव्य रसिकों को होता है और दूसरे का केवल भक्त जनों को।

यह स्थापना मनोविज्ञानविरुद्ध है। रस और भाव का सम्बन्ध मन से है। स्थायिभाव ही रसरूप में परिणित होता है। इसलिए काव्यशास्त्रियों ने स्पष्टतर शब्दों में कहा है कि आस्वाद्यमानपुष्टस्थायिभाव ही रस है। भक्ति का स्थायिभाव ईश्वररति है। रतिभाव ही शृंगार में भी है। आलम्बन भेद से शृंगार या वात्सल्य भक्तिरस कहे जाते हैं। इन्हें शृंगार कहने में अव्याप्तिदोष न होकर अतिव्याप्ति दोष होगा। शृंगार के भेदोपभेदरूप में वात्सल्यभक्ति और लौकिक शृंगार कहा जा सकता है, वास्तव में इस भेद के निरूपण की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि भेदोपभेद गिनाने पर अनवस्था की स्थिति आ सकती है। भक्तिरस से भक्तिभाव को पृथक करना कल्पनागौरव दोष युक्त है। यही नहीं ऐसा करने पर उच्चकोटि की कविता जो उदात्त भावभूमि पर अवलम्बित है भक्तिरस से कट जायगी। मीरा की सारी कविताएँ कबीर के अधिकांश पद भक्तिभाव से ओत प्रोत हैं। सखाओं या निर्मित्ताओं की अनुभूति काव्य पढ़ने से उन्हें भी होती है, जो कबीर की स्थिति में हैं अन्य पाठकों को भी शृंगार का आनन्द मिलता है, इसलिए लोक गायकों के कबीर के पदों के गान पर या विधवाओं के पास मीरा के पदों को गान पर मानसिक क्षोभ थे ता क। हो जाया करता है परन्तु उच्चकोटि के साधुपुरुष शान्ति एवं आह्लाद का अनुभव करते हैं।

वेदान्तनिक रति का तात्पर्य प्रीति लेते हैं। प्रीति ध्रुवास्मृतिरूप में होती है। रस भी एक प्रकार के स्थिर भाव की स्मृति ही है। प्रीति स्थायी भाव मानने पर सभी रस भक्ति के क्षेत्र में आ सकते हैं। वीर, रौद्र, भयानक ही नहीं विस्मय भी भगवद् प्रीति में आ सकता है। श्रीमद्भागवत का कंस तथा मानस का रावण द्वेष रूप प्रीति करते हैं। इस हेतु उनकी भक्ति की सिद्धि शरीर नाश के साथ होती है। तुलसीदास ने भी भक्ति को प्रीतिरूप में स्वीकार किया है यथा, विनय पत्रिका में—

(१) जानत प्रीतिरीति रघु राई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई॥ १६४। वि प।
(२) इह कह्यो सुत वद चहूँ।

श्री रघुवीर चरन चिन्तन तजि नाहिन ठौर कहू । ८६ । वि प

डा० उदयभानुसिंह यह स्वीकार करते हैं कि तुलसीदास कुल नव रस ही कठत स्वीकार करते हैं, भक्ति रस उनके अन्तगत परिगणित नही और न अतभूत हैं जसे— जब वे नवरस कहत हैं, तब उनका अभिप्राय सामायत परिगणित शृगारादि नवरसो से ही होता है। और इनके अन्तभूत नही है। व्यावहारिकरूप म भी उनकी कवितावली, गीतावली आदि कृतियो म नवरसो की व्यजना हुई है, लेकिन, उनकी महत्तम कृतियाँ भक्तिरसपरक ही हैं। विनयपत्रिका तो भक्तिरस का ही उत्स है। बीच बीच शृगारादि रसों का मेल होने पर भी मानस भक्तिरस का ही ग्रथ है। 'मानस' की प्रस्तावना बार बार राम क पर ब्रह्मत्व का स्मरण और पाठको का अनुभव आदि *इस बात के प्रमाण हैं। रामचरित मानस का कुछ न कुछ नवरसा म गिनना चाहिए* एडविन ग्रीस की यह मान्यता अंशत सत्य है। इसकी सत्यता केवल इस अथ म है कि रामचरितमानस म भक्तीतर रसो की भी अभिव्यक्ति हुई है।'

उपयुक्त स्थापना के सम्बध म यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि गोस्वामी जी ने नवरस की लकीर ही क्यो पीटी है स्पष्ट दसरस क्यो नहा कहते? रामचरितमानस और विनयपत्रिका दोनो भक्ति के ग्रन्थ क्या है? क्या भक्ति शान्त की अधिकता क कारण है, या निर्वेद स्थायी भाव के कारण है या वात्सल्य के कारण है? प्रथम विकल्प का मानना अशास्त्रीय है शेष विकल्प भक्तिरस की सिद्धि न कर शान्त और वात्सल्य रस की सिद्धि करते हैं वात्सल्य शृगार म पठित होने के कारण भक्तिरस या तो नव रसा म अतभूत है या नवरसमय है। प्रथम मत प्राचीन आचार्यों का है जिन्हें उपरोक्त उद्धरणो म स्वीकार नहीं करत। भक्ति नवरसमयी है यही तुलसीदास का सिद्धान्त है। भक्ति केलिए ही उन्होने काव्यसाधन किया था कवितावली नवरसाह्लादमयीहै तो कोई हानि नहा भक्ति रस-उच्छ्वल- तरगायित सारोवर भी है। विनयपत्रिका म भी नवरसो की सत्ता अवश्य ह जसे—

सुरुचि कह्यो सोइ सत्य तत् अति परुष वचन जबहू

तुलसीदास रघुनाथ विमुख नहि मिटइ विपति कबहू ॥ वि प ८६

यहाँ सपत्नी का स्मरण है, उसक परुष वचनो की विज्ञप्ति है इसलिये शृगार है। पुत्र के प्रति स्नेह के कारण शृगार या इसका भेद वात्सल भी है।

क्रोध करि मत्त मृगराज कल्प मददप वक भालु अति उग्र कर्मा ॥

इस पक्ति म रौद्र रस प्रत्यक्ष है बधु आलम्बन तथा स्थायी भाव भी स्पष्ट है। नीचे की पक्ति म भयानक रस भी इसी पद म मिल जाएगा जसे—

हृदय अवलोकि यह शोक शरणागत । पाहि मा पाहि मा भो विश्वभर्ता ।

अन्य पदो म भगवान् को दानवीर बताकर उसके दान की उदात्तसत्ता का चित्रण बडे ही सरस ढग म है—

प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हा

साधन, धाम, विबुधदुर्लभतनु मोहि कृपाकर दीन्हें ।१०२।१ वि प

इस प्रकार शृंगार और शान्तरस के उदाहरण भी केवल विनयपत्रिका मे ही राम को आलम्बन मानकर दिये जा सकते हैं। मानस एक महाकाव्य हैं। अगी रसो में कुल तीन ही रस हैं— शृंगार वीर और शात। भक्तिरस का नाम सहित निर्देश कहीं नही है। रति स्थायी भाव होने से शृंगार ही प्रधान रस है। उसी को भक्ति परक शृंगार मानने पर तुलसी की मर्यादा की रक्षा सम्भव है। मानस की घटना भक्ति पर आश्रित हो य, न हो शृंगार पर अवश्य है। राम नायक होने क ात रस के केन्द्र हैं, उनका वियोग शृंगार ही लकां जय की प्रे णा दता है। सीता और राम का मिलन ही प्रधान फल है। यह फल नायक राम भागत हैं। राम नायक हैं। भक्ति को अगी मानने पर उसे ही राम म मा ना पडेगा। एसा न मा ने पर भक्ति की सम्प्रेषणा ही नहीं होगी। कवि अपनी प्रधान अनुभूति को नायक के माध्यम स ही पाठक श्रोता या द्रष्टा तक पहुँचाता है।

शृंगार और भक्ति म ड० उग्रभानुमिह भेद मानते हुए लिखते है-शृंगार क स्थायिभाव रति और भक्तिरति म मौलिक भद यह है कि पहली रति दाम्पत्यविषयक रति है, उसम शरीर के सुखस्प सम्ब ध विशेष की स्पृहा होती है और दूसरी इससे भिन्न भव्य भगवान् के गुणश्रवण स द्रुति चित्त की धारावाहिकी भगवदाकारा वत्ति है। चित्त की इसी भूमिका म भगवदाकारा स्प रतिभाव अभिव्यक्त होकर परमानन्द रूपता को प्राप्त होता है। यही परमानन्द रूपता रस है।

यदि अग व्यापार का चित्रण भगवद् रति चित्रण नही है तब कबीर के दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी श्यामशृंगार के पद भक्तिकाव्य मे नही रखे जा सकेंगे। भक्ति की परम विरहासक्ति भी भक्तिशास्त्र और साहित्य दोनो स निष्कासित हो जायेग। वास्तव में ईश्वरविषयकशृंगार जब सगुण रूप म होता है, तो किसी नायिका या भगवान् के सखी के व्य ज स अभिव्यक्त होता है परन्तु निगु ण साधना मे भक्त स्वय प्रिया या या प्रियरूप धारणकर सयोग या वियोग व्यापार को श द और अर्थ के माध्य स अभिव्यक्त करता है।

इससे सिद्ध होता है कि तुलसीसाहित्य नवरसमय प्रीतिस्वरूपक है। प्रीति ही भक्ति है जिसकी सिद्धि रससिद्धि है। वन्ातदेशिक के मत मे भी यही सत्यभासित हो रहा है। विभिन्न रुचिया के पाठक वासना की अपेक्षा से भक्तिशृंगार या प्राकृत शृंगार का आस्वादन कर सकते हैं। न तो नवरसो से पृथक भक्तिरस है न शृंगार से सवथा भिन्न। भगवान् का शृंगार ही भक्ति है, जो मधुरा नाम स जानी जाती है। इसी प्रकार अन्य रसो म भी भक्ति का अवकाश है।

गोस्वामी तुलसीदास जी के द्वारा निर्मित निखिलसाहित्य का सूक्ष्मपर्यवेक्षण करने से, यह स्पष्ट हो जाता है, कि उनका विचारप्रवाह वदामुखी है। वे न तो पुराणविशेष[83] के पक्षपाती हैं, न किसी आगम के और न सम्पूर्ण पुराणों[87] के, जिन में कतिपय साध कर्मों की स्थापना है, और न तो उनका मत सिद्धान्तों का सम्मिश्रितरूप है, अपितु उनका मत, मेरे विचार से ध्रुव है जो वेद और वेद से पृथक करके नहीं देखा जा सकता। वे अपने निश्चय को निखिलप्रसिद्धि जनिमितत्व यों से पुनः पुनः अभ्यास करते हैं। स्मृति, पुराण और आगमों का प्रामाण्य मानकर भी अवैदिक तत्त्वों को स्वीकार करने की कथमपि साहस नहीं दिखाते।

वेदों में अनेकदेववाद है। अनेकों देवों का पर्यवसान एकदेववाद या ब्रह्मवाद में होता है। तुलसी के सियाराम इसी ब्रह्म वाद की धुरी है, जिसे उनके पूर्ववर्ती आचार्यवेदान्तदर्शनिक भी अपनी सुव्याख्यदार्शनिक और साहित्यिककृतियों में दिव्यरूप से प्रश्रय देते हैं। आय परम्परा के अधिकांश दार्शनिक यह मानते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से जगत् नश्वर है इसलिए मिथ्या है, असत्य है, क्षणिक है, या स्वप्नवत् है परन्तु यह जगत् जिन तत्त्वों से बना है, वे क्षणिक, नश्वर या असत्य नहीं है। संसार के दुःखों को धरोहर, सपने का अनुभव या मृगमरीचिका कह कर इसकी निःसारता दिखाना या परिवर्तनशीलता को ही बताना तुलसी का लक्ष्य है। यदि संसार को व्यावहारिक सत्य न मानते, तो उसे ब्रह्म का स्वभाव कैसे कह सकते थे? माया को ब्रह्म का अंश मानने वाले तुलसी जगत् को कारणरूप से ब्रह्मस्वरूप बताने के लिए ही सियाराममय सब जग जानी, की रपाई देते हैं। जिनका यह सिद्धान्त है कि केशव कहि न जाय, क्या कहिए नामक टेक से आरम्भ होनेवाले विनयपत्रिका के पद में अनिर्वचनीय[88] का पोषण है क्योंकि तीनों सत्कार्यवाद असत्कार्यवाद और सदसत्कार्यवाद, भ्रम के सिद्धांत हैं इनके भ्रम को छोड़कर शङ्कर की अनिर्वचनीयता समझने वाला ही आत्मा को पहचान सकता है उनसे तथा उनके पोषण कर्त्ताओं से नम्रनिवेदन है कि तुलसीदास जी का पद तीनों वादों का समर्थक है जो तत्त्ववेत्ता प्रकृति को सत्य असत्य या सदसत् कहते हैं उनके लिए वे उनका अनुवाद निष्पक्ष होकर करते हैं, और यह स्वीकार करते हैं कि तीन भ्रमों का अथ तीनों गुणों का भ्रम या मायाजनित भ्रम है उसे जो छोड़ेगा वही आत्मा जीव और ब्रह्म की पहचान पाएगा।

तुलसीदास जी ने अपने मानस[89] में स्थान स्थान पर निर्विशेषवाद या केवलाद्वैतवाद का विरोध किया है, जो साधना आचार तथा तत्त्व तीनों दृष्टियों से है। साधना, हठयोग आचार, मुण्डन तथा गृहत्याग और तत्त्व ब्रह्ममात्र (ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या) मानने वाले संन्यासियों को हमलख लखहिं हमार लख' कहकर जीवात्मा और परमात्मा का संकेत दिया। ईश्वर और प्राण पर भी उपाधि का आरोप करने वाले अद्वैत

वादी मायापोषक लोगों को अपना अज्ञान प्रभु पर थापनेवाले जड़जंतु कहा है। उन्होंने अद्वैतवाद के वादग्रंथों को पाखण्डविवाद[87] कहा है जिनमें खण्डनखण्डखाद्य विशेष महत्त्व का है जो श्रीहर्ष की कृति है जिसने सद् ग्रंथों को लुप्त करने में विशेष मिथ्या वचन का साहस किया है। अद्वैतवाद का यह सुख्यात सिद्धांत है कि वाक्यज्ञान से मोक्ष होता है तुलसी ने विनयपत्रिका में इस सिद्धांत की धज्जियाँ उधेड़ी हैं। पञ्चदेववाद के प्रचलन एवं पोषण का श्रेय प्रथम शंकराचार्य को दिया जाता है परन्तु यथार्थ यह है कि वे शाक्त साधना (महाविद्याओं की वन्दन परम्परा) का ही प्रचार करते पाये गये जो नाक में आज भी प्रचलित है। तुलसीदास जी ने न तो पंच देवों की अनिवार्य रूप से अर्चना ही की है न उपेक्षा वे अन्य देवों के साथ गणेश पार्वती शिव की वन्दना करते हैं। राम उनके इष्ट हैं सूर्य से द्वेष किसी का नहीं है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता का आरोप वैष्णव आचार्यों पर उनके द्वारा लगाया जाता है जिनका मन साफ नहीं है जो स्वयं सम्प्रदायवाद के विष से मूर्च्छित हैं। सिद्धान्ततः शंकराचार्य से लेकर जीवगोस्वामी तक ही नहीं अनादिकाल से भारतीय दर्शन संकीर्णता से मुक्त रहकर सत्य का पक्षपाती रहा है उसका लक्ष्य मठ बनाना नहीं विचारप्रवाह को आगे बढ़ाना रहा है। जिन वैष्णव सिद्धान्तों को नया कहा जाता है उनका अनुवाद तथा खण्डन सभी प्राचीनतम मूल (दर्शन सूत्र) ग्रन्थों में मिलता है। रामानुजाचार्य या वल्लभाचार्य की मौलिकता एक दर्शन में ही है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद भी गौडपादाचार्य प्रचार में ला चुके थे, माध्व का द्वैतवाद वैष्णवों में ही नहीं शैवों में भी सम्मानित था इसलिए इस युग के विद्वानों का जो दर्शन की परम्परा से अपरिचित हैं भारत के वैदिक या अवैदिक परम्परा के किसी भी विभूति को मात्र साम्प्रदायिक बताना अक्षम्य अपराध है। इतना सच है कि उनकी श्रद्धा अपनी गुरुपरम्परा पर अवश्य नहीं है, किन्तु गुरुओं के मतों को परिष्कृत करने में स्वतन्त्र भी रहे हैं।

गो० तुलसीदास का दार्शनिकमत तत्त्व की दृष्टि से वेदान्तदेशिक के समान ही है। दोनों ने निर्गुणसगुण या अगुणसगुण ब्रह्म प्रतिपादित किया है। दोनों के यहाँ जीव की जीवता ब्रह्म की सत्ता के साथ ही नित्य है। परिणाम में दोनों परस्पर अणु और महत् होने के कारण विरोधी होकर स्वरूपतः सच्चिदानन्द हैं। वेदान्तदेशिक की तरह गोस्वामी जी भी सीता को ब्रह्म की शक्ति[88] ब्रह्म की पत्नी–[गुण ऐश्वर्य और परिमाण में तुल्य–] मानते हैं। वे सीता को माया मानने को उद्यत नहीं जो विद्या और अविद्यारूपा है। सीता सर्वश्रेयस्करी रामवल्लभा प्रियतमा हृदयहारिणी या आह्लादिनी शक्ति है। आजतक जितने शोधकर्त्ता सीता को जड़ माया या प्रकृति मानते रहे हैं उनके विचार का केन्द्रबिन्दु चण्डीपाठ के स्तव रहस्य तथा शाक्त तन्त्र ग्रन्थ से प्रभावित रहा है। वैष्णव पर वैष्णव आचार्य का प्रभाव ढूँढना उचित है यदि शब्द मिलते हों परन्तु सर्वथा विरोधी सिद्धान्तों में नहीं। उसी प्रकार शब्द[89] देसाधना की

बातें शास्त्रों में अधिक मिल सकती हैं, वष्णवों मे नही। मेरे कहने का सार है कि प्रभाव समानधर्मों का साहचर्य होने पर अधिक पड़ता है, विरोधी से प्रतिक्रिया होती है आदानप्रदान कम होता है या नही होता। सीता के विषय म सभी वैष्णव एक मत स घोषणा करते हैं कि वह आत्मा हैं निंबार्क और वैखानसागमिक उन्हें ब्रह्म या परमात्मा मानते हैं। ऐसा इसलिए है कि पांचरात्रों म या लक्ष्मीतन्त्र म सीता जड नही बतायी गयी हैं। जहाँ जड हैं वहाँ लक्षणा से स्वरूपत नही स्वभावतया माया है जसे राम है।

तत्त्वत्रय की मान्यता के अतिरिक्त मोक्ष की मान्यता भी दोनों भक्तों की एक समान है। चारों प्रकार के मोक्ष मानकर भी दोनों ही मानते हैं कि सायुज्य ही वास्तविक मोक्ष है। कवल्य मोक्ष से हीन है वेदान्तदेशिक का मत है। तुलसीदास जी भी दृढ़ता से कहते हैं कि भक्ति की साधना मे वह कैवल्य सज्ञक मोक्ष बलात् मिलता है। ज्ञान मोक्ष के लिए आवश्यक दोनों मानते हैं, परन्तु ज्ञान के कई भेद हैं — इसका भी ध्यान आवश्यक है। शास्त्रज्ञान स्वरूपज्ञान, स्वभावज्ञान के अतिरिक्त अनुभूतिज्ञान भी होता है। अनुभूतिज्ञान पराभक्ति है जो स्वरूपज्ञान की आनन्दमयी स्थिति है। स्वरूप जीव और ब्रह्म दोनों का है जीव का स्वरूप ज्ञान ही अद्वैतमत से ब्रह्मज्ञान है जबकि वेदान्तदेशिक के मत स ब्रह्म का स्वरूपज्ञान जीव का भी स्वरूपज्ञान आत्मतया है जीव क्षुद्र स्वरूप का भान रखकर ही प्रीति म प्रवृत्त होता है। अद्वैत मत से मोक्ष म परा भक्ति असम्भव है मधुसूदन जी का भक्तिरसायन पराभक्ति को स्पष्ट नही कर पाता पर स्वा० शकराचार्य स्पष्ट है उनके यहाँ भक्ति की परावस्था सायुज्य की भूमिका मात्र है। सगुणोपासना उपहितचतन्य द्वारा उपहितचैतन्य की उपासना है। शुद्धचतन्य म उपास्य उपासक भाव असम्भव है, क्योंकि शुद्धचतन्य मे द्वैतबुद्धि या दो की सख्या नहीं होती।

उपासना मे भी तुलसी के विचारों स भेद है। तुलसीदास दोनों मीमासाओं म भेद नही बतात मुक्तावस्था म भी श्रुति और उपासना नित्य मानते हैं निखिल लौकिक वदिक क्रियाओं को निष्कामभाव से करने को कहते हैं जबकि अद्वैतवेदान्त केवल नित्य और नैमित्तिक कर्मों को चित्त शुद्धि होने तक उपयोगी मानता है। शकराचार्य के अध्यासभाष्य[20] म वेद को भी मिथ्या बताया है जबकि तुलसीदास भास्कर वेदान्तदेशिक और श्रीपति तथा माध्वादि के अनुसार श्रुति ब्रह्म का शुद्ध ज्ञान है। वह मिथ्या कसे होगी ?

साधना म भी तुलसी और वेदान्तदेशिक ज्ञान और भक्ति मे अभेद देखते हैं, दोनों के फल मे भी तत्त्वत कोई भेद नही मानता। जिस प्रकार तत्त्वज्ञान मोक्ष मे सहायक है उसी प्रकार नवधा भक्तियाँ भी मोक्ष म सहायिका हैं। नारद और शाण्डिल्य के अनुसार पराभक्ति ही मोक्ष रूपा है, वेदान्तदेशिक तथा अन्य समस्त वष्णवाचार्य भी इसे स्वीकार करते हैं पर मधुसूदनसरस्वती इसे स्पष्ट नही कर पाते कि पराभक्ति ज्ञान

से पृथक क्यों है, शुद्धब्रह्म की उपासना शुद्धजीव किस प्रकार कर सकता। तुलसीदास जी जीव और ब्रह्म मे (राम में) पराभक्ति काल मे कोई उपाधि नही स्वीकार करते परन्तु अद्वैत का विवर्तवाद इसी को अपना प्राण समझता है जिसके अनुसार ब्रह्म ईश्वर, और हिरण्यगर्भ की कोटियाँ बनती हैं। डा० रामदत्त भारद्वाज का यह कथन समीचीन ही है कि रामानन्द जी के सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी तात्त्विक दृष्टि से नहीं थे, परन्तु उनका यह मत कि वे स्मार्त थे, क्योंकि नित्य पूजा करते थे तथा जब तब शंकराचार्य के उस निर्विशेष अद्वैत की ओर इंगित करते हैं जो माया और ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। शांकर स्मार्त के अनुयायी थे। तात्त्विक दृष्टि से असिद्ध हेत्वाभासयुक्त है। पहले बताया गया है कि स्मार्तवैष्णव कोई स्वतन्त्रसम्प्रदाय नहीं है हिन्दी के आचार्यों ने भ्रान्तिवश स्मार्तवैष्णव की कल्पना कर ली है वैष्णव भी स्मार्त होता है यदि वैदिक हो। वेदान्तदेशिक और रामानुज दोनों ही स्मार्त और श्रौत भी थे क्योंकि वेद और पुराणों को मानते थे। इसलिए वैष्णवसम्प्रदाय से भिन्न उन्हें स्मार्तवैष्णव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कुछ विद्वान् तुलसी का भक्त तो घोषित करते हैं परन्तु उनके मस्तिष्क में मायावाद का अद्वैत भी रहता है। इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण लक्षकद्वय प्रो० वारानिकोव तथा डा० रामरतन भटनागर हैं अन्य भी इन्ही सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं। डा० शिवकुमार शुक्ल कहते हैं कि दार्शनिकरूप मे ज्ञान और तर्क के सहारे तुलसीदास अद्वैत की स्थिति में पहुँचते हैं पारमार्थिकदृष्टि से केवल ब्रह्म की सत्ता है। वह ज्ञान गिरा गोतीत अज माया गुन गोपार है। किन्तु यह भी स्वीकार करते हैं कि तुलसी किसी दार्शनिक तन्त्र के प्रवर्तक या आचार्य न होकर प्रधानतया भक्त है।

उपर्युक्त समझौतावादिमत के संदर्भ में भी मैंने स्पष्ट किया है कि तुलसी की तरह उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी विशेषकर वेदान्तदेशिक ने भी अज ज्ञानगिरागोतीत कहा है, उस माया के तीनों गुणों के पार या पृथक् शुद्धब्रह्म रामानुज और वल्लभ भी मानते हैं किन्तु इन शब्दों के सहारे आज तक किसी ने आचार्यों को अद्वैतवादी घोषित नहीं किया। तुलसीदास जी इन्ही की परम्परा मे होकर भक्ति को प्रधान मानकर गुरुओं में श्रद्धा रखते हुए अद्वैत का पल्ला क्यों पकड़ते है? यदि ऐसा होता तो अपने श्रद्धास्पद शंकराचार्य जी का कहीं स्मरण अवश्य करते और अपने सिद्धान्त की पुष्टि में विशिष्टाद्वैत की सीमा भी खींच देते।

गोस्वामी तुलसीदास जी को वैष्णव सिद्ध करने वाले तत्त्व वक्ताओं ने राम को केवल साकार तथा सीता को अणु परिमाणी जीव जो नित्य मुक्त हैं सिद्ध करने का प्रयास किया है। यह सिद्धान्त रामानुजसम्प्रदाय की एक शाखाविशेष का है जिसे तिंगले (तिंकले दाक्षिणात्य) कहा जाता है। रामानन्द जी के गुरु भी इसी से सम्बद्ध थे। उनपर इस शाखा का प्रभाव अवश्य है परन्तु सोपानों की कल्पना वेदान्त

देशिक की अपनी है, जो परमपदसोपाननामक ग्रन्थ में है। तुलसीदास जी सीता को राम की तरह उनसे अभिन्न उनकी शक्ति, वल्लभा और प्रिया मानते हैं जो विभुपरिमाणी, सच्चिदानन्दस्वरूप है। यही ऋग्वेद तथा लक्ष्मीतन्त्र में कहा गया है। वेदांतदेशिक भी लक्ष्मीतन्त्र को स्वीकार करते हैं।

भक्ति को प्रपत्ति से भिन्न तुलसी नहीं मानते वेदान्तदेशिक भी पराभक्ति और प्रपत्ति में कोई भेद नहीं करते। भक्त और प्रपन्न दोनों को ही नव सोपानों पर आरूढ़ होना पड़ता है, वे मानते हैं परन्तु देशिक स्पष्ट करते हैं कि प्रपत्ति अकिंचन असहाय के लिए है भक्ति समर्थ के लिए। वे निष्कामकर्मयोग दोनों में स्वीकार करते हैं। भक्ति में उनके यहाँ अष्टांग योग भी अनुष्ठेय हैं प्रपत्ति में अनिवार्य नहीं है। तुलसीदास जी भी दोनों का वर्णन करते हैं परन्तु जहाँ शूद्र या अन्त्यजों की भक्ति का वर्णन करते हैं वहाँ प्रपत्ति से ही उनका तात्पर्य है। वह स्वयं भक्ति का अनुष्ठान किये थे। प्रपत्ति उस भक्ति का अंग थी। स्त्री, शूद्र या जंगम थ लोगों की साधना प्रपत्ति है जिसमें नवधा भक्ति अंग होती है। प्राप्तव्य की दृष्टि से भक्ति प्रपत्ति में कोई भेद नहीं। साधक और उसकी प्रक्रिया की अपेक्षा से नाममात्र का भेद अवश्य है।

भक्तिरस नवरसों का अंग नहीं है। वह नवरसमय स्वयं है। तुलसी और वेदान्तदेशिक रति या प्रीति को समानार्थक मानते हैं। उनके यहाँ आलम्बन और आश्रय दोनों के भेद से ही कोई काव्य भक्तिरस का है या प्राकृतरस का।

पुरुषार्थचतुष्टय की उपयोगिता गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता वर्णाश्रमधर्म की अनिवार्यता ब्राह्मणवर्ण का विशेषदायित्व, वेदों की सत्यता मोक्षोपरान्त भी मुक्तात्मा के लिए इनका महत्त्व मर्यादा की सर्वत्र स्वीकृति, मोक्षसाधना में अर्थ और काम की भी एक सीमा तक अपेक्षा नारी को भी इन सब साधनाओं में अधिकार शूद्रों के विश्वास और समर्पणभाव या नारी के एकपातिव्रत्य को प्रपत्ति विद्यारूप या भक्तिरूप मानना, कला विद्या और शिल्प में मानवमात्र का अधिकार मोक्ष विद्याओं में सर्वोत्कृष्ट प्रपत्ति को स्वस हीन असहाय के लिए ही सुरक्षित रखना शील और आचार के लिए बिना भेदभाव किये सबको प्रेरित करना अत्याचार स्वार्थ दम्भ पाखण्ड, नापण विलासिता अराजकता और स्वच्छन्दता को, व्यक्ति और समाज रूपी लक के मंगल का उपघातक मानना दोनों को अभीष्ट है। दोनों अपने युग के शोषण पाखंड और दुर्व्यवस्था से क्षुब्ध हैं।

यद्यपि वेदान्तदेशिक का प्रभाव तुलसी पर है तथापि यह सनातन परम्परा की कड़ी में ही है। वेदान्तदेशिक भी पूर्ववर्ती परम्परा से प्रभावित हैं, जो नानापुराण निगमागम से पृथक नहीं है।

यहाँ अर्थतन्त्र के संक्षिप्ततमरूप का ही दिग्दर्शन किया गया है वास्तव में कौटिल्य के अर्थशास्त्र आधुनिक अर्थशास्त्र तथा साम्यवादी अर्थव्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में

सी साहित्य को स्वत त्र शाघ की आवश्यकता है। सस्कृत और अथशास्त्र मे प्रविष्ट रीक्षक तथा शोधकर्त्ता ही इस विषय को हस्तगत करें, तो सफलता मिल सकती है।

धमशास्त्र और राजनीति का म थन तुलसीसाहित्य मे हो चुका है और भी हो ता है परन्तु काम जो पुरुषार्थों मे मोक्ष के समकक्ष और उसका प्रतिरूप माना ता है अवतक के शाधकर्त्ताओ की दृष्टि म नही आ पाया है। हिन्दी के विद्वानो के वग फ्रायडवादी और प्लेटोवादी–भारतीय काम का समझने म असमथ रहे हैं सका सम्बध साहित्य से जीव और प्राण की तरह है। काम केवल विलासिता नही है गवान् युगलछवि म भी अतर्हित है कवि प्रसाद भी काम का मगलमयवरदान ही नते हैं। सस्कृतवाङमय तो काम के विभिन्न तत्वा से भरा ही है परवर्ती पालि, कृत और अपभ्र श म भी इसस विरक्ति नही मिलती इसलिए उपयोगिता तथा या विलास को सम्मुख रखकर रामकथासाहित्य म या तुलसी की कृतियो में इस ष्ट से अध्ययन की अपेक्षा भी भावी शाघ कर्त्ताओ से होनी चाहिए।

मैंने अपना धार्मिकविश्वास पैतृकसम्प्रदाय और स्थूलस्वाथ को तटस्थ रखकर, क्ष्म निरीक्षण और पन्द्रह वष के स्वतन्त्र अध्ययन और विविध सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ाचार्यों की सेवा और सत्सग के बाद मत निर्धारित किया है। विवादास्पद विषया लिये अधिकारी विद्वानों स मिलने बगाल मद्रास, काची, श्रीरग और रामेश्वर ही हा उत्तरी भारत के काशी प्रयाग वृदावन जयपुर पिलानी पुष्कर और सिंथल भी मुझे जाना पडा है तथापि मेरा प्रचार या दावा नही कि मैं अतिम शोधकर्त्ता हूँ। स्तव में तुलसी को तुलसी या हुलसी जानती हैं और कोई नही।

पद–टिप्पणी

१–ना भ सू २ ३ ४ शा सू १।१।२ २–श्रीभाष्य १।१।१ ३–भक्ति रसायन पृ २६-२७ ४–वही पृष्ठ ५–वही पृ ६–वही पृष्ठ २७, ७–वही १।१७, ८–वही पृ ४५ ९–नार भ सू ५२ १०–वही ५३ ११–वही ३८, १२–२५ १३–वही ३५, १४–वही ८८ १५–वही १८ १६–शा भ सू १।३१ १७–ना भ सू ५५ १८–वही ५१ १९–वही ५६ २०–शा भ सू ३।२।७२, २१–वही ३।२।८२ २२–वही ३।२।६४ २३–वही ३।१।८५ २४–वहा ३।१।८६ २५–वही ३।२।८७ २६–वही ३।२।१० २७–वही १।१।१५, २८–वही १।२।२६ २९–वही १।२।२७ ३०–त मु क पृ २४८ ३१–रा मा उत्त १५।१ ३२–त मु क पृ ३५५ ३३–वही पृ ४२१ ३४–छा उप ७।२६।२ ३५–पर प सो पृ १८० ३६–वही पृ १८१ ३७–वही पृ १८३, ३८–या वि प १९ ३९–प प सोई, ४०–श्रीमद्भागवत० ७।५।२३ ४१–रामानन्द की हिन्दी० पद १ ४२–परमपद सोपान ९ ४३–श्रवणादिक नव भक्ति दृढाहीं। रा मा ४४–ना भ सू २।२।७६ ४५–दगालीकी या ६ ६ ४६–रा मा उ १३०ख, ४७–

श्रीमद्भा ३।३२।३२, ४८–भक्ति हि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा रा मा उ ११४।१६ ४९
दास तुलसी शरण आया० । वि प प १६०, ५०–दशश्लोकी प ८, ५१–मु मु छ
प्पदी १ ५२–न्यासदशक १ ३, ५३–ना भ सू ६३ ६४,६५ ७८, ५४–श्रीमद्भाग
५।१८।१४ ११२६।१४, ५५–नि धपर पृ १०२, ५६–पद न चहो निखान० रा म
५७–रा मा उ दो १३०ख, ५८–तु द मी पृ २५६ ५९–भक्ति का विकास पृ ७६
६०–रा मा उ ११७, ६१–वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पाव न पावै कोई वि प
६२–वही पद ६,८, ६३ सिय बटु सेये वात्सल फल चारी है। कवि पृ १९३, ६४–
म श्रा पृ २४, ६५ भरत का नाटय शास्त्र० ६६ अणुभाष्य ४।४।९ ६७–प
सोपान गा १ ६८–तु द पृ ३२ ६९–रा मा बा ६।१ ७०–अहि ७१ ७२–स्व
तन्त्र, ७२–तेहि के पग की पानही मरे तन को चाम दा ७४ वैराग्य सन्दीपनी प ४
७५ वि प प १३९, ७६ कवि उत्त ८४ ८७ दोहावली ४४२ ७८ तत्त्वदीपं
बन्ध २।५५ ६६ ७९–रा मा शर १५।१४ तथा कवि उ का पद १०५ ८०–र
ल स त उ २।७, ८१ काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास । ८२ हरि भक्ति रसामृत सि
२।१।७ १८, ८३–अध्यात्म रामायण डा मा प्र गु तु दा पृ ४९८ तु स ८४–स
पुराण डा उदयभानुसिंह तु द मी पृ २६५ ८५–तुलसी का मायावाद शङ्कर
मायावाद की ही प्रतिकृति है।' विवर्त वाद का सिद्धान्त तुलसी को मान्य है। र
चरित मानस का तत्त्व दर्शन डा श्रीशकुमार-मध्यप्रदेश ।

८६- ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात ।
    कौड़ी लगी लोभवस करहिं बिप्र गुर घात ।।९९ क रा मा उ
    तेइ अभेद वादी ज्ञानी नर देखा मैं चरित्र कलियु कर ।
    आप गये अरु तिन्हहूँ घालहिं । जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं ।।
    कल्प कल्प भरि एक एक नरका । परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तर्का ।।
    नारि मुई गृह सम्पति नासी । मुण्ड मुड़ाइ भये संन्यासी ।।

८७ तेइ अभेद वादी इन शब्दों में अद्वैत वाद के सामाजिक कुपरिणामों की ओर संकेत किया है। कवि ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर अधिक जोर दिया है। प्रो वारा न्निकोव-तु चि क पृ १३८,

८८ सीता लक्ष्मी का अवतार एवं कुलवधू भी हैं। मानस में राम की शक्ति माया भी है। रा मा कूर्म महा पृ ४८५

८९ यह मत शैव धर्म से सम्बद्ध रहा है। डा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि पृ १९९।

९० वेदान्त सूत्र १।१। ९१ गोस्वामी तुलसीदास पृ ६६ ९२ भक्तिदर्शन पृ १२६ १४३ डा० सत्यनामसिंह ।

— • —

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आचार्य वेदान्तदेशिक की कृतियाँ संक्षिप्त नाम सहित

१–अच्युतशतकम् अ श, २–अभीतिस्तव अ स्त, ३–ईशोपनिषद्भाष्य ईश भा ४–तत्त्वमुक्ताकलाप त मु क ५–तत्त्व चन्द्रिका टीका त च, ६–तत्त्व टीका त टी ७–दयाशतक द श, ८–दशावतारस्तोत्र, ९–द्राविडोपनिषद् तत्वार्थरत्नावली द्र त र १०–न्यायपरिशुद्धि न्या प, ११–न्यायसिद्धाञ्जन न्या सि १२–न्यायसदन न्या द, १३–न्यायविंशति न्या वि १४–न्यासतिलक न्या ति, १५–परमपदसोपान प प सो, १६–परमार्थस्तुति १७–पादुकासहस्र पा स, १८–यादवाभ्युदय या भ १९–रघुवीरगद्य रघु ग, २०–रहस्यशिखामणि रह शि, २१–वैराग्यपञ्चक, २२–शरणागत दीपिका २३–शतदूषणी श दू २४–श्रीस्तुति, २५–सङ्कल्पसूर्योदयनाटक स सू नाट, २६–सर्वार्थसिद्धि स सि, २७–सेश्वरमीमांसा से मी, २८–सुभाषितनीवी २९–हंससन्देश। प्रकाशन–वेदान्तदेशिक ग्रन्थ माला। काञ्ची उभयवेदान्त ग्रन्थ माला २५ नाथमुनी लेन मद्रास

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएँ

१ कवितावली कवि २–गीतावली गीता, ३–जानकीमंगल, ४–दोहावली, ५–पार्वती मंगल ६–रामचरितमानस रा च मा, ७–रामललानहछू ८–वैराग्य संदीपनी व स ९ विनयपत्रिका वि प १०–हनुमानबाहुक, ११–राममुक्तावली (अ प्र) प्रकाशन गीता प्रेस गोरखपुर।

सहायक ग्रन्थ

संस्कृत के ग्रन्थ

१–अर्थसंग्रह लौगाक्षि २–अपरोक्षानुभूति, ३–आपस्तम्बधर्मसूत्र, ४–आश्वलायनश्रौतसूत्र, ५–आश्वलायनगृह्यसूत्र ६–अर्थपंचक एवं तत्त्वत्रय, ७–अभिनवभारती ८–ध्वन्यालोकलोचन अभिनवगुप्त ९–केनादि उपनिषद् श्रीसूक्त सहित रंगरामानुज मद्रास १०–कृष्णयजुर्वेद, ११–कामसूत्र-वात्स्यायन (का सू) १२–काव्यप्रकाश मम्मट चौखम्बा, १३–गरुडपुराण, १४–गद्यत्रय १५–गीता अष्टटीका निर्णय सागर प्रेस १६–कौटिल्य का अर्थशास्त्र १७–चाणक्य नीतिदर्पण १८–जैन दर्शन आत्म द्रव्य विवेचन-मुक्ता प्रसाद पटौरिया १९–तत्वार्थसूत्र-उमास्वामी, २०–तत्त्वदीप निबन्ध वेंकटेश लक्ष्मी प्रेस २१–त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित हेमचन्द्र २२–दशश्लोकी निम्बार्काचार्य २३–नारदपरिव्राजकोपनिषद्-बरेली, २४–पंचदशी नवलकिशोर प्रेस लखनऊ २५–प्रेमदर्शन गीताप्रेस २६–पंचपादिका विवरण प्रमेयसंग्रह २७–ब्रह्मसूत्र तथा उसका भाष्य, २८–भक्तिरसायन २९–मनुस्मृति-चौखम्बा ३०–रसगंगाधर प जगन्नाथ ३१–वेदार्थसंग्रह रामानुज, ३२–विष्णुपुराण ३३–वेदान्त कारिकावली ३४–मीमांसा दर्शन शबरभाष्य ३५–वेदान्त सार-सदानन्द मिश्र चौखम्बा, ३६–वेदान्तपरिभाषा मुसलगाँवकर चौखम्बा, ३७ सांग

सूत्र टीकात्रय चौखम्बा, ३८–लघुयोगवासिष्ठ नि सा , ३९–साहित्यदर्पण विश्वनाथ, ४०–शतभूषणी (श भू) अनन्त कृष्ण शास्त्री, ४१–सर्वदर्शनसंग्रह (स द स), ४२-स्तोत्र रत्न-यामुनाचार्य ४३–शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, ४४–सौन्दर्यलहरी, ४५ हेमाद्रि पुराण ४६-हरिभक्ति रसामृतसिन्धु रूपगोस्वामी चौखम्बा ।

हिन्दी के ग्रन्थ

क्रम	पुस्तक	संक्षिप्त	लेखक
१	कबीर वचनावली	क व	कबीर
२	गोस्वामी तुलसीदास	गो तु	डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
३	गोस्वामी तुलसीदास	गो तु	डा० रामरतन भटनागर
४	तुलसीदास	तु दा	डा० माताप्रसाद गुप्त
५	तुलसीदर्शन	तु द	डा० बलदेव प्रसाद मिश्र
६	तुलसीदर्शनमीमांसा	तु द मी	डा० उदयभानुसिंह
७	तुलसी दर्शन	तु द	डा० श्रीनन्दकुमार श्रीवास्तव
८	तुलसीदास और उनके ग्रन्थ	तु दा ग्र	डा० भागीरथ प्रसाद दीक्षित
९	तुलसीदास और उनका युग	तु दा यु	डा० राजपति दीक्षित
१०	तुलसीमानसरत्नाकर	तु मा र	डा० भाग्यवतीसिंह
११	तुलसीदास जीवन और विचारधारा	तु वि	डा० राजाराम रस्तोगी
१२	तुलसीसाहित्य की भूमिका	तु सा भू	डा० रामरतन भटनागर
१३	तुलसीदास चिंतन और कला	तु चि क	डा० इन्द्रनाथ मदान
१४	तुलसीरसायन	तु र	डा० भगीरथ मिश्र
१५	तुलसी नये वातायन से		डा० रमेश कुन्तल मेघ
१६	धर्मशास्त्रों का इतिहास	ध शा इति	पी वी काणे
१७	धम्मपद	ध प	महात्मा बुद्ध
१८	दर्शन-अनुचिंतन	द अनु	म०म० गिरधरशर्मा चतुर्वेदी
१९	प्रपत्तिरहस्य	प्र र	श्रीकान्त शरण
२०	भक्तिदर्शन	भ द	डा० सरनामसिंह शर्मा
२१	भक्ति का विकास	भ वि	मुन्शीराम शर्मा
२२	भक्ति आन्दोलन का इतिहास	भ आ इ	डा० रतिभानुसिंह
२३	भागवत सम्प्रदाय	भा स	डा० बलदेव उपाध्याय
२४	भागवतदर्शन	भा द	डा० हरिदत्तलाल शर्मा
२५	भारतीय संस्कृति और साधना	भा स सा	म म डा० गोपीनाथ कविराज
२६	भारतीयदर्शन	भा द	म म डा० उमेश मिश्र
२७	मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद		डा० कपिलदेव

२८	मानस दर्शन	मा द	डा० श्रीकृष्णलाल
२९	रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन		डा० शिवकुमार शुक्ल
३०	भास्सवादी दर्शन	मा वा द	वि० अफनास्यव।
३१	मध्यकालीन हिन्दी काव्य की तान्त्रिक पृष्ठभूमि	म हि का ता पृ	डा० विश्वम्भरनाथ उपा०
३२	वैष्णव धर्म	वै ध	आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
३३	वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन	वै भ आ अ	डा० मलिक मोहम्मद।
३४	हिन्दीसाहित्य की भूमिका	हि सा भू	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

अंग्रेजी के संदर्भ ग्रन्थ

1	Aspect of Bhakti	—	Vardachari
2	A History of economic thought		Adomsmith
3	D C S M S S (Adyar & Madras)		
4	History of Tirupati	—	Dr S Krishna Swami Ayanger
5	Hym s of the Alwar	—	Hooper
6	History of India	—	Illiot & dousan
7	Idea of God	—	Vardachari
8	Indian Philosophy	—	Sh S Radhakrishnan
9	„ „		Dr S N Das Gupta
10	Ideolistic thought of India	—	P T Raju
11	Philosophy of Visistadwat	-	P N Sri-Niwastehari
12	Philosbphy of Bheda Bhed	—	P N Sri-Niwasachari
13	Theism in mediaval India	—	Dr J P Carpentar
14	The life and writingof Vedant Deshik	—	M R Tata Charya
15	Vedant Deshik (His life work and Philosophy)	— वे द	Dr Satyawart Singh Chaok hamba

पत्रिकाएँ

१ कल्याण—मानस अंक, संत अंक, रामांक, भक्ति अंक, नारी अंक, योगवाशिष्ठ अंक। (गीताप्रेस गोरखपुर)

२ वैदिक मनोहरा — कांची। १९७२ ई० वेदान्तदेशिक अंक।

३ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका — कला अंक।

४ युवक — मानस अंक।

५ राजस्थान भारती — भारतीय संस्कृति विशेषांक।

६ विश्वम्भरा — हिन्दी विश्वभारती, बीकानेर।

७ समालोचक — आगरा।

लघुशोधनिका

पृष्ठ । पंक्ति	शुद्धपाठ	पृष्ठ । पंक्ति	शुद्धपाठ	पृष्ठ । पंक्ति	शुद्धपाठ
१ । ३	तुलसी	८३ । १८	प्रवाग्वत्	१३४ । २२	चारण
१ । ७	दान	८७ । ४	प्रतीति	१३६ । १	अखण्डनीय
२ । २४	भाजनम्	८८ । १०	नहीं	१२७ । १८	मनोरञ्जनार्थ
३ । १२	मिश्र	८८ । १३	वशात्	१३८ । १२	बनाना
४ । २६	माध्जीवरम्	८८ । १४	दुःखी	१३८ । २१	वास्तव
७ । १७	ट्रावङ्कोर	८८ । १५	स्वप्न	१४० । ८	४ ही
८ । ३३	वर्मावलम्बिन	८९ । २३	आत्मा	१४१ । २४	बौद्ध
९ । २६	राजकुमार	८९ । २७	जीव	१४१ । ३२	उद्दाम
१० । ०५	मध्वाचार्य	९४ । ८	अंश अंशी	१४९ । २७	विद्युत
१५ । १६	पद्यबद्ध	९५ । १३	असंसारी	१५० । ६	अन्तःकरण
१७ । ४	रघुवीरगद्य	९७ । ६	चतुर्व्यूह	१५१ । १३	शाण्डिल्य
३२ । १०	राममुक्तावली	९८ । १	,	१५१ । २०	अङ्ग
३३ । २६	मिलता है।	१०० । २४	परमाणु	१५२ । १९	तन्निष्पत्त्य
३६ । ४	निम्बार्क	१०१ । १	भेद	१५८ । २५	उद्भव लाव
३६ । १८	प्राकृत	१०१ । १०	सर्वथा नहीं।	१५६ । ३२	स्मरणशक्ति
४० । ६	भट्टमीमांसक	१०१ । १७	ज्ञान विवेक	१५८ । ३२	भगवान्
४७ । १५	समर्पित	१०३ । ३२	परमाणु	१६२ । ३३	माघ
४७ । १६	रामानुजवेदान्त	१०३ । ३३	जिष्णा	१६३ । १	ग्रन्थो
५६ । ५	वद	१०५ । २६	स्वरूप	१६४ । १०	
६७ । २६	अकिञ्चन	१०५ । ३२	बौद्ध	१७२ । ३२	आर
५९ । १६	परिणामास्पदम्	१०६ । ११	आ	। ,	नङ्का
७० । १८	आगमो	१०९ । २	षष्ठ सोपान	१७३ । ११	प्रतिरूप
७२ । ०	वकुण्ठ	१०९ । २६	बौद्ध	१७३ । २५	विमुखता
७२ । ३१	संसार	११५ । १६	एहलौकिक	१८४ । १	बहु
७३ । ८	भी	११६ ।	प्रायश्चित्त	१८४ । ११	अगत
७३ । २४	अपनी	११७ । १८	शङ्कर	१८४ । २८	कहा।
७३ । १८	वगडो	११८ । ८	शृंगारी	१८४ । २७	वात्सल्य
७८ ।	ब्रह्मनिरूपण	१२१ । १३	धर्म	१८४ । ३०	जाएगा।
७९ । ११	रूप	१२५ । ३०	उद्दण्डता	१८५ । २५	माध्यम
८२ । ७	असी	१२५ । ६	आश्रम	१८५ । १८	भगवत्परायणता
८३ । ८	स्पष्ट	१३४ । १७	पुरातन	१८६ । २०	कहिन